

## विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ० से तक
क.	प्रकाशकीय	
ख.	संकेत विवरण	
१.	अक्षमालिकोपनिषद्	९-१४
२.	अक्ष्युपनिषद्	१५-२०
३.	अद्वयतारकोपनिषद्	२१-२५
४.	कलिसंतरणोपनिषद्	२६-२७
५.	कालाग्निरुद्रोपनिषद्	२८-२९
६.	कृष्णोपनिषद्	३०-३३
७.	गणपत्युपनिषद्	३४-३६
८.	गरुडोपनिषद्	३७-४३
९.	गायत्री रहस्योपनिषद्	४४-४८
१०.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्	४९-५६
११.	चतुर्वेदोपनिषद्	५७-५८
१२.	चाक्षुषोपनिषद्	५९-६०
१३.	तुलस्युपनिषद्	६१-६३
१४.	त्रिपुरोपनिषद्	६४-६६
१५.	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्	६७-८२
१६.	दक्षिणामूर्त्युपनिषद्	८३-८६
१७.	देव्युपनिषद्	८७-९०
१८.	ध्यानबिन्दूपनिषद्	९१-१०२
१९.	नारायणोपनिषद्	१०३-१०४
२०.	नीलरुद्रोपनिषद्	१०५-१०७
२१.	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्	१०८-१२६
२२.	नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्	१२७-१२९
२३.	पाशुपत ब्राह्मणोपनिषद्	१३०-१३८
२४.	प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्	१३९-१४२

क्र०	विषय	पृ० से तक
२५.	बहवृचोपनिषद्	१४३-१४४
२६.	भावनोपनिषद्	१४५-१४७
२७.	महोपनिषद्	१४८-१९४
२८.	योगकुण्डल्युपनिषद्	१९५-२०९
२९.	योगचूडामण्युपनिषद्	२१०-२२२
३०.	योगराजोपनिषद्	२२३-२२४
३१.	राधोपनिषद्	२२५-२२६
३२.	रामपूर्वतापिन्युपनिषद्	२२७-२३६
३३.	रुद्रहृदयोपनिषद्	२३७-२४१
३४.	रुद्राक्षजाबालोपनिषद्	२४२-२४८
३५.	रुद्रोपनिषद्	२४९-२५०
३६.	लाङूलोपनिषद्	२५१-२५४
३७.	शरभोपनिषद्	२५५-२५९
३८.	सरस्वती रहस्योपनिषद्	२६०-२६७
३९.	सावित्र्युपनिषद्	२६८-२७०
४०.	सीतोपनिषद्	२७१-२७५
४१.	सूर्योपनिषद्	२७६-२७८
४२.	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्	२७९-२८६
ग.	परिशिष्ट	
	१. परिभाषाकोशा	२८७-३३०
	२. मन्त्रानुक्रमणिका	३३१-३५६
	३. रेखाचित्र	३५७-३६०

\* \* \* \* \*

## प्रकाशकीय

उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता परम पूज्य, बुगऋषि, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने अनुभव की। तदबुसार सन् १९६९ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार शक्ति त्वरुपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कठिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। पूर्व प्रकाशित ज्ञानखण्ड में बृहदारण्यकोपनिषद् सहित २४ उपनिषदें हैं, जबकि सर्व प्रथम प्रकाशन (१९६९) में बृहदारण्यक० को छोड़कर भी ३५ उपनिषदें थीं।

इस तीसरे 'साधनाखण्ड' में भी ब्रह्मविद्या खण्ड की तरह ४२ उपनिषदें हैं। इसमें भी उपनिषदों का क्रम अकारादि ही रखा गया है, इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया। अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं—१. मन्त्रों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अङ्गार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिद्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान, उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई', 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-जोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का वृत्तन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सज्जोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है, उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे, क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

# संकेत विवरण

अक्ष०	-	अक्षमालिकोपनिषद्	तै०ब्रा०	-	तैत्तिरीय ब्राह्मण	यो०चू०	-	योगचूडामण्युपनिषद्
अक्षि०	-	अक्ष्युपनिषद्	त्रिपुरा०	-	त्रिपुरोपनिषद्	यो०रा०	-	योगराजोपनिषद्
अथर्व०	-	अथर्ववेद	त्रिपुरातापि०-	-	त्रिपुरातापिन्युपनिषद्	यो०ह०	-	योगिनी हृदय
अद्वयता०	-	अद्वयतारकोपनिषद्	त्रि०ब्रा०	-	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्	यू०प०	-	यूपलक्षण परिशिष्ट
आरुणि०	-	आरुण्युपनिषद्	द०मू०	-	दक्षिणामूर्त्युपनिषद्	राधा०	-	राधोपनिषद्
आ०श्रौ०	-	आश्वलायन श्रौतसूत्र	दु०वृ०	-	दुर्गवृत्ति	रामपूर्व०	-	रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
उ०का०	-	उत्तरकाण्ड	दे०प०	-	देवयाज्ञिक पञ्चति	रुद्र०	-	रुद्रोपनिषद्
ऋ०	-	ऋग्वेद	देवी०	-	देव्युपनिषद्	रुद्र०जा०	-	रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
ऋ०सर्वा०	-	ऋग्वेद सर्वानुक्रमणिका	द्र०	-	द्रष्टव्य	रुद्रह०	-	रुद्रहृदयोपनिषद्
ऐ०आ०	-	ऐतरेय आरण्यक	द्वयो०	-	द्वयोपनिषद्	लाङ्गूल०	-	लाङ्गूलोपनिषद्
कपि०सं०	-	कपिष्ठलकठ संहिता	ध्या०बि०	-	ध्यानबिन्दूपनिषद्	वाच०	-	वाचस्पत्यम्
कलि०	-	कलिसंतरणोपनिषद्	नारा०	-	नारायणोपनिषद्	वि०चू०	-	विवेकचूडामणि
का०श्रौ०	-	कात्यायन श्रौतसूत्र	नि०	-	निरुक्त	वे०वि०	-	वेदान्त विमर्श
काला०रु०	-	कालाग्निरुद्रोपनिषद्	नी०रुद्र०	-	नीलरुद्रोपनिषद्	श०क०	-	शब्दकल्पद्रुम
कृष्ण०	-	कृष्णोपनिषद्	नृ०पूर्व०	-	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्	श०ब्रा०	-	शतपथ ब्राह्मण
कौ०ब्रा०	-	कौशीतकि ब्राह्मणोपनिषद्	नृ०षट्	-	नृसिंहषट्ढचक्रोपनिषद्	शरभ०	-	शरभोपनिषद्
क्र०	-	क्रमांक	पा०यो०प्र०	-	पातञ्जल योग प्रदीप	शां०श्रौ०	-	शांखायन श्रौतसूत्र
क्षुरिको०	-	क्षुरिकोपनिषद्	पा०ब्र०	-	पाशुपतब्रह्मोपनिषद्	शि०क०	-	शिवाङ्क-कल्याण
खं०	-	खण्ड	पू०का०	-	पूर्वकाण्ड	श्रा०त०	-	श्राद्धतत्त्व
गण०	-	गणपत्युपनिषद्	पृ०	-	पृष्ठ	श्वेता०	-	श्वेताश्वतरोपनिषद्
गरुड०	-	गरुडोपनिषद्	प्र०	-	प्रथम	संस्क०	-	संस्करण
गा०रह०	-	गायत्री रहस्योपनिषद्	प्रा०हो०	-	प्राणग्निहोत्रोपनिषद्	स०पा०	-	समाधि पाद
गी०	-	गीता	बह्व०	-	बह्वृचोपनिषद्	स०श्रौ०	-	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
गो०पू०	-	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्	ब्र०भा०	-	ब्रह्मयोगी भाष्य	सर०रह०	-	सरस्वती रहस्योपनिषद्
गो०सं०	-	गोरक्ष संहिता	ब्र०खं०	-	ब्रह्मविद्याखण्ड	सा०भा०	-	सायण भाष्य
घेर०सं०	-	घेरण्ड संहिता	ब्र०पु०	-	ब्रह्मण्ड पुराण	सा॒वि०	-	सावित्र्युपनिषद्
च०वे०	-	चतुर्वेदोपनिषद्	भा॒ग०	-	भागवत	सीता०	-	सीतोपनिषद्
चा०	-	चाक्षुषोपनिषद्	भा॒व०	-	भावनोपनिषद्	सौ॒ल०	-	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
जा०दर्शन०	-	जाबालदर्शनोपनिषद्	मं॒ब्रा०	-	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	सूर्य०	-	सूर्योपनिषद्
जैमि०ब्रा०	-	जैमिनीय ब्राह्मण	मनु०	-	मनुस्मृति	हठ०प्र०	-	हठयोगप्रदीपिका
टि०	-	टिप्पणी	म॒पु०	-	मत्स्यपुराण	हि॒वि॒को०-	-	हिन्दी विश्वकोश
तां०ब्रा०	-	ताण्ड्य ब्राह्मण	महो०	-	महोपनिषद्	हि॒श॒सा०	-	हिन्दी शब्द सागर
तुलसी०	-	तुलस्युपनिषद्	मुण्डक०	-	मुण्डकोपनिषद्	हौ॒प०	-	हौत्र परिशिष्ट
ते॒बि०	-	तेजविन्दूपनिषद्	यो॒कुं०	-	योगकुण्डल्युपनिषद्			

\* \* \* \* \*



## ॥ अक्षमालिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है, इसमें प्रजापति ब्रह्मा एवं कुमार कार्तिकेय (गुह) द्वारा प्रश्रोत्तर शैली में अक्षमाला में अकार, उकार आदि के प्रतिष्ठित होने का वर्णन किया गया है।

सर्वप्रथम 'अक्षमाला' के विषय में जिज्ञासा की गई है कि यह किन लक्षणों वाली है? इसके कितने भेद हैं? इसमें कितने सूत्र हैं? इसको गूँथा कैसे जाता है? इसमें कितने वर्ण प्रतिष्ठित हैं और उनके अधिष्ठाता देवता कौन-कौन हैं? तदुपरान्त अक्षमाला का लक्षण, अक्षमाला में ब्रह्मा आदि की भावना, अक्षमाला के शोधन की प्रक्रिया, एक-एक अक्ष का एक-एक मन्त्र से संयोजन; देवता, मन्त्र, विद्या एवं तत्त्व की सन्निधि पाने के लिए जप करना, अक्षमाला में ही सब कुछ समाया है-ऐसी (सर्वात्मकत्व) भावना करना, अक्षमाला की सुति तथा अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति का विवेचन किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

**ॐ वाऽमे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एथि । वेदस्य म आणीस्थः  
श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु  
तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥**

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋतु और सत्य बोलूँगा। ब्रह्मा मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविधं ताप शान्त हों।

अथ प्रजापतिर्गुंहं पप्रच्छ भो ब्रह्मवक्षमालाभेदविधिं ब्रूहीति । सा किं लक्षणा कति भेदा अस्याः कति सूत्राणि कथं घटनाप्रकारः के वर्णाः का प्रतिष्ठा कैवास्याधिदेवता किं फलं चेति ॥ १ ॥

किसी समय प्रजापति ने भगवान् गुह (कार्तिकेय) से प्रश्न किया- 'हे भगवन्! आप कृपा करके अक्षमाला की भेद-विधि बताने का अनुग्रह करें। उसका लक्षण क्या है? कितने भेद हैं? इसके सूत्र कितने हैं? घटना प्रकार (पिरोने के प्रकार) कैसे हैं? कौन से अक्षर हैं? क्या प्रतिष्ठा है? इसका कौन अधिदेवता है? और इसका क्या फल है?' ॥ १ ॥

तं गुहः प्रत्युवाच प्रवालमौक्तिकस्फटिकशङ्खरजताष्टापदचन्दनपुत्रजीविकाङ्गे रुद्राक्षा इति । आदिक्षान्तमूर्तिः सावधानभावा । सौवर्णं राजतं ताप्तं चेति सूत्रत्रयम् । तद्विवरे सौवर्णं तद्वक्षपाश्चं राजतं तद्वामे ताप्तं तन्मुखे मुखं तत्पुच्छे पुच्छं तदन्तरावर्तनक्रमेण योजयेत् ॥ २ ॥

भगवान् गुह ने उत्तर देते हुए कहा- 'हे ब्रह्मन्! यह (अक्षमाला) प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, चाँदी, स्वर्ण, चन्दन, पुत्रजीविका, कमल एवं रुद्राक्ष ये दस प्रकार की होती हैं'। ये 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों

से युक्त विधिपूर्वक धारण की जाती हैं। सुवर्ण, चाँदी और ताँबा निमित्त तोन सूत्र हात ह। इसमें स्वयं सामने (मनकों के) मुख विवर (छिद्र) में, दाहिने भाग में चाँदी तथा बायें हिस्से में ताँबा, उसके मुख में मुख एवं पूँछ के साथ पूँछ क्रम से नियोजित करना चाहिए ॥ २ ॥

यदस्यान्तरं सूत्रं तद्विष्ट । यदक्षपार्श्वं तच्छैवम् । यद्वामे तद्वैष्णवम् । यन्मुखं सा सरस्वती ।  
यत्पुच्छं सा गायत्री । यत्सुषिरं सा विद्या । या ग्रथिः सा प्रकृतिः । ये स्वरास्ते ध्वलाः । ये  
स्पर्शास्ते पीताः । ये परास्ते रक्ताः ॥ ३ ॥

जो उसके अन्दर का सूत्र है, वही ब्रह्म है। जो दाहिने भाग में है, वही शैव है। जो बायें हिस्से में है, वही वैष्णव है। जो मुख है, वही सरस्वती है। जो पूँछ है, वही गायत्री है। जो छिद्र है, वही विद्या है। जो गाँठ है, वही प्रकृति है। जो स्वर हैं, वही सात्त्विक होने के कारण ध्वल अर्थात् शुभ्र-श्वेत हैं और जो स्पर्श (व्यज्जन) हैं, वही (सत्त्व एवं तम मिश्रित होने के कारण) पीत हैं तथा जो परा (अर्थात् तम एवं सत के अतिरिक्त) हैं, वे (राजस के कारण) रक्त वर्ण युक्त हैं ॥ ३ ॥

अथ तां पञ्चभिर्गव्यैरमृतैः पञ्चभिर्गव्यैस्तनुभिः शोधयित्वा पञ्चभिर्गव्यैर्गन्धोदकेन संस्नाप्य तस्मात्सोङ्करेण पत्रकूर्चेन स्नपयित्वा षष्ठिभिर्गन्धैरालिप्य सुमनःस्थले निवेश्याक्ष-तपुष्पैराराध्य प्रत्यक्षमादिक्षान्तैर्वर्णं र्भावयेत् ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर उसे (नन्दा आदि) पाँच गौओं के दूध से तथा पंचगव्य (गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत) से शोधित करके पुनः पञ्चगव्य (नन्दादि पाँच गौओं के दही-मात्र से) एवं गंध मिश्रित जल से भली प्रकार स्थान करवाकर ३० कार का उच्चारण करते हुए पत्र कूर्च (पत्तों की कूची) द्वारा जल छिड़क करके (मन्त्र शास्त्र में प्रख्यात तक्कोल, उशीर, कर्पूर आदि) अष्टगंधों से लेपन करके 'मणशिला' नामक धातु पर प्रतिष्ठित कर अक्षत-पूष्पों से पूजन करे। प्रत्येक अक्ष (मनके) को 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों द्वारा क्रमशः भावित करे ॥ ४ ॥

ओमंकार मृत्युंजय सर्वव्यापक प्रथमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमाङ्गाराकर्षणात्मक सर्वगत द्वितीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमिङ्गार पुष्टिदाक्षोभकर तृतीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमीङ्गार वाकप्रसादकर निर्मल चतुर्थेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्गार सर्वबलप्रद सारतर पञ्चमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्गारोच्चा-टनकर दुःसह षष्ठेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्गार संक्षोभकर चञ्चल सप्तमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्गार संमोहनकरोऽचलाष्टमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमळङ्गार विद्वेषणकर मोहक नवमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लूंकार मोहकर दशमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमेङ्गार सर्ववश्यकर शुद्धसत्त्वैकादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमैङ्गार शुद्धसात्त्विक पुरुषवश्यकर द्वादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमोङ्गाराखिलवाइमय नित्यशुद्ध त्रयोदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमौङ्गार सर्ववाइमय वश्यकर शान्त चतुर्दशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्गार गजादिवश्यकर मोहन पञ्चदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमःकार मृत्यनाशनकर रौद्र षोडशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ कंकार सर्वविषहर कल्याणप्रद सप्तदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ खंकार सर्वक्षोभकर व्यापकाष्टादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ गंकार सर्वविघ्नशमन महत्तरैकोनविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ ॐ घंकार सौभाग्यप्रद स्तम्भनकर विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ डंकार सर्वविषनाशकरोगैकविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ चङ्गाराभिचारघ्न क्रूर द्वाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ छंकार भूतनाशकर भीषण त्रयोविंशेऽक्षे

प्रतितिष्ठ । ॐ जङ्गार कृत्यादिनाशकर दुर्धर्ष चतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ इंकार भूतनाशकर पञ्चविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ जंकार मृत्युप्रमथन षष्ठिविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ टंकार सर्वव्याधिहर सुभग सप्तविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ ठंकार चन्द्ररूपाष्टाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ डङ्कार गरुडात्मक विषघ्न शोभनैकोनत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ ढंकार सर्वसंपत्प्रद सुभग त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ तंकार धनधान्यादिसंपत्प्रद प्रसन्न द्वात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ थङ्कार धर्मप्राप्तिकर निर्मल त्रयस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ दङ्कार पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन चतुस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ धङ्कार विषज्वरनिघ्न विपुल पञ्चत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ नङ्कार भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त षट्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ पङ्कार विषविघ्ननाशन भव्य सप्तत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ फङ्काराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ बंकार सर्वदोषहर शोभनैकोनचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ भंकार भूतप्रशान्तिकर भयानक चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ मंकार विद्वेषिमोहनकरैकचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ यङ्कार सर्वव्यापक पावन द्विचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ रंकार दाहकर विकृत त्रिचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ लंकार विश्वंभर भासुर चतुश्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ शंकार सर्वफलप्रद पवित्र षट्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ षंकार धर्मार्थकामद धवल सप्तचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ संकार सर्वकारण सार्ववर्णिकाष्टचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ हंकार सर्ववाङ्मय निर्मलैकोनपञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ ळङ्कार सर्वशक्तिप्रद प्रधान पञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ । ॐ क्षंकार परापरतत्त्वज्ञापक परंज्योतीरूप शिखामणौ प्रतितिष्ठ ॥ ५ ॥

हे अकार ! तुम मृत्यु को जीतने वाले हो, सर्वव्यापी इस प्रथम अक्ष (मनके) में स्थित हो जाओ । हे आकार ! तुम आकर्षण शक्ति से ओत-प्रोत सर्वत्र संव्यास हो, इस द्वितीय अक्ष में प्रविष्ट हो जाओ । हे इकार ! तुम पुष्टि-प्रदाता हो तथा क्षोभरहित हो, तीसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे ईकार ! तुम वाणी को प्राज्जलता प्रदान करने वाले हो तथा निर्मल हो, इस चौथे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे उकार ! तुम सभी को सभी तरह से बल-प्रदाता हो एवं सारयुक्तों में सर्वश्रेष्ठ हो, पाँचवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे ऊकार ! तुम उच्चारण करने वाले तथा दुस्सह अर्थात् न सहे जा सकने वाले हो, इस छठे अक्ष में स्थित हो जाओ । हे ऋकार ! तुम संक्षेभ अर्थात् चल-चित्तता को करने वाले एवं चंचल हो, इस सातवें अक्ष में स्थित हो जाओ । हे ऋकार ! तुम सम्मोहित करने वाले एवं उज्ज्वल हो, इस आठवें अक्ष में स्थित हो जाओ । हे लृकार ! तुम विद्वेष को प्रकट कर देने वाले एवं सभी कुछ जानने वाले अत्यन्त गोपनीय हो, इस नौवें अक्ष में स्थित हो जाओ । हे लृकार ! तुम मोहकारी हो, इस दसवें अक्ष में स्थित हो जाओ । हे एकार ! तुम सभी को वश में करने वाले तथा शुद्ध सत्य हो, इस ग्यारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे ऐकार ! तुम शुद्ध एवं सात्त्विक हो तथा पुरुषों को अपने वश में करने वाले हो, इस बारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे ओकार ! तुम भी अक्षर समूह रूप सभी को वश में करने वाले तथा शान्त स्वरूप हो, इस चौदहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे अंकार ! तुम हाथी आदि को अपने वश में करने वाले एवं मोहित करने वाले हो, इस पन्द्रहवें अक्ष में स्थित हो जाओ । हे अःकार ! तुम मृत्यु विनाशक एवं रौद्र

(अति भयानक) हो, इस सोलहवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ककार! तुम सम्पूर्ण विषों को विनष्ट करने वाले एवं कल्याण-प्रदाता हो, इस सत्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे खकार! तुम सभी को क्षुभित करने वाले एवं सर्वत्र व्याप्त रहते हो, इस अट्ठाहवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे गकार! तुम सभी विघ्नों को शांत करने वाले एवं बड़ों में भी अति विशाल हो, इस उत्तीर्णवें अक्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। हे घकार! तुम सौभाग्य-प्रदाता और स्तम्भन गति को अवरुद्ध करने वाले कर्ता हो, इस बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। हे डंकार! तुम सभी विषयों के विनाशक एवं उग्र भयानक हो, इस इक्कीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे चकार! तुम अधिचार नाशक तथा अत्यन्त क्रूर हो, इस बाइसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे छकार! तुम भूत विनाशक एवं भयानक हो, इस तेर्इसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे जकार! तुम कृत्या आदि (डाकिनी आदि) के नाशक एवं दुर्धर्ष हो, इस चौबीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे झकार! तुम भूत नाशक हो, इस पच्चीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे झकार! तुम मृत्यु को मधित कर देने वाले हो, इस छब्बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे टकार! तुम समस्त रोगों के विनाशक एवं सुन्दर हो, इस सत्ताइसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ठकार! तुम चन्द्र स्वरूप हो, इस अट्ठाइसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे डकार! तुम गरुड़ के सदृश विष नाशक तथा सुन्दर हो, इस उत्तीर्णवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ढकार! तुम समस्त प्रकार के सम्पत्ति प्रदाता एवं सौम्य-शालीन हो, इस तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे णकार! तुम सभी सिद्धियों के प्रदाता एवं मोहित (मोहयुक्त) करने वाले हो, इस इकतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे तकार! तुम धन एवं धान्य आदि सम्पत्तियों के देने वाले एवं सदैव प्रसन्नमय हो, इस बत्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे थकार! तुम धर्म की प्राप्ति कराने वाले एवं निर्मल हो, इस तैतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे दकार! तुम पुष्टिकर्ता एवं वृद्धिकर्ता हो, सुन्दर दृष्टिगोचर होने वाले हो, इस चौतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे धकार! तुम विष एवं ज्वर विनाशक हो तथा बहुत विशाल भी हो, इस पैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे नकार! तुम भोग, मोक्ष-प्रदाता एवं शान्तरूप हो, इस छत्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे पकार! तुम विष और विघ्नों के नाशक एवं कल्याणकारी हो, इस सैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे फकार! तुम अणिमा, महिमा एवं गरिमा आदि अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न एवं प्रकाशमय हो, इस अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे बकार! तुम समस्त दोषों के हरणकर्ता एवं सौंदर्यमय हो, इस उन्तालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे भकार! तुम भूत-बाधा का शमन करने वाले एवं भयानक हो, इस चालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे मकार! तुम विद्वेष करने वाले को संमोहित कर लेने वाले अथवा विद्वेषी और मोह करने वाले हो, इस इकतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे यकार! तुम सर्वत्र संव्याप्त एवं परम पवित्र हो, इस बयालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे रकार! तुम दाह (जलन, तपन) उत्पन्न करने वाले एवं विकृत हो, इस तैतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे लकार! तुम विश्व का पोषण करने वाले एवं तेजस्वी हो, इस चौबालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे वकार! तुम सबको तृप्त (पुष्ट) करने वाले एवं निर्मल हो, पैतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे शकार! तुम सभी तरह के फलों को देने वाले एवं पवित्र हो, इस छियालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे षकार! तुम धर्म, अर्थ एवं काम को देने वाले तथा श्वेत-शुभ्र हो, इस सैंतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे सकार! तुम समस्त वस्तुओं के कारण तथा सभी वर्णों से सम्बन्धित हो, इस अड़तालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे हकार! तुम समस्त वाङ्मय (समस्त अक्षरों या साहित्य) के स्वरूप वाले एवं निर्मल हो, इस उनचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ळकार! तुम सम्पूर्ण शक्तियों के प्रदाता एवं प्रधान हो, इस पचासवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे क्षकार! तुम परात्पर तत्त्व को बतलाने वाले एवं परम ज्योति स्वरूप हो, इस शिखामणि में मेरुमाला या प्रधान मनका के प्रतिनिधि के रूप में स्थित हो जाओ॥ ५॥

अथोवाच ये देवा: पृथिवीषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् बोले—‘जो देवता पृथिवी में विचरण करने वाले हैं, उन्हें हम प्रणाम करते हैं’। हे भगवन्! मेरे द्वारा इस माला को स्वीकार करने का समर्थन करें। इसकी शोभा (प्रतिष्ठा) हेतु पितृगण अनुमोदन करें। इस ज्ञानरूपा अक्षमालिका को प्राप्त कर (अग्रिष्ठात् आदि) पितर अनुमोदन करें ॥ ६ ॥

अथोवाच ये देवा अन्तरिक्षसदस्तेभ्य ॐ नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥ ७ ॥

इसके उपरान्त वे पुनः बोले—जो देवता अन्तरिक्ष में निवास करने वाले हैं, उन्हें नमन-वंदन है। वे भगवान् पितरों के साथ इस ज्ञानमयी माला में प्रतिष्ठित हों, इसकी शोभा के लिए अनुमोदन करें ॥ ७ ॥

अथोवाच ये देवा दिविषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् पुनः बोले—जो देवता स्वर्ग में निवास करने वाले हैं, वे ज्ञानस्वरूपिणी अक्षमालिका में स्थित हों, वरप्रदाता बनकर पितरों के सहित इसकी शोभा हेतु अनुमोदन करें ॥ ८ ॥

अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोन्नमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् पुनः बोले—इस लोक में (सात करोड़ के लगभग) जो मंत्र हैं और जो (चौंसठ कला स्वरूप) विद्याएँ हैं, उन्हें नमस्कार है। उनकी शक्तियाँ इसमें प्रतिष्ठित हों ॥ ९ ॥

अथोवाच ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेभ्यः सगुणेभ्य ॐ नमस्तद्वीर्यमस्याः प्रतिष्ठापयति ॥ १० ॥

इसके बाद पुनः बोले—जो ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र हैं, उन्हें बारम्बार नमन-वंदन है, उनके पराक्रम को नमस्कार है, उनका वीर्य (पराक्रम-पुरुषार्थ) इसमें स्थित हो ॥ १० ॥

अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वभेदास्तेभ्यो नमो वर्तधं विरोधेनिवर्तधम् ॥ ११ ॥

पुनः बोले—जो सांख्यादिक (दर्शनों में छियानवे) तत्त्व हैं, उन्हें नमस्कार है, (आप लोग) वृद्धि प्रदान करें, विरोध (की स्थिति) दूर करें ॥ ११ ॥

अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः शक्ताः शतसहस्रशास्तेभ्यो नमो नमो भगवन्तोऽनुम-दन्त्वनुगृह्णन्तु ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् पुनः बोले—जो शैव, वैष्णव एवं शाक सैकड़ों एवं सहस्रों की संख्या में निवास करते हैं, उन्हें नमस्कार है, वे सभी भगवान् (शक्तिशाली) हम सभी पर कृपा करें, अनुमोदन करें ॥ १२ ॥

अथोवाच याश्र मृत्योः प्राणवत्यस्ताभ्यो नमो नमस्तेनैतां मृडयत मृडयत ॥ १३ ॥

अन्त में इस प्रकार बोले—मृत्यु की जो उपजीव्य (आश्रित) शक्तियाँ हैं, उन्हें नमस्कार है, आप सभी लोग इस नमन-वंदन से, स्तुति से प्रसन्न हों। इस अक्षमालिका द्वारा अपने उपासकों को सुख-प्रदान करें ॥ १३ ॥

पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं भावयित्वा भावेन पूर्वमालिकामुत्पाद्यारभ्य तन्मयीं महोपहारैरुपहृत्य आदिक्षान्तैरक्षमालामष्टोत्तरशतं स्पृशेत् ॥ १४ ॥

पुनः इस मालिका में सर्वात्मिकता (सर्वविधि पूर्णता) की भावना करते हुए इसी भावना में पूर्व मालिका (आधी माला) को पिरोकर पुनः आधी पचास मनकों में उसी प्रकार आवृत्ति करके १०० की संख्या पूर्ण करे। पुनः शेष आठ मनकों में ‘अ, क, च, ट, त, प, य, श’— इस अष्टवर्ग को पूर्वोक्त क्रम से नियोजित करे। तब मनकों

की संख्या एक सौ आठ हो जाती है। (मेरु में तो वही पूर्वोक्त 'क्ष' ही रहेगा। इस तरह से मालिका की योजना एक-एक पिरोकर पूर्ण करे) ॥ १४ ॥

अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणीकृत्यो नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले सर्ववशंकर्यो नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमालिके शेषस्तम्भन्यो नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले उच्चाटन्यो नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले विश्वामृत्यो मृत्युंजयस्वरूपिणि सकलोदीपिनि सकललोकरक्षाधिके सकललोकोज्जीविके सकललोकोत्पादिके दिवाप्रवर्तिके रात्रिप्रवर्तिके नद्यन्तरं यासि देशान्तरं यासि द्वीपान्तरं यासि लोकान्तरं यासि सर्वदा स्फुरसि सर्वहृदि वासयसि। नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे सर्वतत्त्वात्मिके सर्वविद्यात्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वसिष्ठेन मुनिनाराधिते विश्वामित्रेण मुनिनोपजीव्यमाने नमस्ते नमस्ते ॥ १५ ॥

अक्षमालिका की स्तुति करने के पश्चात् (उसे) उठाकर प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करके (पुनः हाथ जोड़कर प्रार्थना करे), हे भगवती मन्त्रमातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी को अपने वश में करने वाली हो, तुमको नमन-वन्दन है। हे मन्त्र मातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी की गति स्तम्भित करने वाली, उच्चाटन अर्थात् विक्षिप्ता, करने वाली हो, तुम्हें प्रणाम है। हे मन्त्रमातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी की मृत्यु स्वरूप एवं मृत्युञ्जय स्वरूपिणी हो तथा तुम सबको उद्दीप करने वाली हो। इसके साथ ही तुम समस्त लोकों की रक्षा करने वाली, सम्पूर्ण विश्व की प्राणदात्री, सभी कुछ उत्पन्न करने वाली, दिन तथा रात्रि की प्रवर्तक एवं नदियों से दूसरी नदियों, समस्त देश, द्वीपों, लोक में संचरण करने की शक्ति रखने वाली हो, समस्त स्थलों में तुम विराजमान हो एवं हृदय में स्फुरण के रूप में सतत प्रकाशित होने वाली, सभी प्राणियों के हृदयों में निवास करती हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी आदि जो वाणियाँ हैं, तुम उन्हीं का स्वरूप हो। समस्त तत्त्व-रूपों को धारण करने वाली, सर्वविद्या, सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री, समस्त देवगणों की आराध्या हो। तुम वसिष्ठ मुनि के द्वारा वन्दित एवं विश्वामित्र मुनि के द्वारा उपसेव्यमान अर्थात् सेवा-शुश्रूषा किए जाने वाली हो, तुमको बारम्बार नमस्कार-प्रणाम है ॥ १५ ॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। एवमक्षमालिकया जसो मन्त्रः सद्यः सिद्धिकरो भवतीत्याह भगवान्गुहः प्रजापतिमित्युपनिषद् ॥ १६ ॥

इस उपनिषद् का प्रातःकाल के समय में पाठ करने वाला मनुष्य रात्रि में किये गये पाप-कृत्यों से मुक्त हो जाता है और सायंकाल के समय में इसका पाठ करने वाला मनुष्य दिन में किये गये पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य सायं-प्रातः दोनों संध्याओं में निरन्तर इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह बहुत बड़ा पाप-कृत्य करने वाला हो, तो भी पाप-मुक्त हो जाता है। भगवान् गुह ने प्रजापति से अन्त में यही कहा कि इस प्रकार से अभिमन्त्रित-पूजित अक्षमाला के द्वारा जप किया हुआ मन्त्र शीघ्रतिशीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला होता है ॥ १६ ॥

ॐ वाङ् मे मनसि ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति अक्षमालिकोपनिषत्समाप्ता ॥



- सत्तत जागृति-  
- मूर्छा का त्याग

## ॥ अक्ष्युपनिषद् ॥

३०

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें महर्षि सांकृति एवं आदित्य के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से चाक्षुष्मती विद्या एवं योगविद्या पर प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् दो खण्डों में प्रविभक्त है।

प्रथम खण्ड में चाक्षुष्मती विद्या का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या का स्वरूप वर्णित है, तदुपरान्त ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए योग की विविध भूमिकाओं का क्रमशः विवेचन किया गया है। योग की कुल सात भूमिकाएँ हैं, जिनके माध्यम से साधक योग विद्या के क्षेत्र में क्रमिक उन्नति करता हुआ आगे बढ़ता है। सातवीं भूमिका में पहुँचने पर वह ब्रह्म साक्षात्कार की स्थिति में पहुँच जाता है। अन्त में ओंकार ब्रह्म के विषय में वह विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसको जानकर और उस विधि से साधना करके व्यक्ति ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। अपने को परम आनन्दमय-प्रज्ञानघन आनन्द की स्थिति में पाता हुआ- मैं ब्रह्म हूँ- ऐसी अनुभूति करने लगता है। यही उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! (हमारे) त्रिविधि (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ ह सांकृतिर्भगवानादित्यलोकं जगाम । तमादित्यं नत्वा चाक्षुष्मतीविद्यया तमस्तुवत् ॥  
ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः । ॐ खेचराय नमः । ॐ महासेनाय नमः । ॐ तमसे नमः । ॐ रजसे नमः । ॐ सत्त्वाय नमः । ॐ असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।  
मृत्योर्माऽमृतं गमय । हंसो भगवाञ्छुचिस्तुः प्रतिस्तुः । विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं  
ज्योतीरूपं तपन्तम् । सहस्रशिमः शतधा वर्तमानः पुरुषः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । ॐ नमो  
भगवते श्रीसूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोऽवाहिनि वाहिनि स्वाहेति । एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः  
श्रीसूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीच्चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति ।  
न तस्य कुलेऽन्यो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वाथ विद्यासिद्धिर्भवति । य एवं वेद स  
महान्भवति ॥ १ ॥

एक समय की कथा है कि भगवान् सांकृति आदित्य लोक गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भगवान् सूर्य को नमस्कार कर चाक्षुष्मती विद्या द्वारा उनकी अर्चना की—नेत्रेन्द्रिय के प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्य को नमस्कार है। आकाश में विचरणशील सूर्यदेव को नमस्कार है। हजारों किरणों की विशाल सेना रखने वाले महासेन को नमस्कार है। तमोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। रजोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। सत्त्वगुणरूप नमस्कार है। तमोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। हमें असत् से सत्पथ की ओर ले चलें। हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें। हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलें। भगवान् भास्कर पवित्ररूप और प्रतिरूप (प्रतिबिम्ब प्रकटकर्ता) हैं। अखिल विश्व के रूपों के धारणकर्ता, किरण समूहों से सुशोभित, जातवेदा (सर्वज्ञाता), सोने के समान प्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप तथा तापसम्पन्न भगवान् भास्कर को हम स्मरण करते हैं। ये हजारों रश्मिसमूह वाले, सैकड़ों रूपों में विद्यमान सूर्यदेव सभी प्राणियों के समक्ष प्रकट हो रहे हैं। हमारे चक्षुओं के प्रकाशरूप अदितिपुत्र भगवान् सूर्य को प्रणाम है। दिन के वाहक, विश्व के वहनकर्ता सूर्यदेव के लिए हमारा सर्वस्व समर्पित है। इस चाक्षुष्मती विद्या से अर्चना किये जाने पर भगवान् सूर्यदेव अति हर्षित हुए और कहने लगे—जिस ब्राह्मण द्वारा इस चाक्षुष्मती विद्या का पाठ प्रतिदिन किया जाता है, उसे नेत्रोग नहीं होते और न उसके बंश में कोई अंधत्व को प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणों को इस विद्या का ज्ञान करा देने पर इस विद्या की सिद्धि होती है। इस प्रकार का ज्ञाता महानता को प्राप्त करता है॥ १॥

[ सूर्यदेव को प्रतिरूप और विश्वरूप कहा गया है। विज्ञान के अनुसार हम जो कुछ भी देखते हैं, उसका रूप उसके द्वारा किए जा रहे प्रकाश के परावर्तन (रिफ्लैक्शन) के कारण ही है। इसलिए उन्हें प्रतिरूप कहा जाता है। दिन में सूर्य के प्रकाश में हम जो भी रूप देखते हैं, वे सब प्रकारान्तर से सूर्य के प्रकाश के ही विविध रूप हैं। इसलिए सूर्य को विश्वरूप कहा गया है। ]

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ ह सांकृतिरादित्यं पप्रच्छ भगवन्ब्रह्मविद्यां मे ब्रूहीति । तमादित्यो होवाच । सांकृते शृणु वक्ष्यामि तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम् । येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ १ ॥

उसके बाद सांकृति ऋषि ने भगवान् सूर्य से कहा—भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। आदित्य देव ने उनसे कहा—सांकृते ! आपसे अतिदुर्लभ तत्त्वज्ञान का विवेचन मैं करने जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनें, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप जीवन्मुक्त हो जाएँगे॥ १॥

सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम् । पश्यन्भूतार्थचिद्रूपं शान्त आस्व यथासुखम् ॥ २ ॥  
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् । योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाथ मा कुरु ॥ ३ ॥

आप समस्त प्राणिमात्र को एक, अजन्मा, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वज्ञान से चैतन्यरूप देखते हुए शान्ति और सुखपूर्वक रहें। अवेदन अर्थात् आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का आभास न हो—इसी का नाम योग है, यही यथार्थ चित्तक्षय है। इसलिए योग में स्थित होकर कर्तव्य कर्मों का निर्वाह करें, कर्म करते हुए नीरसता-विरक्तता न आने पाए॥ २-३॥

विरागमुपयात्यन्तर्वासनास्वनुवासरम् । क्रियासूदारस्त्वपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ४ ॥  
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सते । नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ ५ ॥

(अवेदन-योग की पहली भूमिका इस प्रकार है—) योग की ओर प्रवृत्त होने पर अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है। साधक नित्य ही परमार्थ कर्मों को करता हुआ हर्ष का अनुभव करता है। जड़ मनुष्यों की अश्रील भोग प्रवृत्तियों (ग्राम्य चेष्टाओं) से वह हमेशा जुगुप्सा (घृणा)

करता है। किसी के गुप्त रहस्य प्रसंग को अन्यों के समक्ष नहीं कहता, अपितु वह पुण्य कृत्यों में ही हमेशा संलग्न रहता है ॥ ४-५ ॥

**अनन्योद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते । पापाद्विभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ ६ ॥**  
**स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च । देशकालोपपत्रानि वचनान्यभिभाषते ॥ ७ ॥**

जिन कृत्यों से किसी प्राणी को उत्तेजित न होना पड़े, ऐसे दया और उदारतापूर्ण सौम्य कर्मों को वह करता है। वह पाप से भयभीत रहता और भोग साधनों की अभिलाषा नहीं करता। वह ऐसी वाणी का प्रयोग करता है, जिसमें सहज स्नेह और प्रेम का प्राकट्य हो तथा जो मृदुल और औचित्यपूर्ण होने के साथ-साथ देश, काल, पात्र के अनुकूल हो ॥ ६-७ ॥

**मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते । यतःकुतश्चिदानीय नित्यं शास्त्राण्यवेक्षते ॥ ८ ॥**

मन से, वचन से और कर्म से श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग करते हुए जहाँ कहीं से भी प्राप्त हो सके, प्रतिदिन सदग्रन्थों का अध्ययन करता है ॥ ८ ॥

**तदासौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् । एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति ॥ ९ ॥**

**स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः । विचारनामीमितरामागतो योगभूमिकाम् ॥ १० ॥**

इस स्थिति में ही वह प्रथम भूमिका वाला कहलाता है। भवसागर से उस पार जाने की जो अभिलाषा करता है, वही इस प्रकार के विचार को प्राथमिकता देता है। वह भूमिकावान् कहा जाता है और शेष 'आर्य' (दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ) कहे जाते हैं। जो योग की दूसरी विचार भूमिका से युक्त हैं, (उनके लक्षण इस प्रकार से हैं-) ॥ ९-१० ॥

**श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणः । मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयति श्रेष्ठपणिडतान् ॥ ११ ॥**

वह ऐसे ख्यातिलब्ध श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान की उत्तम व्याख्या के लिए अधिक चर्चित हैं ॥ ११ ॥

**पदार्थप्रविभागज्ञः कार्यकार्यविनिर्णयम् । जानात्यधिगतश्चान्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १२ ॥**

**मदाभिमानमात्सर्यलोभमोहातिशायिताम् । बहिरप्यस्थितामीषत्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ १३ ॥**

**इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवया । सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १४ ॥**

वह पदार्थों के विभाग और पद को उचित रीति से जानता है तथा श्रवण करने योग्य सत्शास्त्रों में पारंगत हो जाने पर कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कुशल हो जाता है। मद, अहंकार, मात्सर्य, लोभ और मोहादि की अधिकता उसके चित्त को डाँवाडोल नहीं करती, बाह्य आचरण में यत्किंचित् यदि उसकी स्थिति रहती है, तो उसका भी उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। इस प्रकार का सद्ज्ञान सम्पन्न साधक शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग द्वारा रहस्यपूर्ण गूढ़ज्ञान को भी प्रयत्नपूर्वक स्वाभाविक रूप में हस्तगत कर लेता है ॥ १२-१४ ॥

**असंसर्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् । ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशस्यामिवामलाम् ॥ १५ ॥**

**यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम् । तापसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्र मैः ॥ १६ ॥**

**शिलाशस्याऽसनासीनो जरयत्यायुराततम् । वनावनिविहारेण चित्तोपशमशोभिना ॥ १७ ॥**

**असङ्गमुखसौख्येन कालं नयति नीतिमान् । अभ्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ॥**

**जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति । तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुद्धोऽनुभवति स्वयम् ॥ १९ ॥**

इसके पश्चात् वह योग की असंसर्गनाम्री तीसरी भूमिका में प्रवेश करता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे कोई सुन्दर मनुष्य साफ-सुधरे फूलों के बिछौने पर अवस्थित होता है। शास्त्रं जैसा अभिमत् व्यक्त करते हैं, उसमें अपनी स्थिर मति को संयुक्त करके, तपस्त्रियों के आश्रम में वास करता हुआ अध्यात्मं शास्त्रं की चर्चा करते हुए (कष्टकर) पाषाण-शश्या पर आरूढ़ होते हुए ही वह सम्पूर्ण आयु बिता देता है। वह नीति पुरुष चित्त को शान्ति पहुँचाने वाले अधिक शोभाप्रद वन भूमि के विहार द्वारा विषयोपभोग से विरत होकर स्वाभाविक रूप में उपलब्ध सुख-साधनों को भोगता हुआ अपना जीवनयापन करता है। सद्ग्रन्थों के अध्यास और पुण्य कर्मों के क्रिये जाने से प्राणी की वास्तविक पर्यवेक्षण दृष्टि पवित्र होती है। इस तृतीय भूमिका को प्राप्त करके साधक स्वयमेव ज्ञानवान् होकर इस स्थिति का अनुभव करता है॥ १५-१९॥

द्विप्रकारमसंसर्गं तस्य भेदमिमं शृणु । द्विविधोऽयमसंसर्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ॥ २० ॥  
नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः । इत्यसंजनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ॥ २१ ॥  
प्राकर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा । सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता ॥ २२ ॥  
भोगाभोगा महारोगाः संपदः परमापदः । वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयोऽधियाम् ॥ २३ ॥  
कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् । अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् । वाक्यार्थल-  
ब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ २४ ॥

असंसर्ग—सामान्य और श्रेष्ठ भेद से दो तरह का है। (उनके इस प्रकार के भेदों पर अब प्रकाश डालते हैं—) मैं न तो कर्ता, न भोक्ता, न बाध्य और न बाधक ही हूँ— इस प्रकार से विषयोपभोग में आसक्ति से रहित होने की भावना ही सामान्य असंसर्ग कहलाती है। सब कुछ पूर्वजन्म कृत कर्मों का प्रतिफल है या सब कुछ परमात्मा के अधीन है—ऐसी मान्यता रखना, सुख हो या दुःख इसमें मेरे क्रिये गये कार्यों का अस्तित्व ही क्या है? भोगसाधनों का अतिसंग्रह महारोगरूप है और समस्त वैभव परम आपत्तियों के स्वरूप हैं। सभी संयोगों की अन्तिम परिणति वियोग के रूप में है। मानसिक चिन्ताएँ अज्ञानग्रस्तों के लिए व्याधिरूप हैं। सभी क्षणभंगुर पदार्थ अनित्य हैं, सभी को काल-कराल अपना ग्रास बनाने में संलग्न है। (शास्त्रवचनों को जान लेने से उत्पन्न) अनास्था से मन में उनके अभाव की भावना को पैदा करता है, यह सामान्य असंसर्ग कहलाता है॥ २०-२४॥  
अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् । नाहं कर्तैश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥ २५ ॥  
कृत्वा दूरते नूनमिति शब्दार्थभावनम् । यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्गं उच्यते ॥ २६ ॥

इस प्रकार महान् पुरुषों के निरन्तर सत्संग से जो यह कहे कि मैं कर्ता नहीं, ईश्वर ही कर्ता है या मेरे पूर्व जन्म में किए गये कर्म ही कर्ता हैं। इस प्रकार से समस्त चिन्ताओं और शब्द-अर्थ के भाव को विसर्जित कर देने के पश्चात् जो मौन (मन-इन्द्रियों का संयम), आसन (आन्तरिक अवस्था) और शान्त भाव (बाहरी भावों के विस्मरण) की प्राप्ति होती है, वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहा जाता है॥ २५-२६॥

संतोषामोदमधुरा प्रथमोदेति भूमिका । भूमिप्रोदितमात्रोऽन्तरमृताङ्किकेव सा ॥ २७ ॥  
एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः । द्वितीयां च तृतीयां च भूमिकां प्राप्युत्ततः ॥ २८ ॥  
श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा तृतीया भूमिकात्र हि । भवति प्रोद्धिताशेषसंकल्पकलनः पुमान् ॥ २९ ॥  
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते । समं सर्वत्र पश्यन्ति चतुर्थी भूमिकां गताः ॥ ३० ॥  
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशामं गते । पश्यन्ति स्वप्रवलोकं चतुर्थी भूमिकां गताः ॥ ३१ ॥

अन्तःकरण की भूमि में अमृत के छोटे अंकुर के प्रस्फुटन की तरह ही सन्तोष और आहादप्रद होने से मधुर प्रतीत होने वाली प्रथम भूमिका का अभ्युदय होता है। इसके उत्पन्न होते ही अन्तरंग में शेष भूमिकाओं के लिए भूमि तैयार हो जाती है। इसके बाद होने वाली दूसरी एवं तीसरी भूमिका में भी साधक कुशलता प्राप्त कर लेता है। इस तीसरी भूमिका को इसलिए सर्वोत्कृष्टता की श्रेणी में गिना गया है; क्योंकि इसमें साधक सभी संकल्पजन्य वृत्तियों को पूर्णतः त्याग देता है। अद्वैतभाव की दृढ़भावना से द्वैतभाव स्वतः समाप्त हो जाता है। चौथी भूमिका को प्राप्त साधक इस लोक को स्वप्र की तरह स्वीकार करता है ॥ २७-३१ ॥

**भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते । चित्तं तु शरदध्रांशविलयं प्रविलीयते ॥ ३२ ॥**  
**सत्त्वावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः । जगद्विकल्पो नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात् ॥ ३३ ॥**  
**पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुपदनामिकाम् । शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रकः ॥ ३४ ॥**  
**गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्तःप्रबोधवान् । सुषुपदन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गताः ॥ ३५ ॥**  
**अन्तर्मुखतया तिष्ठन्वहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् । परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥**  
**कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः । षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्पत्ति भूमिकाम् ॥ ३७ ॥**  
**यत्र नासन्नसद्गूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः । केवलं क्षीणमननमास्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥ ३८ ॥**  
**निर्ग्रन्थिः शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः । अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ॥ ३९ ॥**  
**षष्ठ्यां भूमावसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् । विदेहमुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥ ४० ॥**

प्रारम्भिक तीन भूमिकायें जाग्रत् स्वरूपा हैं तथा चौथी भूमिका स्वप्र कही जाती है। पंचम भूमिका में आरूढ़ होने पर साधक का चित्त शरदक्रृतु के बादलों की तरह विलीन हो जाता है, मात्र सत्त्व ही शेष बचता है। चित्त के विलीन हो जाने से जागतिक विकल्पों का अभ्युदय नहीं होता। सुषुपद नाम की इस पंचम भूमिका में सम्पूर्ण विभेद शान्त हो जाने पर साधक मात्र अद्वैत अवस्था में ही अवस्थित रहता है। द्वैत के समाप्त हो जाने से आत्मबोध से युक्त हर्षित हुआ साधक पंचम भूमिका में जाकर सुषुपदन (आनन्दप्रद अवस्था) को प्राप्त कर लेता है। वह बहिर्मुखी व्यवहार करते हुए भी हमेशा अन्तर्मुखी ही रहता है तथा सदा थके हुए की तरह निद्रातुर सा दिखता है। इस भूमिका में कुशलता हासिल करते हुए वासनाविहीन होकर वह साधक क्रमशः तुर्या नाम वाली छठी भूमिका में प्रविष्ट होता है। जहाँ सत्-असत् का अभाव है, अहंकार-अनहंकार भी नहीं है तथा विशुद्ध अद्वैत स्थिति में मननात्मक वृत्ति से रहित होने पर वह अत्यन्त निर्भयता को प्राप्त करता है। हृदय ग्रन्थियों के उद्घाटित होने पर संशय मिट जाते हैं। जीवन्मुक्त होकर उसकी भावशून्यता की सी स्थिति रहती है। निर्वाण को उपलब्ध न किये जाने पर भी उसकी स्थिति निर्वाण पद को प्राप्त साधक जैसी हो जाती है। उस समय वह निश्चेष्ट दीपक की तरह निश्चल रहता है। छठी भूमिका के पश्चात् वह सातवीं भूमिका की स्थिति प्राप्त करता है; विदेह-मुक्त की स्थिति ही सातवीं भूमिका कही गयी है ॥ ३२-४० ॥

**अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा सर्वभूमिषु । लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ॥ ४१ ॥**  
**शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु । ओंकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ॥ ४२ ॥**  
**वाच्यवाचकताभेदात् भेदेनानुपलब्धितः । अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः ॥ ४३ ॥**  
**प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु । समाधिकालात्प्रागेव विचिन्त्यातिप्रयत्नः ॥ ४४ ॥**  
**स्थूलसूक्ष्मक्रमात्पर्वं चिदात्मनि विलापयेत् । चिदात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥ ४५ ॥**

परमानन्दसंदोहो वासुदेवोऽहमोमिति । आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ॥ ४६ ॥  
 तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ । अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम् ॥ ४७ ॥  
 आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम् । प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत् ।  
 इत्युपनिषत् ॥४८॥

यह भूमिका परम शान्त की है तथा वाणी की सामर्थ्य से अवर्णनीय है। यह सब भूमिकाओं की सीमारूप है तथा यहाँ सम्पूर्ण योग भूमिकाओं की समाप्ति है। लोकाचार, देहाचार और शास्त्रानुगमन को छोड़कर अपने अध्यास को नष्ट करे। विश्व, प्राज्ञ और तैजस के रूप में यह समस्त विश्व 'ॐ कार' स्वरूप ही है। वाच्य और वाचक में अभेदता रहती है और भेद होने पर इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं। इन्हें क्रमशः इस प्रकार जाने-प्रणव की प्रथम मात्रा 'अकार विश्व, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ रूप है। समाधिकाल से पहले विशेष प्रयासपूर्वक इस सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करके स्थूल और सूक्ष्म से क्रमशः सब कुछ चिदात्मा में विलीन करे। चिदात्मा का स्व-स्वरूप स्वीकार करते हुए ऐसा दृढ़ विश्वास करे-मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तारूप, अद्वितीय, परमआनन्द सन्दोह रूप एवं वासुदेव प्रणव ॐ कार हूँ। चौंकि आदि, मध्य और अन्त में यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दुःख देने वाला ही है, इसलिए हे निष्पाप! सबका परित्याग करके तत्त्वनिष्ठ बने। मैं अज्ञानरूपी अन्धकार से अतीत, सभी प्रकार के आभास से रहित, आनन्दरूप, मलरहित, शुद्ध, मन और वाणी से अगोचर, प्रज्ञानघन, आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ ऐसी भावना करे। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है ॥ ४१-४८ ॥

॥ ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति अक्षयुपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ अद्वयतारकोपनिषद् ॥

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में राजयोग का सविस्तार वर्णन है, जिसका सुपरिणाम 'ब्रह्म' प्राप्ति के रूप में विवेचित है। इसमें सर्वप्रथम 'तारकयोग' की व्याख्या करने का निश्चय व्यक्त करते हुए 'योग' के उपाय और उसके फल की विवेचना की गई है। तदुपरान्त 'तारक' का स्वरूप, लक्ष्यत्रय के अनुसन्धान की विधि, अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य एवं मध्यलक्ष्य का लक्षण, दो प्रकार के तारक का स्वरूप, तारकयोग की सिद्धि, तारकयोग का स्वरूप, शाम्भवी मुद्रा, अन्तर्लक्ष्य के विकल्प, आचार्य का लक्षण एवं अन्त में उपनिषद् की फलश्रुति वर्णित है।

इस प्रकार इस उपनिषद् में भवसागर-संसार बन्धन से त्राण पाने का अति सुगम उपाय 'तारक-ब्रह्म' की साधना का विधान प्रस्तुत किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥  
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-संताप शान्त हों।

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रियाय शमदमादिषड्गुणपूर्णाय ॥ १ ॥

अब अद्वयतारकोपनिषद् की व्याख्या योगियों, संन्यासियों, जितेन्द्रियों तथा शमदम आदि षड्गुणों से पूर्ण साधकों के लिए करते हैं ॥ १ ॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन्त्पम्यङ्गनिमीलिताक्षः किंचिदुभ्मीलिताक्षो वान्तर्दृष्ट -  
च्या भूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं परंब्रह्मावलोकयस्तद्रूपो भवति ॥ २ ॥

वह नेत्रों को बन्द अथवा अधखुले रखकर अन्तःदृष्टि से भृकुटी के ऊर्ध्व स्थल में "मैं चित् स्वरूप हूँ", इस प्रकार का भाव चिन्तन करते हुए सच्चिदानन्द के तेज से युक्त कूट रूप (निश्चल) ब्रह्म का दर्शन करता हुआ ब्रह्मय ही हो जाता है ॥ २ ॥

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्वयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति । जीवेश्वरौ मायिकौ विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म ॥ ३ ॥

जो (तेजोमय परब्रह्म) गर्भ, जन्म, जरा, मरण एवं संहार आदि पापों से तारता है अर्थात् मुक्ति दिला देता है, उसे 'तारक' ब्रह्म कहा गया है। जीव एवं ईश्वर को मायिक (माया से आवृत) जानते हुए अन्य सभी को 'नेति-नेति' कहते हुए छोड़कर जो कुछ शेष बचा रहता है, वही 'अद्वय ब्रह्म' कहा गया है ॥ ३ ॥

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसंधानः कर्तव्यः ॥ ४ ॥

उस (तेजोमय परब्रह्म) की सिद्धि के लिए तीन लक्ष्यों का अनुसंधान ही करणीय कर्तव्य है ॥ ४ ॥

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुप्ता सूर्यस्तपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते । सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्धगमिनी भवति । तमध्ये तडिकोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत्सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति । तां द्विष्टा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति । फालोर्ध्वगललाटविशेष-मण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत्सिद्धो भवति । तर्जन्यग्रान्मीलितकर्ण-रन्धद्वये तत्र फूल्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिः स्थलं विलोक्यान्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति । एवं हृदये पश्यति । एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥ ५ ॥

(उस योगी के) शरीर के बीच में 'सुषुप्ता' नामक ब्रह्मनाडी पूर्ण चन्द्रमा की भाँति प्रकाशयुक्त है । वह मूलाधार से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध तक विद्यमान है । इस नाडी के बीच में कोटि-कोटि विद्युत् के सदृश तेजोमयी मृणालसूत्र की तरह सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति प्रख्यात है । उस शक्ति का मन के द्वारा दर्शन करने मात्र से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है । मस्तिष्क के ऊपर विशेष मण्डल में निरन्तर विद्यमान तेज (प्रकाश) को तारक-ब्रह्म के योग से जो देखता है, वह सिद्ध हो जाता है । दोनों कानों के छिद्रों को तर्जनी अङ्गुलियों के अग्रभाग से बन्द कर लेने पर 'फूल्कार' (सर्प के फुफकार की तरह) का शब्द सुनाई पड़ता है । उसमें मन को केन्द्रित करके नेत्रों के मध्य नीली ज्योति को आन्तरिक दृष्टि से देखने पर अत्यधिक अनन्दानुभूति होती है । ऐसा ही दर्शन हृदय में भी किया जाता है । इस प्रकार के 'अन्तर्लक्ष्य' (अन्तःकरण में देखे जाने योग्य) लक्षणों का अभ्यास मुमुक्षु (मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले साधक) को करना चाहिए ॥ ५ ॥

[ मनुष्य बाह्य सुखोपभोगों की कामना से ही पाप कर्म में प्रवृत्त होता है । पापवृत्ति उक्त कामनाओं के आधार पर ही उभरती है । अन्तःस्थित कुण्डलिनी की सामर्थ्य का दर्शन मन से होने पर यह विश्वास मन में जम जाता है कि सुखों में श्रेष्ठतम आनन्द का स्रोत अपने भीतर ही है, इसलिए बाह्य उपलब्धियों के निमित्त उभरने वाली पापवृत्ति उभरती ही नहीं है । ]

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं नासिकाग्रे चतुर्भिः षडभिरष्टभिर्दशभिर्द्वादशभिः क्रमादङ्गुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसद्ग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतशुक्लवर्णद्वयोपेतव्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति । चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्वर्णनेन योगी भवति । तसकाञ्चनसंकाशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति । शीषोपरि द्वादशाङ्गुलसमीक्षितरमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत्स तु योगी भवति ॥ ६ ॥

अब 'बाह्यलक्ष्य' के लक्षणों का वर्णन करते हैं । नासिका के अग्रभाग से क्रमशः चार, छः, आठ, दस या बारह अंगुल की दूरी पर नील एवं श्याम रंग जैसा, रक्ताभ वर्ण का आकाश, जो पीत शुक्लवर्ण से युक्त होता है; उस आकाश तत्त्व को जो निरन्तर देखता रहता है, वही वास्तव में सच्चा योगी कहलाता है । उस चलायमान दृष्टि से आकाश (रिक्त स्थान) में देखने पर वे ज्योति किरणें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं, उन दिव्य किरणों को देखने वाला ही योगी होता है । जब दोनों चक्षुओं के कोने में तस सुवर्ण की भाँति ज्योति मयूख (किरण) का दर्शन होता है, तो फिर उसकी दृष्टि एकाग्र हो जाती है । मस्तिष्क के ऊर्ध्व में लगभग १२ अंगुल की दूरी पर ऊर्ध्व में आकाश ज्योति का दर्शन करता है, वही (पूर्ण) योगी कहलाता है ॥ ६ ॥

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवद्वहिज्वालावलीवत्तद्विहीनान्तरि-  
क्षवत्पश्यति । तदाकाराकारितयावतिष्ठति । तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति ।  
विस्फुरत्तारकाकारसंदीप्यमानागाढतमोपमं परमाकाशं भवति । कालानलसमद्योतमानं महाकाशं  
भवति । सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति । कोटि सूर्यप्रकाशवैभवसंकाशं  
सूर्याकाशं भवति । एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम् । तद्वर्णी विमुक्तफलस्तादग्व्यो-  
मसमानो भवति । तस्मात्तारक एव लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति ॥ ७ ॥

इसके अनन्तर अब 'मध्यलक्ष्य' के लक्षण का वर्णन करते हैं । जो प्रातः काल के समय में चित्रादि वर्ण  
से युक्त अखण्ड सूर्य का चक्रवत्, अग्नि की ज्वाला की भाँति तथा उनसे विहीन अन्तरिक्ष के समान देखता है ।  
उस आकार के सदृश होकर प्रतिष्ठित रहता है । पुनः उसके दर्शन मात्र से वह गुणरहित 'आकाश' रूप हो जाता  
है । विस्फुरित (प्रकाशित) होने वाले तारागणों से प्रकाशमान एवं प्रातःकाल के अंधेरे की भाँति 'परमाकाश'  
होता है । 'महाकाश' कालाग्नि के समान प्रकाशमान होता है । 'तत्त्वाकाश' सर्वोत्कृष्ट प्रकाश एवं प्रखर ज्योति-  
सम्पन्न होता है । 'सूर्याकाश' करोड़ों सूर्यों के सदृश होता है । इस तरह बाह्य एवं अन्तः में प्रतिष्ठित ये 'पाँच  
आकाश' तारक-ब्रह्म के ही लक्ष्य हैं । इस क्रिया विधि द्वारा आकाश का दर्शन करने वाला उसी की भाँति  
समस्त बन्धनों को काटकर मुक्ति-प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है । तारक का लक्ष्य ही अमनस्क फल-प्रदाता  
कहा गया है ॥ ७ ॥

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुक्तरार्धममनस्कं चेति । तदेष श्लोको भवति । तद्योगं च  
द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः । पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुक्तरमिति ॥ ८ ॥

इस तारक योग की दो विधियाँ बतलाई गई हैं । जिसमें प्रथम पूर्वार्द्ध है और द्वितीय उत्तरार्द्ध । इस सन्दर्भ  
में यह श्लोक द्रष्टव्य है-'यह योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो प्रकार का होता है । पूर्व को 'तारक' एवं उत्तर को  
'अमनस्क' (मनः शून्य होना) कहा गया है ॥ ८ ॥

अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति । तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव  
पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्वर्णनमात्रा-  
ण्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत् । तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात् । तस्मादन्तर्दृष्ट्या  
तारक एवानुसंधेयः ॥ ९ ॥

हम आँखों के तारक (पुतलियों) से सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन (प्रतिफलन) करते हैं । जिस तरह से हम  
आँखों के तारकों से ब्रह्म-ब्रह्माण्ड के सूर्य एवं चन्द्र को देखते हैं, वैसे ही अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य  
में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण करके उनका हमेशा दर्शन करना चाहिए तथा दोनों को एक ही रूप जान  
करके मन को एकाग्र कर उनका चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन को इस भाव से ओत-प्रोत न किया  
जायेगा, तो समस्त इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होने लगेंगी । इस कारण योगी-साधक को अपनी अन्तः की दृष्टि से  
'तारक' का निरन्तर अनुसंधान करते रहना चाहिए ॥ ९ ॥

तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति । यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत् । यद्भूयुगातीतं  
तदमूर्तिमत् । सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते तारकाभ्यां सदूर्ध्वस्थ सञ्चर्दर्श-  
नान्मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव । तस्माच्छुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

तद्ब्रह्म मनः सहकारिचक्षुषान्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति । एवमर्मूर्तितारकमपि मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वाद्वाह्यवदान्तरे प्यात्ममन-शक्षुः संयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात् । तस्मान्मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति ॥ १० ॥

इस 'तारक' की दो विधियाँ कही गई हैं, जिसमें प्रथम मूर्त (मूर्ति) एवं द्वितीय अमूर्त (अमूर्ति) है। जो इन्हियों के अन्त (अर्थात् मनश्चक्षु) में है, वह मूर्त तारक है तथा जो दोनों भृकुटियों से बाहर है, वह अमूर्त है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन में सर्वत्र मन को एकाग्र करके अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक-दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्तःकरण में सतत निरीक्षण करने से दोनों तारकों के ऊर्ध्व भाग में सच्चिदानन्दमय ज्योतिरूप परब्रह्म का दर्शन होता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म शुक्ल-शुभ्र तेज स्वरूप है। उस ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्तःदृष्टि से देखकर जानना चाहिए। अमूर्त तारक भी इसी विधि से मनः संयुक्त नेत्रों से ज्ञात हो जाता है। रूप दर्शन के सम्बन्ध में मन नेत्रों के आश्रित रहता है और बाहर के सदृश अन्तःमें भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस कारण मन के सहित नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है ॥ १० ॥

भूयुगमध्यबिले दृष्टिं तदद्वारोर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति । तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भूयुगमं सावधानतया किंचिदूर्ध्वमुक्षेपयेत् । इति पूर्वभागी तारकयोगः । उत्तरं त्वमूर्तिमदमनस्कमित्युच्यते । तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते । तद्योगिभिर्ध्येयम् । तस्मादणिमादिसिद्धिर्भवति ॥ ११ ॥

जो मनुष्य अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा दोनों भृकुटियों के स्थल से थोड़ा सा ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश का दर्शन करता है, वही तारक योगी होता है। उसके साथ मन के द्वारा तारक की सुसंयोजना करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहों को कुछ थोड़ा सा ऊँचाई पर स्थिर करे। यही तारक का पूर्वार्द्ध योग कहलाता है। द्वितीय उत्तरार्द्ध भाग को अमूर्त कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में महान् ज्योति किरण मण्डल स्थित है। उसी का ध्यान योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है। उसी से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ११ ॥

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति । तन्मुद्रासूर्ढज्ञा-निनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति । तददृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति । तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥ १२ ॥

योगी-साधक की अन्तः एवं बाह्य लक्ष्य को देखने की सामर्थ्य वाली दृष्टि जब स्थिर हो जाती है, तब वह स्थिति ही शांभवी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा से ओत-प्रोत ज्ञानी पुरुष का निवास स्थल अत्यन्त पवित्र माना जाता है तथा सभी लोक उसकी दृष्टि-मात्र से पवित्र हो जाते हैं। जो भी इस परम योगी की पूजा करता है, वह उसको प्राप्त करते हुए मुक्ति का अधिकारी हो जाता है ॥ १२ ॥

अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिःस्वरूपं भवति । परमगुरुपदेशेन सहस्रारे जलज्योतिर्वा बुद्धिगुहा-निहितज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वान्तर्लक्ष्यं भवति । तदर्शनं सदाचार्यमूलम् ॥ १३ ॥

अन्तर्लक्ष्य उज्ज्वल शुभ्र ज्योति के रूप में हो जाता है। परम सद्गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्र दल कमल में स्थित उज्ज्वल-ज्योति अथवा बुद्धि-गुहा में स्थित रहने वाली ज्योति अथवा फिर वह सोलह कला के अन्तःमें विद्यमान तुरीय चैतन्य स्वरूप अन्तर्लक्ष्य होता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है ॥ १३ ॥ आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥ १४ ॥

**गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः । एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥**

वेदज्ञान से सम्पन्न, आचार्य (श्रेष्ठ आचरण वाला), विष्णुभक्त, मत्सर आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग के प्रति निष्ठा रखने वाला, योगात्मा, पवित्रता युक्त, गुरुभक्त, परमात्मा की प्राप्ति में विशेष रूप से संलग्न रहने वाला— इन उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न पुरुष ही गुरु रूप में अभिहित किया जाता है ॥ १४-१५ ॥

**गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्गुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ १६ ॥**

'गु' अक्षर का अर्थ है—अन्धकार एवं 'रु' अक्षर का अर्थ है—अन्धकार को रोकने में समर्थ । अन्धकार (अज्ञान) को दूर करने वाला ही गुरु कहलाता है ॥ १६ ॥

**गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः । गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥ १७ ॥**

गुरु ही परम ब्रह्म परमात्मा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) गति है, गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परायण (उत्तम आश्रय) है ॥ १७ ॥

**गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् । यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति ॥ १८ ॥**

गुरु ही पराकाष्ठा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) धन है । जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, वही गुरु से गुरुतर अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम् गुरु है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १८ ॥

**यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति । सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।  
सर्वान्कामानवाप्नोति । सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १९ ॥**

जो मनुष्य एक बार (गुरु या इस उपनिषद् का) उच्चारण (पाठ) करता है, उसकी संसार-सागर से निवृत्ति हो जाती है । समस्त जन्मों के पाप तत्क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं । समस्त इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाती है । सभी पुरुषार्थ सफल-सिद्ध हो जाते हैं । जो ऐसा जानता है, वही उपनिषद् का यथार्थ ज्ञानी है, यही उपनिषद् है ॥ १९ ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति अद्वयतारकोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ कलिसंतरणोपनिषद् ॥

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में 'यथा नामे तथा गुणे' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए 'कलियुग' के दुष्प्रभाव से 'तर' (पार हो) जाने का अति सुगम उपाय वर्णित है। 'हरि' नाम की महिमा वर्णित होने से इसे हरिनामोपनिषद् भी कहा जाता है।

इस लघुकाय उपनिषद् में कुल ३ मन्त्र हैं। नारद और ब्रह्मा जी के प्रश्नोत्तर रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। जिसमें 'कलिसंतरण' (कलियुग के दुष्प्रभाव से बचने) का सुगम उपाय भगवत्ताम स्मरण बताया गया है। उपनिषद् का मानना है कि आत्मा (ब्रह्म) पर जो आवरण रहता है, जिसके रहते ब्रह्म साक्षात्कार सम्भव नहीं हो पाता; यह षोडशनामात्मक मन्त्र उस आवरण को नष्ट करने में समर्थ है। जिसके नष्ट होते ही 'ब्रह्म' का स्वरूप साधक के लिए उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जिस प्रकार मेघाच्छन्न 'सूर्य' वायु द्वारा मेघ के छिन्न-भिन्न कर देने पर स्वतः प्रकट हो जाता है। उपनिषद् के अन्त में नाम-जप की महिमा का सुन्दर विवेचन किया गया है, इसी के साथ यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद् )

द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं संतरेयमिति । स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्ठोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि । भगवत् आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति ॥ १ ॥

द्वापर युग के अन्तिम काल में एक बार देवर्षि नारद पितामह ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हुए और बोले- 'हे भगवन्'! मैं पृथ्वीलोक में भ्रमण करता हुआ किस प्रकार से कलिकाल से मुक्ति पाने में समर्थ हो सकता हूँ? ब्रह्माजी प्रसन्नमुख हो इस प्रकार बोले- 'हे वत्स! तुमने आज मुझसे अत्यन्त प्रिय बात पूछी है। आज मैं समस्त श्रुतियों का जो अत्यन्त गुप्त रहस्य है, उसे बतलाता हूँ, सुनो। इसके श्रवण मात्र से ही कलियुग में संसार-सागर को पार कर लोगे। भगवान् आदि पुरुष श्रीनारायण के पवित्र नाम के उच्चारण मात्र से मनुष्य कलिकाल के समस्त दोषों को विनष्ट कर डालता है ॥ १ ॥

नारदः पुनः पप्रच्छ तत्त्वाम किमिति । स होवाच हिरण्यगर्भः । हरे राम हरे राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे । इति षोडशकं नामां कलिकल्मषनाशनम् । नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते । इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम् । ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति ॥ २ ॥

देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'पितामह! वह कौन सा नाम है?' तदुपरान्त हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी ने कहा- वह सोलह अक्षरों से युक्त नाम इस प्रकार है- हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। इस प्रकार ये सोलह नाम कलिकाल के महान् पापों का विनाश करने में सक्षम हैं। इससे श्रेष्ठ अन्य कोई दूसरा उपाय चारों वेदों में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इन सोलह नामों के द्वारा षोडश कलाओं से आवृत

जीव के आवरण समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर जिस प्रकार मेघ के विलीन होने पर सूरज की किरणें ज्योतित होने लगती हैं, वैसे ही परब्रह्म का स्वरूप भी दीसिमान् होने लगता है ॥ २ ॥

**पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन्कोऽस्य विधिरिति । तं होवाच नास्य विधिरिति । सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति । यदास्य षोडशीकस्य सार्थत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति । तरति वीरहत्याम् । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति । सर्वधर्मपरित्यागपापात्मद्यः शुचितामाप्नुयात् सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥**

देवर्षि नारद जी ने पुनः प्रश्न किया-हे प्रभु! इस मन्त्र नाम के जप की क्या विधि है? ब्रह्माजी ने कहा- इस मन्त्र की कोई विधि नहीं है। शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, हर स्थिति में इस मन्त्र-नाम का सतत जप-करने वाला मनुष्य सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य आदि सभी तरह की मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जब साधक इस षोडश नाम वाले मन्त्र का साढ़े तीन करोड़ जप कर लेता है, तब वह ब्रह्म-हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है। वह बीरहत्या (या भाई की हत्या) के पाप से भी मुक्त हो जाता है। स्वर्ण की चोरी के पाप से भी मुक्त हो जाता है। पितर, देव और मनुष्यों के अपकार के पापों (दोषों) से भी मुक्त हो जाता है। समस्त धर्मों के त्याग के पाप से वह तुरन्त ही परिशुद्ध हो जाता है। वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है ॥ ३ ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति कलिसंतरणोपनिषत्समाप्ता ॥



# ॥ कालाग्निरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें ब्रह्मज्ञान के साधनभूत 'भस्मधारण' की विशेष विधि का उल्लेख है।

इस लघुकाय उपनिषद् में सनत्कुमार और कालाग्निरुद्र के मध्य हुए प्रश्नोत्तर का वर्णन है, जिसमें सर्वप्रथम कालाग्निरुद्र उपनिषद् मन्त्र के ऋषि आदि का विवेचन है। तदुपरान्त 'त्रिपुण्ड्र' धारण की विधि की जिज्ञासा की गई है, तत्पश्चात् शाम्भवव्रत नामक त्रिपुण्ड्र विधि, त्रिपुण्ड्र की रेखा का परिमाण (लम्बाई आदि) तथा तीनों रेखाओं के शक्ति-देवता आदि का प्रतिपादन है। अन्त में इस उपनिषद् विद्या तथा ग्रन्थ के अध्ययन की फलश्रुति का महिमामण्डित स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन (पूर्ण मनोयोग से) करता है, वह तद्रूप (शिवरूप) हो जाता है।

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद् )

अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता श्री कालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे विनियोगः ॥ १ ॥

इस कालाग्निरुद्रोपनिषद् के ऋषि संवर्तक अग्नि, अनुष्टुप्-छन्द और देवता श्रीकालाग्नि रुद्र हैं। श्री कालाग्निरुद्र देव की प्रसन्नता के लिए इसका विनियोग किया जाता है ॥ १ ॥

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ अधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं सतत्त्वं किं द्रव्यं कियत्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मंत्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्ता किं फलमिति च ॥ २ ॥

किसी समय एक बार सनत्कुमारजी ने भगवान् कालाग्निरुद्रदेव से प्रश्न किया— 'हे भगवन्! त्रिपुण्ड्र की विधि तत्त्वसहित मुझे समझाने की कृपा करें। वह क्या है? उसका स्थान कौन सा है, उसका प्रमाण (अर्थात्-आकार) कितना है, उसकी रेखाएँ कितनी हैं, उसका कौन सा मंत्र है, उसकी शक्ति क्या है, उसका कौन सा देवता है, कौन उसका कर्ता है तथा उसका फल क्या होता है?' ॥ २ ॥

तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः यद्द्रव्यं तदाग्रेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कथेषु त्रियायुषैस्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक्तिस्त्रो रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छाभ्वं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति तस्मात्तसमाचरेन्मुक्षुर्न पुनर्भवाय ॥ ३ ॥

यह सुनकर उन भगवान् कालाग्निरुद्र ने सनत्कुमार जी को समझाते हुए कहा कि त्रिपुण्ड्र का द्रव्य अग्निहोत्र की भस्म ही है। इस भस्म को 'सद्योजातादि' पञ्चब्रह्म मंत्रों को पढ़कर धारण करना चाहिए। अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, खमिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, (पञ्चभूतादि) मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे। 'मानस्तोक' मंत्र से अङ्गुली पर ले तथा 'मा नो महान्' मन्त्र से जल से गीला करके 'त्रियायुषं' इस मंत्र से सिर, ललाट, वक्ष एवं कन्धे पर तथा 'त्रियायुष' एवं 'त्र्यम्बक' मन्त्र के द्वारा तीन रेखाएँ बनाए। इसी का नाम शाम्भव व्रत कहा गया है। इस व्रत का वर्णन वेदज्ञों ने समस्त वेदों में किया है। जो मुमुक्षु जन यह आकांक्षा रखते हैं कि उन्हें पुनर्जन्म न लेना पड़े, तो उन्हें इसे धारण करना चाहिए ॥ ३ ॥

अथ सनत्कुमारः पप्रच्छ प्रमाणमस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य ॥ ४ ॥

ऐसा सुनने के पश्चात् सनत्कुमार जी ने पूछा कि त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाओं को धारण करने का प्रमाण (लम्बाई आदि) क्या है ? ॥ ४ ॥

त्रिधा रेखा भवत्याललाटादाचक्षुषोरामूर्धोराभूवोर्मध्यतश्च ॥ ५ ॥

भगवान् श्री कालाग्निरुद्र ने उत्तर दिया कि तीन रेखाएँ दोनों नेत्रों के भ्रूमध्य से आरम्भ कर स्पर्श करते हुए ललाट- मस्तक पर्यन्त धारण करे ॥ ५ ॥

यास्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्वाकारो रजो भूलोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिरूपवेदः प्रातः सवनं महेश्वरो देवतेति ॥ ६ ॥

प्रथम रेखा गार्हपत्य अग्निरूप, 'अ' कार रूप, रजोगुणरूप, भूलोकरूप, स्वात्मकरूप, क्रियाशक्तिरूप, ऋग्वेदस्वरूप, प्रातः सवनरूप तथा महेश्वरदेव के रूप की है ॥ ६ ॥

यास्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं सदाशिवो देवतेति ॥ ७ ॥

द्वितीय रेखा दक्षिणाग्निरूप, 'उ' कार रूप, सत्त्वरूप, अन्तरिक्षरूप, अन्तरात्मारूप, इच्छाशक्तिरूप, यजुर्वेदरूप, माध्यन्दिन सवनरूप एवं सदाशिव के रूप की है ॥ ७ ॥

यास्य तृतीया रेखा साहवनीयो मकारस्तमो द्यौलोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेद-स्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ॥ ८ ॥

तीसरी रेखा आहवनीयाग्नि रूप, 'म' कार रूप, तमरूप, द्यु-लोकरूप, परमात्मारूप, ज्ञानशक्तिरूप, सामवेदरूप, तृतीय सवनरूप तथा महादेवरूप की है ॥ ८ ॥

एवं त्रिपुण्ड्रविधि भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सर्वान्देवाङ्गातो भवति स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान्भुइन्ते देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान्कालाग्निरुद्रः ॥ ९ ॥

इस तरह से त्रिपुण्ड्र की विधि से जो भी कोई ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा संन्यासी भस्म को धारण करता है । वह महापातकों एवं उपपातकों से मुक्त हो जाता है । वह समस्त तीर्थों में स्नान करने के सदृश पवित्र हो जाता है, उसे समस्त वेदों के पारायण का फल प्राप्त हो जाता है । वह सम्पूर्ण देवों को जानने में समर्थ हो जाता है । वह समस्त प्रकार के भोगों को भोगकर भगवान् शिव के लोक को प्राप्त करता है । वह पुनः जन्म नहीं लेता । इस प्रकार से भगवान् कालाग्निरुद्रदेव ने सनत्कुमार जी से त्रिपुण्ड्र के धारण करने की विधि का वर्णन किया है ॥ ९ ॥

यस्त्वेतद्वाधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥ १० ॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह भी उसी रूप में (शिवरूप में) हो जाता है । ॐ ही सत्य है । ऐसी ही यह उपनिषद् है ॥ १० ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति कालाग्निरुद्रोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ कृष्णोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अर्थवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसका शुभारम्भ मुनिगणों एवं भगवान् के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। जिसमें भगवान् राम के द्वारा कृष्णावतार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की गई है। तदनुसार भगवान् के विविध लीला-विग्रह ही कृष्णावतार के समय के विभिन्न पात्रों के रूप में अवतरित हुए हैं। निष्कर्षतः कहा गया है कि उन भगवान् श्री कृष्ण ने स्वर्गवासियों को एवं समस्त वैकुण्ठधाम को पृथिवीतल पर अवतरित कर लिया है, जो भी मनुष्य इस तरह उन भगवान् को जानता है, वह समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त कर लेता है और शारीरिक-बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी फलश्रुति के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरड्डैस्तुष्टुवाः सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न ऽइन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे देव ! हम कानों से कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से कल्याणकारी (दृश्य) देखें, हम हृष्ट-पुष्ट अंगों और शरीर से ईश्वर द्वारा प्रदत्त पूरी आयु देवहित कार्यों में बितायें। महान् कीर्ति सम्पन्न देवराज इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि (जिसकी गति अवरुद्ध न की जा सके), ताक्ष्य (गरुड़) तथा बृहस्पतिदेव हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता  
बभूवुः । तं होचुनोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति । भवान्तरे कृष्णावतारे  
यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गं अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपा नः स्त्रीश्च नो कुरु ।  
अन्योन्यविग्रहं धार्य तवाङ्गस्पर्शनादिह । शश्वत्पर्श्वयितास्माकं गृहीमोऽवतारान्वयम् ॥ १ ॥  
रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्न्वयम् । अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम् ॥ २

सर्वांग सुन्दर, सच्चिदानन्द स्वरूप, महाविष्णु (के अवतारों) श्री रामचन्द्र जी को देखकर वनवासी मुनिगण बड़े आश्चर्यचकित हुए। (उन्हें धरती पर अवतरित होने के लिए ब्रह्मा जी का आदेश होने पर) ऋषियों ने उनसे (राम से) कहा- हम सब (धरती पर) अवतरित होने को अच्छा नहीं मानते हैं। हम आपका आलिंगन (अत्यधिक निकटता) चाहते हैं। (भगवान् ने कहा-हमारे) अन्य अवतार-कृष्णावतार में तुम सभी गोपिका बनकर मेरा आलिंगन (अतिसंत्रिकटता) प्राप्त करो। (ऋषियों ने पुनः कहा- हमारे) जो अन्य अवतार हों, (उनमें) हमें गोप-गोपिका बना दें। आपका सात्रिध्य प्राप्त करने की स्थिति में हमें ऐसा शरीर (गोपिका आदि) धारण करना स्वीकार्य है, जो आपका स्पर्श सुख प्रदान कर सके। रुद्र आदि सभी देवों की यह स्लेहयुक्त प्रार्थना

सुनकर स्वयं आदि पुरुष भगवान् ने कहा- हे देवो ! मैं अपने अंग-अवयवों के स्पर्श का अवसर तुम्हें निश्चित रूप से प्रदान करता रहूँगा । मैं तुम्हारी इच्छा को अवश्य पूर्ण करूँगा ॥ १-२ ॥

**मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याधुना वयम् । यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी ॥ ३ ॥**  
 माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी । प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी ॥४ ॥  
 तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहता । अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा ॥ ५ ॥  
 देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते । निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ॥ ६ ॥  
 स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले । वने वृद्धावने क्रीडनोपगोपीसुरैः सह ॥ ७ ॥  
 गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः । वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः ॥ ८ ॥  
 गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः । लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः ॥ ९ ॥

परम पुरुष भगवान् का यह आश्वासन प्राप्त करके वे सभी देवगण अत्यधिक आनन्दित होते हुए बोले कि 'अब हम कृतार्थ हो गये ।' तदनन्तर वे समस्त देवगण भगवान् की सेवा हेतु प्रकट हुए । भगवान् का परम आनन्दमय स्वरूप ही अंशरूप में नन्दराय जी के रूप में उत्पन्न हुआ । स्वयं साक्षात् मुक्तिदेवी नन्दरानी यशोदा जी के रूप में अवतरित हुई । सुप्रसिद्ध माया तीन प्रकार की कही गयी है, जिनमें से प्रथम सात्त्विकी, द्वितीय राजसी और तृतीय तामसी । भगवान् के भक्त श्रीरुद्र देव में सात्त्विकी माया विद्यमान है, ब्रह्मा जी में राजसी माया है और असुरों में तामसी माया का प्राकट्य हुआ है । इस कारण से यह तीन प्रकार की बतलायी गयी है । इसके अतिरिक्त जो वैष्णवी-माया है, उसको जीतना हर किसी के लिए असंभव है । इस माया को प्राचीन काल में ब्रह्मा जी भी पराजित नहीं कर सके । देवता भी सदा जिस वैष्णवी माया की स्तुति करते हैं, वही ब्रह्म विद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी के रूप में प्रादुर्भूत हुई । निगम अर्थात् वेद ही वसुदेव हैं, जो निरन्तर मुक्त पूर्ण पुरुष नारायण के विराट् स्वरूप की स्तुति करते हैं । वेदों का तात्पर्यभूत ब्रह्म ही श्री बलराम एवं श्रीकृष्ण के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ । वह मूर्तिमय वेदार्थ ही वृद्धावन में विद्यमान गोप एवं गोपियों के साथ क्रीड़ा करता है । वेदों की ऋचाएँ उन भगवान् श्रीकृष्ण की गौएँ एवं गोपियाँ हैं । ब्रह्माजी ने लकुटी का रूप धारण किया है तथा भगवान् रुद्र वंश(वंशी)बने हुए हैं । सगोसुर इन्द्र (अर्थात् वज्रधारी देव इन्द्र-यहाँ गो का अर्थ वज्र तथा सुर का अर्थ देव लिया गया है ।) श्रृंग (संग का बना वाद्ययंत्र) का रूप धारण किए हुए हैं । गोकुल के नाम से प्रसिद्ध वन के रूप में जहाँ स्वयं साक्षात् वैकुण्ठ प्रतिष्ठित है, वहाँ पर द्रुमों (वृक्षों) के रूप में तप में रत महात्मा स्थित हैं । लोभ-क्रोधादि षड् विकारों ने महान् दैत्य-असुरों का रूप धारण कर लिया है, जो कलियुग में (केवल भगवान् श्रीकृष्ण के नाम जप मात्र से ही) विनष्ट हो जाते हैं ॥ ३-९ ॥

**गोपरूपो हरिः साक्षात्मायाविग्रहधारणः । दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत् ॥ १० ॥**  
 दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः । रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम् ॥ ११ ॥  
 बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हतं क्षणात् । शेषनागोभवेद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ॥ १२ ॥  
 अष्टावृष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा । ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः ॥ १३ ॥  
 द्वेषश्चाणूरमलोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः । दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ॥ १४ ॥  
 दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै । अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ॥ १५ ॥  
 शमो मित्रः सुदामा च सत्याकूरोद्धवो दमः । यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संसृतः । दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ॥ १७ ॥  
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ । संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ॥ १८ ॥  
कृपार्थं सर्वभूतानां गोपारं धर्ममात्मजम् । यत्वष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मस्तपथ्यैक् ॥ १९ ॥

स्वयं साक्षात् भगवान् श्रीहरि ही गोपरूप में लीला-विग्रह का रूप धारण किये हुए हैं । यह नश्वर जगत् माया से ग्रसित है, इस कारण उसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण की माया का रहस्य जानना बहुत ही दुष्कर है । वह प्रभु की माया सभी देवताओं के लिए भी दुर्जय है । जिन भगवान् की माया के वश में होकर ब्रह्मा जी लकुटी का रूप धारण किए हुए हैं तथा जिन्होंने भगवान् शिव को वंशी बनने के लिए विवश कर रखा है, उन प्रभु की माया को सामान्य जगत् किस प्रकार जान सकता है? निश्चित रूप से देवों का जो ज्ञान युक्त बल है, उसे भगवान् की माया ने क्षण भर में हरण कर लिया है । श्रीशेषनाग जी श्री बलराम के रूप में जन्मे और सनातन ब्रह्म ही भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुए । भगवान् श्रीकृष्ण की रुक्मिणी आदि सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ ही वेदों की ऋचाएँ एवं उपनिषद् हैं, इनके अतिरिक्त वेदों की जो ब्रह्म स्वरूपा ऋचाएँ हैं, वे सभी ब्रैंजभूमि में गोपिकाओं के रूप में अवतरित हुईं । द्वेष ही चाणूर मल के रूप में है, मत्सर ही दुर्जय मुष्टिक रूप में तथा दर्प ही कुवलयापीड हाथी के रूप में प्रकट हुआ है । गर्व ही आकाश में गमन करने वाले बकासुर राक्षस के रूप में अवतरित हुआ । माता रोहिणी के रूप में दया का प्राकट्य हुआ है और माँ पृथ्वी ही सत्यभामा के रूप में अवतरित हुई हैं । अघासुर के रूप में महाव्याधि और स्वयं साक्षात् कलि ही राजा कंस के रूप में प्रकट हुआ । श्रीकृष्ण के मित्र सुदामा जी ही 'शम' हैं, सत्य के रूप में अक्रूर जी और दम के रूप में उद्धवजी उत्पन्न हुए । शंख स्वयं विष्णुरूप है और लक्ष्मी का भ्राता होने के कारण वह लक्ष्मी रूप भी है, उसका प्राकट्य क्षीरसागर से हुआ है । मेघ के सदृश उसका गम्भीर घोष नाद है । भगवान् ने दूध-दही के भण्डार से युक्त जो मटके फोड़े तथा उन मटकों से जो दूध-दही प्रवाहित हुआ, उसके रूप में भगवान् ने स्वयं साक्षात् क्षीरसागर को ही प्रादुर्भूत किया है और वे (भगवान् श्रीकृष्ण) उस महासागर में बालक रूप में अवस्थित हो पूर्ववत् क्रीड़ा कर रहे हैं । शत्रुओं के शमन एवं साधुजनों के संरक्षण में वे पूर्णरूपेण तत्पर रहते हैं । समस्त भूत-प्राणियों पर अहैतुकी कृपा करने के लिए एवं अपने आत्मज स्वरूप धर्म के अभ्युदय हेतु ही भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ है, ऐसा ही जानना चाहिए । भगवान् महाकाल (शिव) ने श्रीहरि को समर्पित करने के लिए जिस चक्र को उत्पन्न किया था, भगवान् (श्री कृष्ण) के हाथ में शोभायमान वह चक्र भी ब्रह्ममय ही है ॥ १०-१९ ॥  
जयन्तीसंभवो वायुश्वरो धर्मसंज्ञितः । यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥ २० ॥  
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा । चक्रं शङ्खं च संसिद्धिं बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥ २१ ॥  
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः । नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥ २२ ॥  
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिर्बहिणी । धनुः शार्ङ्गस्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥ २३ ॥  
अब्जकाण्डं जगद्वीजं धृतं पाणौ स्वलीलया । गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ॥ २४ ॥  
वृत्ता भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी । तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ॥ २५ ॥  
भूमावृत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥ २६ ॥ सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद ।  
देहबन्धाद्विमुच्यते इत्युपनिषत् ॥

धर्म ने चँवर का रूप धारण किया है, वायुदेव वैजयन्ती माला के रूप में उत्पन्न हुए हैं और महेश्वर ने अग्नि की भाँति चमकते हुए खड़ग का रूप स्वीकार किया है। नन्द जी के घर में कश्यप ऋषि ऊखल के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा माता अदिति रस्सी के रूप में प्रकट हुई हैं। जिस प्रकार समस्त अक्षरों के ऊपर अनुस्वार सुशोभित होता है, वैसे ही सभी के ऊपर जो शोभायमान आकाश है, उसको ही भगवान् श्रीकृष्ण का छत्र समझना चाहिए। व्यास, वाल्मीकि आदि ज्ञानी महात्माजन देवों के जितने रूपों का वर्णन करते हैं और जिन-जिन को लोग देवरूप में समझ कर नमन-बंदन करते हैं, वे समस्त देवगण भगवान् श्रीकृष्ण का ही एक मात्र अवलम्बन प्राप्त करते हैं। भगवान् के हाथ की गदा सम्पूर्ण शत्रुओं को विनष्ट करने वाली साक्षात् कालिका है। शार्ङ्गधनुष के रूप में स्वयं वैष्णवी माया ही उपस्थित है तथा प्राणों का संहार करने वाला काल ही भगवान् का बाण है। इस विश्व-वसुधा के बीज स्वरूप कमल को भगवान् ने लीलापूर्वक हाथ में ग्रहण किया है। भाण्डीर वट का रूप गरुड़ ने धारण कर रखा है और देवर्षि नारद उनके सुदामा नामक सखा के रूप में अवतरित हुए हैं। भक्ति ने वृन्दा का रूप धारण किया है। समस्त भूत-प्राणियों को प्रकाश प्रदान करने वाली जो बुद्धि है, वही भगवान् की क्रियाशक्ति है। इस कारण ये गोप एवं गोपिकाएँ आदि सभी भगवान् श्रीकृष्ण से अलग नहीं हैं तथा विभु-परमात्मा श्रीकृष्ण भी इन सभी से अलग नहीं हैं। उन भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वर्गवासियों को एवं समस्त वैकुण्ठ धाम को पृथिवीतल पर अवतरित कर लिया है, जो भी मनुष्य इस तरह से उन भगवान् को जानता है, वह समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त कर लेता है और शारीरिक-बन्धनों से मुक्त हो जाता है, ऐसी ही यह उपनिषद् है ॥ २०-२६ ॥

॥ ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति कृष्णोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ गणपत्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इसमें सर्वप्रथम गणपति की स्तुति- प्रार्थना की गई है, तदुपरान्त सबकी आत्मा के रूप में विद्यमान गणपति की स्तुति की गई है, तत्पश्चात् गणपतिमनु अर्थात् गणपति शब्द का अनुक्रम, गणपति गायत्री, गणपति ध्यान, गणपति माला मन्त्र, इस विद्या के पठन का फल, विद्या प्रदान करने के नियम, कुछ काम्य प्रयोग अर्थात् कामनाओं की पूर्ति के लिए मन्त्र प्रयोग तथा अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। वस्तुतः परवर्ती कालीन उपनिषदों में सगुणोपासना की ओर ज्ञाकाव दिखाई देता है। इस उपनिषद् में भी कुछ वैसा ही प्रतिपादन है। 'गणपति' को ब्रह्मरूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है, परन्तु उनका मानवीकरणरूप अधिक मुखर हुआ है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-कष्णोपनिषद् )

नमस्ते गणपतये ॥ १ ॥ त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि । त्वमेव केवलं कर्तासि । त्वमेव केवलं धर्तासि । त्वमेव केवलं हर्तासि । त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि । त्वं साक्षादात्मासि ॥ २ ॥ नित्यं ऋतं वच्मि । सत्यं वच्मि ॥ ३ ॥

गणपति भगवान् को प्रणाम है। तुम्हीं साक्षात् प्रत्यक्ष तत्त्व हो। तुम्हीं एकमात्र कर्ता हो, तुम्हीं एकमात्र धर्ता हो और तुम्हीं एकमात्र हर्ता हो। एकमात्र तुम्हीं इन समस्त रूपों में विद्यमान ब्रह्म हो। तुम्हीं साक्षात् आत्मस्वरूप हो। मैं सदा ऋत (सत्य से परे) बात कहता हूँ, सत्य का ही प्रतिपादन करता हूँ॥ १-३ ॥

अव त्वं माम् । अव वक्तारम् । अव श्रोतारम् । अव दातारम् । अव धातारम् । अवानूचानमव शिष्यम् । अव पश्चात्तात् । अव पुरस्तात् । अव चोत्तरात्तात् । अव दक्षिणात्तात् । अव चोर्धर्वात्तात् । अवाधरात्तात् । सर्वतो मां पाहि पाहि समन्नात् ॥ ४ ॥

तुम मेरी रक्षा करो वक्ता (आचार्य) की रक्षा करो। (हम जैसे) श्रोताओं की रक्षा करो। (ज्ञान) दाता की रक्षा करो। धाता (ज्ञानधारक) की रक्षा करो। अनूचान (ज्ञान को क्रिया रूप देने वाले) की रक्षा करो तथा (मुझ) शिष्य की रक्षा करो। आगे से, पीछे से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊपर से तथा नीचे की ओर से मेरी रक्षा करो। सभी तरफ से मेरी रक्षा करो, चारों तरफ से मुझे संरक्षण प्रदान करो॥ ४ ॥

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः । त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः । त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि । त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥ ५ ॥

तुम वाङ्मय (अक्षर स्वरूप) हो, तुम्हीं चिन्मय, आनन्दस्वरूप एवं ब्रह्मरूप हो। तुम्हीं सत्, चित्, आनन्दमय एवं अद्वितीय हो। तुम प्रत्यक्षतया ब्रह्म हो, तुम ज्ञानस्वरूप एवं विज्ञानमय हो॥ ५ ॥

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते । सर्वं जगदिदं त्वत्स्तिष्ठति । सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति । सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति । त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः । त्वं चत्वारि वाक्पदानि । त्वं गुणत्रयातीतः । त्वं कालत्रयातीतः । त्वं देहत्रयातीतः । त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम् । त्वं शक्तित्रयात्मकः । त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम् । त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ॥ ६ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हीं से उत्पन्न हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हीं में प्रतिष्ठित है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हीं में विलीन हो रहा है। इस समस्त जगत् की तुम्हीं में प्रतीति हो रही है। तुम भूमि, जल, अग्नि, वायु एवं आकश

रूप हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आदि वाणी के यह चार विभाग तुम ही हो। तुम तीनों गुणों से भी परे हो। तुम भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों कालों से भी परे कालातीत हो। तुम्हीं तीनों शरीरों स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण से भी परे हो। तुम्हीं नित्य मूलाधार चक्र में प्रतिष्ठित रहते हो। इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान आदि तीनों शक्तियाँ एकमात्र तुम्हीं हो। योगी तुम्हारा ही निरन्तर चिन्तन करते हैं। तुम्हीं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्म भी हो। ये भूः, भुवः, स्वः तीनों लोक और स्वयं ॐ कार वाची परब्रह्म भी तुम्हीं हो॥ ६॥

**गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्। अनुस्वारः परतरः। अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्त्वं मनुस्वरूपम्॥ ७॥**

सर्वप्रथम गण के आदि अक्षर (ग) का उच्चारण करें। तदनन्तर वर्णों के आदि अक्षर (अ) का उच्चारण करें। इसके पश्चात् फिर अनुस्वार का उच्चारण होता है। इस तरह अर्द्धचन्द्र से शोभायमान 'ग' ॐ कार के द्वारा अवरुद्ध हो जाने पर तुम्हारे बीज मंत्र का रूप (ॐ गं) ही है॥ ७॥

**गकारः पूर्वरूपम्। अकारो मध्यरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नादः संधानम्। संहिता संधिः। सैषा गणेशविद्या॥ ८॥**

इसका प्रथम रूप 'ग' कार (ग) है, मध्यम रूप 'अ' कार है, अनुस्वार अन्त्यरूप है तथा बिन्दु ही इसका उत्तर रूप है। नाद ही इसका सन्धान है और संहिता इसकी सन्धि कही गई है। ऐसी ही यह गणेश विद्या है॥ ८॥

**गणक ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। श्रीमहागणपतिर्देवता। ॐ गम्। (गणपतये नमः)॥ ९॥**

इस मन्त्र के ऋषि-गणक हैं। छन्द निचृद्गायत्री है और देवता-श्री महागणपति हैं। 'ॐ गं (गणपतये नमः)' यह ही महामन्त्र के नाम से जाना जाता है॥ ९॥

**एकदन्ताय विद्धाहे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्मो दन्ती प्रचोदयात्॥ १०॥**

हम एक दन्त (गणेश जी) को (गुरु-शास्त्रानुसार) जानते हैं, (उन) वक्रतुण्ड का ध्यान करते हैं। वह दन्ती हम सभी को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें (इस मन्त्र को गणेश-गायत्री मन्त्र कहते हैं)॥ १०॥

**एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्। अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्॥ ११॥**  
**रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्। रक्तगन्थानुलिमाङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्॥ १२॥**  
**भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्। आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्॥ १३॥**  
**एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥ १४॥**

जो योगी (साधक) एकदन्त, चतुर्भुज स्वरूप, चारों हाथों में पाश, अंकुश, अभय एवं वरदान की मुद्रा धारण करने वाले तथा मूषक (चूहे) के चिह्न वाली ध्वजा को लिए हुए, रक्तवर्ण, विशाल उदर वाले, सूप के सदृश बड़े-बड़े कानों से युक्त, लाल रंग के वस्त्रों से आच्छादित, शरीर पर लाल चन्दन का लेप लगाये हुए, रक्त-पुष्पों से विधिवत् पूजित, भक्त जनों के ऊपर अनुकम्पा करने वाले देवता, जगत् के हेतुभूत, अच्युत, सृष्टि-रचना के पूर्व में प्रादुर्भूत तथा प्रकृति एवं पुरुष से परे विघ्नविनाशक गणेश जी का नित्य प्रति चिन्तन करता है, वह योगी (साधक) समस्त योगीजनों में श्रेष्ठतम एवं अनुपम है॥ ११-१४॥

**नमो द्वातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः॥ १५॥**

व्रातपति अर्थात् समस्त देव समुदाय के नायक को प्रणाम है, गणपति को नमस्कार है, प्रमथपति अर्थात् भगवान् शिव के नायक के लिए नमन-वन्दन है। लम्बोदर के लिए, एकदन्त के लिए, विघ्नविनाशक के लिए भगवान् शिव के पुत्र के लिए एवं श्री वरदमूर्ति (वर-प्रदाता) के लिए नमन-वन्दन है, बारम्बार प्रणाम है॥ १५॥

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते । स सर्वविद्वैर्न बाध्यते । स सर्वतः सुखमेध-  
ते । स पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । प्रातरधीयानो  
रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायंप्रातः प्रयुंजानोऽपापो भवति । धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति ॥१६॥

यह अर्थवेद की उपनिषद् है । जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह ब्रह्मत्व पद की प्राप्ति  
का अधिकारी बन जाता है । सभी तरह के विद्व उसके लिए बाधक नहीं होते । वह सर्वत्र सुख-शान्ति में वृद्धि  
प्राप्त करता है । वह मनुष्य पाँच प्रकार के महान् पातकों एवं उपपातकों से मुक्त हो जाता है । शाम के समय में  
किए हुए पाठ से दिन के पापों का विनाश होता है और प्रातः काल के समय में पाठ करने से रात्रि में किये गये  
पापों का शमन हो जाता है । जो मनुष्य प्रातः एवं सायं दोनों कालों में इस उपनिषद् का पाठ करता है, वह पाप-  
रहित हो जाता है । वह चारों पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को भी प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥१६॥

इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम् । यो यदि मोहाद्वास्यति स पापीयान्भवति ॥ १७ ॥

इस अर्थवशीर्ष उपनिषद् का उपदेश शिष्य को ही देना चाहिए, अशिष्य को नहीं । मोहवश जो ज्ञानीपुरुष  
ऐसा करता है (अशिष्य को देता है), वह पातकी (पापी) हो जाता है ॥ १७ ॥

सहस्रावर्तनाद्यां यं कामपमधीते तं तपनेन साधयेत् । अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी  
भवति । चतुर्थ्यामनश्चन्नपति स विद्यावान्भवति । इत्यथर्वणवाक्यम् । ब्रह्माद्याचरणं विद्यात् ।  
न बिभेति कदाचनेति । यो दूर्वाङ्गुर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति । यो लाजैर्यजति स  
यशोवान्भवति । स मेधावान्भवति । यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति । यः  
साज्यसमिद्विर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते । अष्टौ ब्राह्मणान्सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी  
भवति । सूर्यग्रहणे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति । महाविद्वात्प्रमुच्यते ।  
महापापात्प्रमुच्यते । महादोषात्प्रमुच्यते ॥ १८ ॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का एक सहस्र बार पाठ करता है, वह जो-जो आकांक्षाएँ करता है, उन सभी  
की सिद्धि इसके द्वारा हो जाती है । इस उपनिषद् के द्वारा जो मनुष्य गणेश जी को स्नान कराता है, वह प्रखर वक्ता  
बन जाता है । जो मनुष्य चतुर्थी तिथि का ब्रत-उपवास करके इसका जप (पाठ) करता है, वह महान् ज्ञानी हो  
जाता है । यह अर्थवण वाक्य है, जो भी इस उपनिषद् मन्त्र के माध्यम से तपश्चर्या करने का विधान जानता है,  
वह कभी भयभीत नहीं होता । दूर्वाकुरुं के द्वारा जो (गणपति का) यजन करता है, वह कुबेर के सदृश हो जाता  
है । जो लाजा (धान की खील) से यज्ञ करता है, वह यशस्वी एवं मेधावान् हो जाता है । जो एक सहस्र मोदकों  
(लड्हुओं) से यजन क्रिया सम्पन्न करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है । जो धृत-युक्त समिधाओं से  
यज्ञ करता है, वह सभी कुछ प्राप्त कर लेता है । उसकी सभी इच्छाएँ आकांक्षाएँ पूरी हो जाती हैं । जो मनुष्य इस  
उपनिषद्-विद्या से आठ ब्राह्मणों को अच्छी तरह से पारंगत बना देता है, वह सूर्य-सदृश तेजस्वी हो जाता है ।  
सूर्य-ग्रहण के समय महानदी अथवा प्रतिमा के समक्ष इस उपनिषद्-विद्या का पाठ-जप करने से अभीष्ट मन्त्र  
सिद्ध होता है । वह महान् विद्वां, महापातकों (पापों) से मुक्त हो जाता है । वह बड़े से बड़े दोषों से मुक्ति प्राप्त  
कर लेता है ॥ १८ ॥

स सर्वविद्ववति स सर्वविद्ववति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १९ ॥

जो पुरुष इस उपनिषद् को इस प्रकार से जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, सभी कुछ जानने में समर्थ  
हो जाता है, ऐसी ही यह अर्थवेदीय उपनिषद् है ॥ १९ ॥

॥ इति गणपत्युपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ गरुडोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा से लेकर महर्षि भरद्वाज तक की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख करते हुए 'गारुड़ विद्या' का विवेचन किया गया है। 'गारुड़ विद्या' का तात्पर्य विष निवारण-विद्या से है। सर्व से लेकर जितने भी जन्तु दंशित करके विष वमन द्वारा व्यक्ति को कष्ट पहुँचाते हैं, उन सबके विष निवारण की प्रक्रिया इस उपनिषद् में उपनिषद्ध है।

इस उपनिषद् में सर्वप्रथम गारुड़विद्या के सम्प्रदाय अर्थात् इस विद्या की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख है। तत्पश्चात् इस गारुड़ विद्या के ऋषि-देवता-छन्द-विनियोग आदि का उल्लेख है। अन्त में गरुड़ माला-मन्त्र आदि विवरण प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् का समापन किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-कष्णोपनिषद् )

गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मविद्यां नारदाय प्रोवाच नारदो बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत् ॥ १ ॥

अब गारुड़ ब्रह्मविद्या का वर्णन करते हैं; जिस ब्रह्मविद्या को भगवान् ब्रह्मा ने नारद से कहा, नारद ने बृहत्सेन से कहा, बृहत्सेन ने इन्द्र से कहा, इन्द्र ने भरद्वाज से कहा और भरद्वाज ने इस विद्या का शिक्षण जीवत्काम (ब्रह्म प्राप्ति द्वारा जीवन धन्य बनाने की इच्छा वाले) शिष्यों को प्रदान किया ॥ १ ॥

अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । श्रीभगवान्महागरुडो देवता । श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थं मम सकलविषविनाशनार्थं जपे विनियोगः ॥ २ ॥

इस श्रीगरुडब्रह्मविद्या के ऋषि ब्रह्मा, छन्द-गायत्री, श्रीभगवान् महागरुड़-देवता हैं। श्री महागरुड़ की प्रसन्नता के लिए तथा मेरे समस्त विषों के विनाशार्थ जप में इसका विनियोग किया जाता है ॥ २ ॥

अब नीचे लिखे मन्त्रों से अङ्गन्यास की क्रिया सम्पन्न करें —

ॐ नमो भगवते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा । पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट् । श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम् । त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । उग्रभयंकरकालानलस्त्रपाय करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदयादिन्यासः ॥ ३ ॥

ॐ नमो ..... अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । (दोनों हाथों की तर्जनी अङ्गुलियों से दोनों अङ्गूठों का स्पर्श) श्री महागरुडाय ..... तर्जनीभ्यां स्वाहा । (दोनों हाथों के अङ्गूठों से दोनों तर्जनी अङ्गुलियों का स्पर्श)

पक्षीन्द्राय ..... मध्यमाभ्यां वषट् । (अङ्गूठों से मध्यमा अङ्गुलियों का स्पर्श)

श्री विष्णुवल्लभाय ..... अनामिकाभ्यां हुम् । (अङ्गूठों से अनामिका अङ्गुलियों का स्पर्श)

त्रैलोक्यपरिपूजिताय ..... कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । (अङ्गूठों से कनिष्ठिका अङ्गुलियों का स्पर्श)

उग्रभयंकर ..... करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । (हथेलियों और उनके पृष्ठ भागों का परस्पर स्पर्श)

इसी तरह से दाहिने हाथ की पाँचों अङ्गुलियों से हृदयादि (शिर, शिखा, कवच, नेत्रादि) का भी न्यास (स्पर्श) करना चाहिए ॥ ३ ॥

भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः ॥ ४ ॥

‘भूः भुवः स्वः’ तथा ‘३०’ व्याहतियों एवं प्रणव से दिग्बन्धन की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए ॥ ४ ॥  
(अब ध्यान का वर्णन करते हैं, नीचे लिखे श्लोकों को श्रद्धा पूर्वक पढ़ते हुए गरुड़ के ध्यान की क्रिया सम्पन्न करें-

ध्यानम् । स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्जितम् । प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुडं  
हरिवल्लभम् । अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः । तक्षकः कटिसूत्रं तु हारः कर्कोटं  
उच्यते । पद्मो दक्षिणकर्णं तु महापद्मस्तु वामके । शङ्खः शिरः प्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे ।  
पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम् । एलापुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम् ।  
कपिलाक्षं गरुत्मनं सुवर्णसदृशप्रभम् । दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नागाभरणभूषितम् । आजानुतः  
सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम् । कुङ्कुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम् । नीलाग्रनासिकावक्त्रं  
सुमहच्चारुकुण्डलम् । दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम् । कुङ्कुमारुणसर्वाङ्गं कुन्देन्दु-  
धवलाननम् । विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम । एवं ध्यायेत्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम् ।  
विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः ॥ ५ ॥

ध्यान— जिनका दाहिना पैर स्वस्तिक के आकार के सदृश है, बायाँ पैर घुटने तक सिकोड़ कर रखा है। जिन्होंने  
दोनों हाथों को प्रणाम की मुद्रा में जोड़ रखा है, जो विष्णुवल्लभ हैं। जिन्होंने अनन्त नामक नाग को बायें हाथ  
में कड़े के रूप में धारण कर रखा है। यज्ञोपवीत के रूप में वासुकि को धारण किया है। तक्षक को करधनी के  
रूप में और कर्कोट को गले में हार के सदृश धारण किया है। पद्म नामक नाग को दाहिने कान में और  
महापद्म को बायें कान में आभूषण की भाँति धारण कर रखा है। शंख नामक नाग को सिर पर एवं गुलिक  
(नाग) को भुजाओं के मध्य में धारण कर रखा है। पौण्ड्र एवं कालिक नागों को चँवरों के रूप में प्रयुक्त किया  
गया है। एला तथा पुत्रक आदि नागों के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक जिनकी सेवा की जाती है। कपिल वर्ण सदृश नेत्र  
सुवर्ण के समान कान्ति वाले, लम्बी भुजाओं वाले, चौड़े (विशाल) कन्धे वाले, नागों के अलंकारों से  
विभूषित, जानु पर्यन्त सुवर्ण के समान कान्ति वाले तथा कटि पर्यन्त हिम के समान श्वेत प्रभा वाले, कुंकुम के  
समान लाल शरीर वाले, सैकड़ों चन्द्रमाओं के समान मुख-कान्ति वाले, जिनकी नासिका का अग्रभाग तथा  
मुख मण्डल नील वर्ण का है। विशाल कुण्डलों से युक्त जिनके कान हैं। भयंकर दाढ़ों से युक्त विकराल मुख  
वाले, अत्यन्त देवीप्रणाम मुकुट धारण करने वाले, कुंकुम लगाने से लाल अंग वाले, कुन्द पुष्प एवं चन्द्र के  
सदृश ध्वल मुख वाले, हे विष्णु के वाहन गरुड़देव ! आपको नमस्कार है। आप सदैव हमारा कल्याण करें। इस  
प्रकार तीनों संध्याओं में नागों से अलंकृत गरुड़ का ध्यान करना चाहिए। (इससे प्रसन्न होकर वे गरुड़देव) रुई  
के ढेर को, अग्नि के द्वारा दग्ध करने के सदृश विष को शीघ्र ही विनष्ट कर देते हैं ॥ ५ ॥

ओमीमों नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय  
उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय वज्रतुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्र-  
पक्षालक्षितशरीराय ओमीमेहोहि श्री महागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं दूषय  
दूषय स्पृष्टानां विषं नाशय नाशय दन्दशूकानां विषं दारय दारय प्रलीनं विषं प्रणाशय प्रणाशय  
सर्वविषं नाशय नाशय हन हन दह दह पच पच भस्मीकुरु भस्मीकुरु हुं फट् स्वाहा ॥ ६ ॥

पक्षिराज गरुड़, विष्णुवल्लभ (विष्णुप्रिय), तीनों लोकों के द्वारा पूजित किये जाने वाले, उग्र-भयंकर  
कालाग्नि के सदृश, कठोर नखों से युक्त, कठोर चञ्चु (चोंच) से युक्त, कठोर दाँत वाले, कठोर दाढ़ों वाले,

कठोर पूँछ वाले, कठोर पंखों से लक्षित शरीर वाले भगवान् श्रीमहागरुड़ को नमस्कार है। आप आएँ हे महागरुड़! अपने अनुशासित इस आसन पर आएँ प्रवेश करें। दुष्टों के विष को दूर करें, दूर करें। जो विष स्पर्श-मात्र से आ जाता है, उसे नष्ट करें, नष्ट करें। रेंगने वाले विषैले सर्पों के विष को दूर करें, दूर करें। प्रलीन (छिपे हुए) विष को दूर हटाएँ, दूर हटाएँ। सभी तरह के विषों को विनष्ट करें, विनष्ट करें। मारें-मारें, जलाएँ-जलाएँ, पचाएँ-पचाएँ। समस्त विषों को भस्मीभूत करें, भस्मीभूत करें। हुं फट् (बीज मन्त्र के सहित गरुड़देव की प्रसन्नता के लिए इस मन्त्र से आहुति समर्पित करें अथवा) आहुति समर्पित है॥ ६॥

**चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक । पृथ्वीमण्डलमुद्राङ्ग श्रीमहागरुड विषं हर हर हुं फट् स्वाहा ॥ ७ ॥**

आप चन्द्रमण्डल के सदृश हैं। आपकी मुष्टिका में सूर्यमण्डल स्थित है, ऐसे आप पृथ्वी मण्डल के सदृश मुद्राङ्गों वाले हे श्रीमहागरुड़! (आप) समस्त विषों का हरण करें-हरण करें, नष्ट करें। हुं फट् (बीज मन्त्र के सहित श्रीगरुड़ की प्रसन्नता के लिए) आहुति समर्पित है॥ ७॥

**ॐ क्षिप स्वाहा ॥ ८ ॥**

ॐ (हे महागरुड़! आप विषधरों अथवा विषों को) क्षिप अर्थात् दूर फेंक दें। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ ८॥

**ओर्मीं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषाणां च विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ ९ ॥**

तत्कारि-मत्कारि(उनकी या हमारी)हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, उसे(ब्रह्मविद्या)जो कि विषों के विष(अर्थात् विषनाशक)विषरूपिणी, विष को दूषित, शोषित, नष्ट एवं हरण करने वाली, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसके द्वारा घातक विष को, अन्तर्लीन विष को प्रणाशक (नष्ट करने वाले) विष को नष्ट कर दिया गया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग प्रदान किया। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ ९॥

**ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय वज्रनखवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालंकृतशरीराय एहोहि महागरुड विषं छिथि छिथि आवेशायावेशय हुं फट् स्वाहा ॥ १० ॥**

(उन) भगवान् महागरुड़ को नमस्कार है। भगवान् विष्णु के वाहन तीनों लोकों में पूजित, वज्रवत् कठोर नाखून एवं कठोर चोंच वाले तथा अपने शरीर को कठोर पंखों से अलंकृत करने वाले हे गरुड़देव! आप आएँ-आप पधारें। हे महागरुड़! आप आविष्ट (प्रविष्ट) हो करके विष को छिन्न-भिन्न कर दें। 'हुं फट्' (बीज मन्त्र के सहित गरुड़देव के प्रसन्नतार्थ) आहुति समर्पित है॥ १०॥

**सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वामदेव्यं बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञियं पुच्छं छन्दांस्यङ्गानि धिष्ण्या शफा यज्ञूषि नाम । सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ सुवः पत ॥ ११ ॥**

हे ऊर्ध्वगामी महागरुड़देव! आप सुन्दर पंखों से युक्त, अग्निदेव के सदृश गतिशील हैं। त्रिवृत् स्तोम आपका शिर और गायत्र (साम) आपके नेत्र हैं। दोनों पंख के रूप में बहुत एवं रथन्तर साम हैं, यज्ञ आपकी अन्तरात्मा, सभी छन्द आपके शरीर के अंग तथा यजुः आपका नाम है। वामदेव नामक साम आपकी देह, यज्ञायज्ञिय नामक साम आपकी पूँछ एवं धिष्ण्य स्थित अग्नि आपके खुर-नख हैं। हे गरुड़देव! आप अग्निवत् दिव्य लोक की ओर गमन करें तथा स्वर्गलोक को प्राप्त करें॥ ११॥

ओर्मीं ब्रह्मविद्यामावास्यायां पौर्णमास्यायां पुरोवाच सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं प्रनष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १२ ॥

प्राचीन काल में यह ब्रह्मविद्या अमावस्या-पूर्णिमा के दिन बताई थी। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है (संचरण कर रहा है), उसे (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष अर्थात् विषनाशक है। विष को दूषित एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने उस घातक विष को, अन्तर्लीन विष को, प्रणाशक विष को इन्द्र के वज्र द्वारा नष्ट कर दिया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग प्रदान किया। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है ॥ १२ ॥

**तत्स्त्र्यम्। यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वानन्तकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १३ ॥**

'तत्स्त्र्यम्' (अर्थात् यह बीज मन्त्र सभी प्रकार के विषों को हरण करने में समर्थ है) तुम चाहे अनन्तक के दूत हो अथवा स्वयं अनन्तक हो। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों के लिए विष है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मय है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस विष को मारकर (उस) प्रणाशक विष को नष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है ॥ १३ ॥

**यदि वासुकिदूतोऽसि यदि वा वासुकिः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १४ ॥**

तुम चाहे वासुकि के दूत हो अथवा स्वयं वासुकि हो। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष को दूषित, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है ॥ १४ ॥

**यदि तक्षकदूतोऽसि यदि वा तक्षकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १५ ॥**

तुम चाहे तक्षक के दूत हो अथवा तक्षक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है, विष को दूषित, नष्ट एवं मारने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ही ब्रह्म स्वरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है ॥ १५ ॥

**यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १६ ॥**

तुम चाहे कर्कोटक के दूत हो अथवा स्वयं कर्कोटक हो। 'तत्कारि-मत्कारि' (उनकी या हमारी) हिंसा

करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष अर्थात् विष नाशक है। विष को दूषित करने, मारने एवं नष्ट करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्म स्वरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १६ ॥

**यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १७ ॥**

तुम चाहे पद्मक के दूत हो अथवा स्वयं पद्मक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १७ ॥

**यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १८ ॥**

तुम चाहे महापद्मक के दूत हो अथवा स्वयं महापद्मक हो। 'तत्कारि-मत्कारि' (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने-नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है 'स्वाहा' ॥ १८ ॥

**यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १९ ॥**

तुम चाहे शङ्खक के दूत हो या स्वयं शङ्खक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है, इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १९ ॥

**यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २० ॥**

तुम चाहे गुलिक के दूत हो अथवा स्वयं गुलिक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ २० ॥

यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २१ ॥

तुम चाहे पौण्ड्रकालिक के दूत हो अथवा स्वयं पौण्ड्रकालिक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ २१ ॥

यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २२ ॥

तुम चाहे नागक के दूत हो अथवा स्वयं नागक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है। ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है। ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर नष्ट कर दिया है। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ २२ ॥

यदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि स्थावरजङ्गमानां सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २३ ॥

तुम चाहे मकड़ी, बड़ी (श्रेष्ठ) मकड़ी हो चाहे वृश्चिक (बिछू) हो, चाहे घुड़दौड़ सर्प हो और चाहे स्थावर-जंगम हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित एवं संचरित हो रहा है। ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर नष्ट कर दिया। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ २३ ॥

अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मकमहापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्रकालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां गृहगोधिकानां घणासानां गृहगिरिगङ्गवरकालानलवल्मीकोद्भूतानां तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटरस्थानां मूलत्वगदारुनिर्यासपत्रपुष्पफलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जरजम्बुकव्याघवराहाणां जरायुजाण्डजोद्भिजस्वेदजानां शस्त्रबाणक्षतस्फोटवणमहावणकृतानां कृत्रिमाणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २४ ॥

(ये) अनन्तक, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्मक, महापद्मक, शङ्खक, गुलिक, पौण्ड्रकालिक आदि

सभी नाग तथा अन्य सभी दिव्य महानाग एवं महानागों के आदि रूपों वाले, विषैले चञ्चु (चोंच) वाले, विषैले दाँत वाले, विषैले दाढ़ वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछ वाले, सभी जगह विचरण करने वाले, विषैले वृश्क (बिच्छू), मकड़ी, प्रकृष्ट (बड़ी) मकड़ी, मूषिका (चुहिया), गृहगौलिक (छह्यूंदर), गृह गोधिका (छिपकली), घोटक (घृणा उत्पन्न करने वाले विषैले कीटाणु), घरों में स्थित फर्श, दीवारों के छोटे-छोटे छिद्रों आदि में रहने वाले कालानल (विषैले कीड़े), चींटी-चींटी, दीमक आदि उत्पन्न होने वाले, तृण, पत्तों, काष्ठ, पेड़, वृक्षों के कोटर (पोले स्थान) आदि में स्थित रहने वाले, जड़, तना, वृक्ष आदि के छाल, पत्ते, पुष्प एवं फलों आदि से उद्भूत होने वाले, विषैले दुष्ट कीट, बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, सियार, व्याघ्र (बघर्हा), वराह आदि विचरण करने वाले विषैले जानवर, जरायुज (पशु-मनुष्य आदि), अण्डज (अण्डों से उत्पन्न), उद्भिज्ज (पेड़-पौधे) एवं स्वेदज (पसीने से प्रादुर्भूत प्राणी), शस्त्र (हाथ से लेकर प्रहार करने वाले), बाण (फेंककर मारने वाले) आदि से क्षत-विक्षत अंग, फोड़े, घाव एवं बड़े घावों से प्रकट होने वाले बड़े कीटक, कृत्रिम एवं अन्य विष, भूत, बेताल, कूष्माण्ड, प्रेत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि भय प्रदान करने वाले, विषैली चंचु (चोंच) वाले, विषैले दाढ़ वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछ वाले हों, (परन्तु) विषों की विष अर्थात् विष नाशक - (वह ब्रह्मविद्या) समस्त विषों को दूषित करने वाली, विषों को शोषित करने वाली, विषों को विनष्ट करने वाली, विषों को हरण करने वाली है। (वह ब्रह्मविद्या) इन सभी विषों को मारे, नष्ट करे। उस (ब्रह्मविद्या) ने इन घातक विषों को, अन्तर्लीन छिपे हुए विष को, प्रणाशक विषों को नष्ट कर दिया है। इन सभी विषों को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ २४ ॥

य इमां ब्रह्मविद्याममावास्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं न हिंसन्ति सर्पाः । अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत् । शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत् । सहस्रं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत् । सर्पञ्जलेन मुञ्चन्ति । तृणेन मुञ्चन्ति । काष्ठेन मुञ्चन्तीत्याह भगवा-न्नह्येत्युपनिषद् ॥ २५ ॥

जो साधक (मनुष्य) इस ब्रह्मविद्या का अमावस्या के दिन पाठ करता या श्रवण करता है, उसका जब तक जीवन रहता है, तब तक उसे सर्प (आदि विषैले जन्तु) नहीं काटते। (इस ब्रह्मविद्या को) आठ ब्राह्मणों को ग्रहण (स्वीकार) करवाकर तृण (जड़ी-बूटी) के द्वारा विष को मुक्त करना चाहिए। सौ ब्राह्मणों को (इसे) ग्रहण करवा करके नेत्रों से (विष को) मुक्त करना चाहिए। हजार ब्राह्मणों को (इसे) ग्रहण करवाकर मन से (अर्थात् संकल्प शक्ति से) ही (विष को) मुक्त करना चाहिए। सर्प-विष, जल, तृण एवं काष्ठ के उपचार से भी छोड़ता नहीं है। (इस प्रयोग से मुक्त कर देता है।) ऐसा ही भगवान् ब्रह्मा जी ने इस गरुडोपनिषद् को ऋषियों के समक्ष उपदिष्ट किया है। यही उपनिषद् है। ॥ २५ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति गरुडोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ गायत्रीरहस्योपनिषद् ॥

गायत्री महाशक्ति-गायत्री महाविद्या की महनीय महिमा का बखान चारों वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों आदि में सर्वत्र पाया जाता है। इस उपनिषद् में भी उसी महामन्त्र-महाशक्ति का रहस्योदयाटन किया गया है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ऋषि याज्ञवल्क्य और स्वयम्भुव ब्रह्मा जी के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है। सर्वप्रथम् ‘गायत्री’ के प्राकट्य का क्रम दिया हुआ है। तदुपरात् प्रश्नोत्तर शैली में गायत्री और व्याहृतियों का स्वरूप व्यक्त किया गया है। यह स्वरूप बड़ा विस्तृत है—यथा—गायत्री का गोत्र, अक्षर, पाद, कुक्षि, शिर, ऋषि, छन्द, शक्ति, अवयव, २४ अक्षरों की २४ शक्तियाँ, २४ अक्षरों के २४ ऋषि, २४ अक्षरों के २४ पुष्ट, २४ पातकों का घातक स्वरूप, गायत्री के अंग-अवयवों में देव शक्तियों का निवास इत्यादि। अन्त में पापों को नष्ट करने की विशेष सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए उपनिषद् का समापन किया गया है।

**ॐ स्वस्ति सिद्धम् ।** ॐ नमो ब्रह्मणे । ॐ नमस्कृत्य याज्ञवल्क्य ऋषिः स्वयंभुवं परिपृच्छति । हे ब्रह्मन् गायत्रा उत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि । अथातो वसिष्ठः स्वयंभुवं परिपृच्छति । यो ब्रह्मा स ब्रह्मोवाच । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तेः प्रकृतिं व्याख्यास्यामः । को नाम स्वयंभूः पुरुष इति । तेनाङ्गुलीमथ्यमानात् सलिलमभवत् । सलिलात् फेनमभवत् । फेनाद्बुद्बुद्बुदमभवत् । बुद्बुदादण्डमभवत् । अण्डाद्ब्रह्माभवत् । ब्रह्मणो वायुरभवत् । वायोरग्निरभवत् । अग्नेरोङ्गारोऽभवत् । ओंकाराद्ब्रह्माहतिरभवत् । व्याहृत्याः गायत्र्यभवत् । गायत्र्याः सावित्र्यभवत् । सावित्र्याः सरस्वत्यभवत् । सरस्वत्याः सर्वे वेदा अभवन् । सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सर्वे लोका अभवन् । सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वे प्राणिनोऽभवन् ॥ १ ॥

सबका कल्याण हो। ब्रह्म को नमन-वन्दन है। इस प्रकार नमन-वन्दन के पश्चात् याज्ञवल्क्य ऋषि ने स्वयम्भुव ब्रह्माजी से प्रश्न पूछा—‘हे ब्रह्मन्! गायत्री की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह सुनने की हम सभी की इच्छा है। वसिष्ठ जी ने भी स्वयम्भुव से यही पूछा था। (प्रश्न सुनकर) जो ब्रह्म से उत्पन्न हैं, ऐसे ब्रह्मा जी ने कहा— ब्रह्मज्ञान के उत्पत्ति की कारणभूता प्रकृति की व्याख्या की जाती है। स्वयंभुव नाम का कौन पुरुष है? (यह) वही पुराण पुरुष है। उसी ने अपनी अङ्गुली से मन्थन करते हुए जल को प्रकट किया। जल से फेन हुआ, फेन से बुद्बुद, बुद्बुद से अण्डा, अण्डे से ब्रह्मा, ब्रह्मा से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से ॐकार, ॐकार से व्याहृति, व्याहृति से गायत्री हुई, गायत्री से सावित्री, सावित्री से सरस्वती, सरस्वती से चारों वेद, चारों वेद से समस्त लोक और इसके पश्चात् अन्त में सभी लोकों से सभी प्राणी प्रादुर्भूत हुए॥ १ ॥

अथातो गायत्री व्याहृतयश्च प्रवर्तन्ते । का च गायत्री काश्च व्याहृतयः । किं भूः किं भुवः किं सुवः किं महः किं जनः किं तपः किं सत्यं किं तत् किं सवितुः किं वरेण्यं किं भर्गः किं देवस्य किं धीमहि किं धियः किं यः किं नः किं प्रचोदयात् । ॐ भूरिति भुवो लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षलोकः । स्वरिति स्वर्गलोकः । मह इति महलोकः । जन इति जनोलोकः । तप इति तपोलोकः । सत्यमिति सत्यलोकः । तदिति तदसौ तेजोमयं तेजोऽग्निर्देवता । सवितुरिति सविता सावित्रमादित्यो वै । वरेण्यमित्यत्र प्रजापतिः । भर्ग इत्यापो वै भर्गः । देवस्य इतीन्द्रो देवो द्योतत इति स इन्द्रस्तस्मात् सर्वपुरुषो नाम रुद्रः । धीमहीत्यन्तरात्मा । धिय इत्यन्तरात्मा परः । य इति सदाशिवपुरुषः । नो इत्यस्माकं स्वधर्मे । प्रचोदयादिति प्रचोदितकाम इमान् लोकान् प्रत्याश्रयते यः परो धर्म इत्येषा गायत्री ॥ २ ॥

अब यहाँ गायत्री और व्याहृतियों का वर्णन प्रारम्भ होता है। प्रश्न-गायत्री कौन है और व्याहृतियाँ कौन हैं? भूः क्या है? भुवः क्या है? स्वः क्या है? महः क्या है? जनः क्या है? तपः क्या है? सत्यं क्या है? तत् क्या है? सवितुः क्या है? वरेण्यं क्या है? भर्गः क्या है? देवस्य क्या है? धीमहि क्या है? धियः क्या है? यः क्या है? नः क्या है? तथा प्रचोदयात् क्या है? उत्तर— ॐ भूः-यह भूलोक का वाचक है, भुवः— अन्तरिक्ष वाची है, स्वः-स्वर्ग लोक का वाची है, महः—महलोक का वाचक है, जनः—जनलोक का, तपः—तपोलोक का, सत्यम्—सत्यलोक का, तत्—तेजस्रूप अग्निदेव का, सवितुः—यह सूर्य का वाचक है, वरेण्यं—यह प्रजापति (ब्रह्मा) का, भर्गः—आपः (जल) का, देवस्य—यह तेजस्वी इन्द्र का, जो परम ऐश्वर्य का द्योतक सर्वपुरुष नामक रुद्र द्वारा प्रख्यात है। धीमहि— यह अन्तरात्मा का, धियः—यह दूसरी अन्तरात्मा का-ब्रह्म का, यः—यह उस भगवान् सदाशिव पुरुष का, नः—यह अपने स्वरूप का (अर्थात् हमारे इस अर्थ का वाचक है), इस तरह से सभी यथोक्त क्रम से सतत स्वरूप का बोध (साक्षात्कार) कराने वाले हैं। प्रचोदयात्—यह प्रेरणा की इच्छा का द्योतक है। जो धर्म इन सभी लोकों का आश्रय करा दे, वही गायत्री है ॥ २ ॥

सा च किं गोत्रा कत्यक्षरा कति पादा । कति कुक्षयः । कानि शीर्षाणि । सांख्यायनगोत्रा  
सा चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपादा चतुष्पादा । पुनस्तस्याश्रत्वारः पादाः षट् कुक्षिकाः पञ्च  
शीर्षाणि भवन्ति । के च पादाः काश्च कुक्षयः कानि शीर्षाणि । ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो  
भवति । यजुर्वेदो द्वितीयः पादः । सामवेदस्तृतीयः पादः । अथर्ववेदश्चतुर्थः पादः । पूर्वा दिक्  
प्रथमा कुक्षिर्भवति । दक्षिणा द्वितीया कुक्षिर्भवति । पश्चिमा तृतीया कुक्षिर्भवति । उत्तरा चतुर्थी  
कुक्षिर्भवति । ऊर्ध्वा वै पञ्चमी कुक्षिर्भवति । अथः षष्ठी कुक्षिर्भवति । व्याकरणोऽस्याः प्रथमः  
शीर्षो भवति । शिक्षा द्वितीयः । कल्पस्तृतीयः । निरुक्तश्चतुर्थः । ज्योतिषामयनमिति पञ्चमः ।  
का दिक् को वर्णः किमायतनं कः स्वरः किं लक्षणं कान्यक्षरदैवतानि क ऋषयः कानि  
छन्दांसि काः शक्तयः कानि तत्त्वानि के चावयवाः । पूर्वायां भवतु गायत्री । मध्यमायां भवतु  
सावित्री । पश्चिमायां भवतु सरस्वती । रक्ता गायत्री । श्वेता सावित्री । कृष्णा सरस्वती ।  
पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरायतनानि ॥ ३ ॥

प्रश्न— वह गायत्री किस गोत्र वाली है, कितने अक्षर वाली है, कितने पाद वाली, कितनी कुक्षि वाली है और उसके शीर्ष मूर्धादि स्थल क्या हैं? उत्तर—वह सांख्यायन गोत्र वाली, चौबीस अक्षर वाली, गायत्री तीन एवं चार पाद वाली है। तदनन्तर उसके चार पाद, छः कुक्षियाँ एवं पाँच शिर हैं। प्रश्न—इसके पाद कौन हैं? कुक्षियाँ कौन हैं? तथा शिर कौन हैं? उत्तर— ऋग्वेद इसका प्रथम पाद है, यजुर्वेद द्वितीय पाद है, सामवेद तृतीय पाद है और चतुर्थ पाद अथर्ववेद है। इसकी पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि है, दक्षिण दिशा द्वितीय कुक्षि है, पश्चिम दिशा तृतीय कुक्षि है, उत्तर दिशा चौथी कुक्षि है। ऊर्ध्वभाग पाँचवीं कुक्षि है एवं अथः भाग छठी कुक्षि है। व्याकरण इसका प्रथम शिर, शिक्षा द्वितीय शिर, कल्प तृतीय शिर, निरुक्त चतुर्थ एवं ज्योतिष पञ्चम शिर है। प्रश्न—कौन सी दिशा में किस रंग की अधिष्ठात्री देवियाँ प्रतिष्ठित हैं? उनका विस्तार क्या है? स्वर-लक्षण क्या हैं? किन अक्षरों की वह अधिष्ठात्री देवियाँ हैं? उनके ऋषि कौन हैं? छन्द कौन हैं? शक्तियाँ कौन हैं? तत्त्व कौन हैं एवं उनके अवयव कौन हैं? उत्तर—पूर्व दिशा में गायत्री स्थित हैं (इनका वर्ण लाल है)। मध्यमा अर्थात् दक्षिण दिशा में (श्वेत वर्ण वाली) सावित्री स्थित हैं। पश्चिम दिशा में (कृष्ण वर्ण युक्त) सरस्वती विद्यमान हैं, यही ध्यान करना उचित है। पृथिवी, आकाश तथा स्वर्ग इन(त्रिशक्तियों) के विस्तार स्थल एवं निवास स्थान हैं ॥ ३ ॥

अकारोकारमकारस्तपोदात्तादिस्वरात्मिका । पूर्वा सन्ध्या हंसवाहिनी ब्राह्मी । मध्यमा

वृषभवाहिनी माहेश्वरी। पश्चिमा गरुडवाहिनी वैष्णवी। पूर्वाह्लकालिका सन्ध्या गायत्री कुमारी रक्ता रक्ताङ्गी रक्तवासिनी रक्तगन्धमाल्यानुलेपनी पाशाइकुशाक्षमालाकमण्डलुवरहस्ता हंसारूढा ब्रह्मदैवत्या ऋग्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भूमण्डलवासिनी। मध्याह्लकालिका सन्ध्या सावित्री युवती श्वेताङ्गी श्वेतवासिनी श्वेतगन्धमाल्यानुलेपनी त्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा रुद्रदैवत्या यजुर्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भुवोलोके व्यवस्थिता। सायं सन्ध्या सरस्वती वृद्धा कृष्णाङ्गी कृष्णवासिनी कृष्णगन्धमाल्यानुलेपना शङ्खचक्रगदाभयहस्ता गरुडारूढा विष्णुदैवत्या सामवेदसहिता आदित्यपथगामिनी स्वर्गलोकव्यवस्थिता ॥ ४ ॥

(वह गायत्री) अकार, उकार, मकाररूप तथा उदात्तादि (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित) स्वरात्मक है। (वह त्रिकाल) संध्या के अन्तर्गत प्रातःकाल के समय में हंसारूढ़-ब्राह्मीरूपा, मध्याह्ल काल की संध्या में वृषभारूढ़-माहेश्वरीरूपा और अन्तिम सायंकालीन गरुडारूढ़- वैष्णवीरूपा रहती हैं। प्रातःकालीन संध्या के समय गायत्री रक्तवर्णा, कुमारी रूपा, रक्त अंगों वाली, रक्त वस्त्रों वाली, रक्त चन्दन एवं मालाओं वाली, पाश-अंकुश-अक्षमाला कमण्डलु वरमुद्रा युक्त हाथों वाली, हंसारूढा, ब्रह्मा-देव शक्तिवाली, ऋग्वेद युक्ता, अदित्यपथगामिनी (आकाशगामिनी) तथा भूमण्डल पर रहने वाली हैं। मध्याह्ल काल की संध्या में (वह) सावित्री युवा, श्वेत अंगों वाली, शुभ्रवर्णा, श्वेत वस्त्रों को धारण करने वाली, श्वेतचन्दन एवं मालाएँ धारण करने वाली, त्रिशूल एवं डमरु धारण किए हुए वृषभ पर आरूढ़, रुद्राधिदेवता, यजुर्वेदयुक्ता हैं। (वह) आदित्यपथ पर गमन करने वाली और भुवःलोक में विशेष रूप से स्थित रहने वाली हैं। सायंकालीन संध्या सरस्वतीरूपा हैं। वह वृद्धा, कृष्णवर्ण वाली, कृष्ण वस्त्रों को धारण करने वाली, काले गन्धमाला का अनुलेपन करने वाली, शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए, गरुड़ पर आरूढ़, विष्णु दैवत्या (विष्णु जिसका अधिदेवता है), सामवेद युक्ता, भगवान् आदित्य के पथ पर गमन करने वाली तथा स्वः अर्थात् स्वर्गलोक में निवास करने वाली हैं ॥ ४ ॥

अग्निवायुसूर्यरूपाऽऽहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निरूपा ऋग्यजुःसामरूपा भूर्भुवः स्वरिति व्याहतिरूपा प्रातर्मध्याह्लतीयसवनात्मिका सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका जाग्रत्स्वप्रसुषुमरूपा वसुरुद्रादित्यरूपा गायत्रीत्रिष्टुजगतीरूपा ब्रह्मशङ्करविष्णुरूपेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपा स्वरा-इविराइवषद्ब्रह्मरूपेति। प्रथममाग्रेयं द्वितीयं प्राजापत्यं तृतीयं सौम्यं चतुर्थमीशानं पञ्चममादित्यं षष्ठं गार्हपत्यं सप्तमं मैत्रमष्टमं भगदैवतं नवममार्यमणं दशमं सावित्रमेकादशं त्वाष्ट्रं द्वादशं पौष्णं त्रयोदशमैन्द्राग्रं चतुर्दशं वायव्यं पञ्चदशं वामदेवं घोडशं मैत्रावरुणं सप्तदशं भ्रातृव्यमष्टादशं वैष्णवमेकोनविशं वामनं विंशं वैश्वदेवमेकविंशं रौद्रं द्वाविंशं कौबेरं त्रयोविंशमाश्विनं चतुर्विंशं ब्राह्मिति प्रत्यक्षरदैवतानि। प्रथमं वासिष्ठं द्वितीयं भारद्वाजं तृतीयं गार्ण्यं चतुर्थमौपमन्यवं पञ्चमं भार्गवं षष्ठं शाणिडल्यं सप्तमं लौहितमष्टमं वैष्णवं नवमं शातातपं दशमं सनत्कुमार-मेकादशं वेदव्यासं द्वादशं शुक्रं त्रयोदशं पाराशर्यं चतुर्दशं पौण्ड्रकं पञ्चदशं क्रतुं घोडशं दाक्षं सप्तदशं काश्यपमष्टादशमात्रेयमेकोनविंशमगस्त्यं विंशमौद्वालकमेकविंशमाङ्गिरसं द्वाविंशं नामिकेतुं त्रयोविंशं मौद्गल्यं चतुर्विंशमाङ्गिरसं वैश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति ॥ ५ ॥

(ये गायत्री) अग्नि, वायु एवं सूर्य रूपा हैं। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि वहिरूपा हैं, ऋक्, यजुः तथा सामवेद स्वरूपा हैं; भूः, भुवः तथा स्वः व्याहतिरूप वाली हैं; प्रातः, मध्याह्ल एवं सायंकालीन आत्मस्वरूपा; सत्त्व, रज एवं तम गुणात्मिका; जाग्रत्, स्वप्र, सुपुस्तिरूपा; वसु, रुद्र एवं आदित्यात्मक; गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती आदि छन्दरूप वाली; ब्रह्मा, शंकर एवं विष्णु के स्वरूप वाली; इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तिरूपा तथा

स्वराट्, विराट् एवं वषट् ब्रह्मरूपा हैं। (इस गायत्री महामन्त्र के) प्रथम अक्षर के अग्नि, दूसरे के प्रजापति, तीसरे के सोम (चन्द्रमा), चौथे के ईशान, पाँचवें के आदित्य, छठे के गार्हपत्य (अग्निविशेष), सातवें के मैत्र, आठवें के भग देवता, नौवें के अर्यमा, दसवें के सविता, ग्यारहवें के त्वष्टा, बारहवें के पूषा, तेरहवें के इन्द्राग्नि, चौदहवें के वायु, पन्द्रहवें के वामदेव, सोलहवें के मैत्रावरुण, सत्रहवें के भ्रातुर्व्य, अठारहवें के विष्णु, उन्नीसवें के वामन, बीसवें के वैश्वदेव, इक्कीसवें के रुद्रदेव, बाइसवें के कुबेर, तेर्इसवें के अश्विनीकुमार और चौबीसवें अक्षर के ब्रह्मदेव शक्तिरूप हैं—यही प्रत्येक अक्षर के देवता कहे गये हैं। (अब गायत्री के २४ अक्षरों के २४ ऋषियों का वर्णन करते हैं—) इसके प्रथम अक्षर के ऋषि वसिष्ठ, दूसरे के भरद्वाज, तीसरे के गर्ग, चौथे के उपमन्तु, पाँचवें के भृगु (भार्गव), छठे के शाण्डिल्य, सातवें के लोहित, आठवें के विष्णु, नौवें के शातातप, दसवें के सनत्कुमार, ग्यारहवें के वेदव्यास, बारहवें के शुकदेव, तेरहवें के पाराशर, चौदहवें के पौण्ड्रक, पन्द्रहवें के क्रतु, सोलहवें के दक्ष, सत्रहवें के कश्यप, अठारहवें के अत्रि, उन्नीसवें के अगस्त्य, बीसवें के उद्धालक, इक्कीसवें के आङ्गिरस, बाइसवें के नामिकेतु, तेर्इसवें के मुद्गल और चौबीसवें के अङ्गिरा गोत्रज विश्वामित्र हैं, यही प्रत्येक अक्षरों के अलग-अलग चौबीस ऋषि होते हैं ॥ ५ ॥

गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्दङ्क्तिबृहत्युष्णिगदितिरिति त्रिरावृत्तेन छन्दांसि प्रतिपाद्यन्ते । प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विश्वपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते । पृथिव्यसेजोवाय्वाकाशागन्धर-सरूपस्पर्शशब्दवाक्यानि पादपायूपस्थत्वकृचक्षुः श्रोत्रजिह्वाध्राणमनोबुद्ध्यहङ्करचित्तज्ञानानीति प्रत्यक्षराणां तत्त्वानि प्रतीयन्ते । चम्पकातसीकुद्धुमपिङ्गलेन्द्रनीलाग्निप्रभोद्यत्सूर्यविद्युत्तारक-सरोजगौरमरकतशुक्लकुन्देन्दुशङ्खपाण्डुनेत्रनीलात्पलचन्दनागुरुकस्तूरीगोरोचन (मल्लिका केतकी) घनसारसन्निभं प्रत्यक्षरमनुस्मृत्य समस्तपातकोपपातकमहापातकागम्यागमनगोहत्या-ब्रह्महत्याभूणहत्यावीरहत्यापुरुषहत्याऽजन्मकृतहत्या स्त्रीहत्यागुरुहत्यापितृहत्याप्राण हत्याचराचरहत्याऽभक्ष्यभक्षणप्रतिग्रहस्वकर्मविच्छेदनस्वाम्यार्तिहीनकर्मकरणपरथनापहरण-शूद्रान्नभोजनशात्रुमारणचण्डालीगमनादिसमस्तपापहरणार्थं संस्मरेत् ॥ ६ ॥

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, उष्णिक्—ये तीन आवृत्तियों से युक्त छन्द प्रतिपादित किये गये हैं। (गायत्री की चौबीस शक्तियों का वर्णन—) प्रह्लादिनी, प्रजा, विश्वभद्रा, विलासिनी, प्रभा, शान्ता, मा, कान्ति, स्पर्शा, दुर्गा, सरस्वती, विश्वपा, विशालाक्षी, शालिनी, व्यापिनी, विमला, तमोपहारिणी, सूक्ष्मावयवा, पद्मालया, विरजा, विश्वरूपा, भद्रा, कृपा और सर्वतोमुखी। अब गायत्री के प्रत्येक अक्षर के अलग-अलग चौबीस तत्त्वों का वर्णन करते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, वाक्, पैर, पायु-उपस्थ (मल-मूत्रेन्द्रियाँ), त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं ज्ञान यही गायत्री के प्रत्येक अक्षर के चौबीस तत्त्व हैं। (अब गायत्री के चौबीस अक्षर के अलग-अलग पुष्टों का वर्णन—) चम्पा, अतसी (एक नीला फूल), कुंकुम, पिङ्गल, इन्द्रनील, अग्निप्रभा, उद्यत्सूर्य, विद्युत्तारक, सरोज, गौर, मरकत, शुक्ल, कुन्द, इन्दु, शंख, पाण्डु-नेत्र, नीलकमल, चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, गोरोचन, मल्लिका, केतकी, कर्पूर के समान इन प्रत्येक अक्षरों के प्रत्येक पुष्टों को याद करना चाहिए। (अब चौबीस पातकों का वर्णन करते हैं—) सभी पातक, उपपातक, महापातक, अगम्यागमन (जिनसे योनि सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, उनसे योनि सम्बन्ध रखना आदि), गोहत्या, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या (गर्भपात), वीरहत्या, पुरुष हत्या, कई जन्मों से की हुई हत्यायें, स्त्रीहत्या, गुरुहत्या, पितृहत्या, आत्मघात, चर तथा अचर आदि जीवों की हत्या, जो खाने के लायक नहीं, उन्हें

खाने में होने वाली हत्या, दान ग्रहण का पाप, अपने कर्म का त्याग, स्वामी की सेवा से पराइमुख कर्म जन्य पाप, दूसरों के धन को चुराने से होने वाला पाप, शूद्र के अन्त को ग्रहण करने से होने वाला पाप, शत्रुघात तथा चाण्डाल से योनि सम्बन्ध रखना आदि इन समस्त पापों के विनाश के लिए हमेशा इन्हें याद रखे ॥ ६ ॥

मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो विष्णुर्ललाटं रुद्रशक्षुषी चन्द्रादित्यौ कर्णौ शुक्रबृहस्पती नासापुटे  
अश्विनौ दन्तोष्टावुभे सन्ध्ये मुखं मरुतः स्तनौ वस्वादयो हृदयं पर्जन्य उरमाकाशो नाभिरग्निः  
कटिरिन्द्राग्नी जघनं प्राजापत्यमूरू कैलासमूलं जानुनी विश्वेदेवौ जड़े शिशिरः गुल्फानि  
पृथिवीवनस्पत्यादीनि नखानि महती अस्थीनि नवग्रहा असृक्तेतुर्मासमृतुसन्धयः  
कालद्वयास्फालनं संवत्सरो निमेषोऽहोरात्रमिति वाग्देवीं गायत्रीं शरणमहं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

मैं ऐसी उस वाक् शक्ति की अधिष्ठात्री देवी गायत्री की शरण (आश्रय) को प्राप्त करता हूँ, जिसकी मूर्धा (शिर) ब्रह्मा, शिखान्त (शिखा का अन्त भाग) विष्णु, ललाट (मस्तक) रुद्र, (दोनों) नेत्र-सूर्य और चन्द्रमा, (दोनों) कान- शुक्राचार्य एवं बृहस्पति, नासिका के दोनों रथ (छिद्र) अश्विनीकुमार, दोनों दन्तोष्ट-दोनों सन्ध्यायें, मुख-मरुत् (वायु), स्तन-वसु आदि, हृदय-बादल, पेट-आकाश, नाभि-अग्नि, कमर-इन्द्राग्नि, जाँघ-प्राजापत्य, उरुद्वय-कैलाश के मूल स्थल, दोनों घुटने-विश्वेदेव, जंघाएँ (पिंडली)-शिशिर, गुल्फ (टखने)-पृथिवी की वनस्पति आदि, नख-महत् तत्त्व, हड्डियाँ-नवग्रह, अँतिङ्गियाँ-केतु, मांस-ऋतु-संधियाँ, दोनों कालों का गमन बोधक वर्ष-संवत्सर और निमेष-दिन एवं रात्रि हैं ॥ ७ ॥

य इदं गायत्रीरहस्यमधीते तेन क्रतुसहस्रमिष्टं भवति । य इदं गायत्री रहस्यमधीते दिवसकृतं पापं नाशयति । प्रातर्मध्याह्नयोः षण्मासकृतानि पापानि नाशयति । सायं प्रातरधीयानो जन्मकृतं पापं नाशयति । य इदं गायत्रीरहस्यं ब्राह्मणः पठेत् तेन गायत्र्याः षष्ठिसहस्रलक्षाणि जपानि भवन्ति । सर्वान् वेदानधीतो भवति । सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । अपेयपानात् पूतो भवति । अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति । वृषलीगमनात् पूतो भवति । अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति । पंक्तिषु सहस्रपानात् पूतो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति । इत्याह भगवान् ब्रह्मा ॥ ८ ॥

जो मनुजः इस गायत्री रहस्य का अध्ययन (पाठ) करता है, ऐसा मानना चाहिए कि उसने तो सहस्रों यज्ञ सम्पन्न कर लिये हैं । जो इस गायत्री रहस्य का पाठ करता है, उसके द्वारा (भूल से) दिन में किये हुए समस्त पापों का उसके पाठ से क्षय (विनाश) हो जाता है । जो प्रातः एवं मध्याह्न काल में इसका पाठ (अध्ययन) करता है, वह अपने छः मास के किये हुए पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है अर्थात् पापरहित हो जाता है । जो प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल इसका पाठ करे, तो उसके समस्त जन्मों के पाप विनष्ट हो जाते हैं । जो भी ब्राह्मण इस गायत्री रहस्य का पाठ करे, तो यह मानना चाहिए कि उसने गायत्री महामन्त्र का साठ हजार लाख बार जप कर लिया है, उसने सभी (चारों) वेदों का पाठ कर लिया, समस्त तीर्थों में उसने स्नान कर लिया है । अपेय पदार्थ (शराब आदि) को पीने से जो पाप होता है, उससे भी वह मुक्त हो जाता है । अखाद्य पदार्थों को ग्रहण करने (खाने) से हुए पाप से भी वह पापरहित हो जाता है । शूद्रगमन (शूद्रस्त्री से यौन सम्बन्ध बनाने) के पाप से मुक्त हो जाता है । यदि वह ब्रह्मचारी न भी हो, तो (पाठ करने से) वह ब्रह्मचारी (के सदृश तेजोमय) हो जाता है । पंक्तियों में यदि उसने सहस्रों बार भी अपेय पदार्थों का पान किया है, तो भी (वह) पाठ करने से पवित्र हो जाता है । आठ ब्राह्मणों को इस गायत्री रहस्य को ग्रहण करवा कर अर्थात् बता-समझाकर (वह) ब्रह्मलोक को गमन कर जाता है, ऐसा भगवान् ब्रह्माजी ने याज्ञवल्क्य ऋषि से कहा ॥ ८ ॥

॥ इति गायत्रीरहस्योपनिषत् समाप्ता ॥



## ॥ गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इसमें सविशेष ब्रह्म (श्रीकृष्ण) का प्रतिपादन करते हुए, उसका पर्यवसान निर्विशेष ब्रह्म (निराकार ब्रह्म) के रूप में किया गया है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ मुनिगणों एवं ब्रह्मा जी के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से हुआ है।

सर्वप्रथम मंगलाचरण में भगवान् कृष्ण का स्तवन है, तदुपरान्त गोपालकृष्ण के परमदेवत्व का विवेचन है। इसके बाद गोपालकृष्ण के स्वरूप का निरूपण, गोपाल कृष्ण के रूप का विशिष्ट ध्यान, गोपाल कृष्ण के मन्त्र का जप, गोपालकृष्ण का भजन, गोविन्द की पूजा का विधान, सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में अष्टादशार्ण मन्त्र, अष्टादशार्ण मन्त्र ही आत्मज्ञान-प्राप्ति का साधन, मन्त्र में प्रयुक्त पंचपदों से जगत् की सृष्टि का वर्णन, पंचपदात्मक गोविन्द की स्तुति, गोपालकृष्ण के ध्यान, जप और भजन का विशद वर्णन क्रमशः किया गया है। अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति बताते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः ।

तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाकिलष्टकर्मणे ।

नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १ ॥

‘कृष्’ शब्द सत्तावाचक है और ‘न’ शब्द आनन्दबोधक। इन दोनों की समीपता ही सच्चिदानन्दमय परमेश्वर ‘श्रीकृष्ण’ के नाम का प्रतिपादन करती है। अनायास ही सभी कुछ कर सकने में समर्थ सच्चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्ण को, जो वेदान्त के द्वारा जानने योग्य हैं, वे (हम) सभी की बुद्धि के साक्षी एवं सम्पूर्ण विश्व के गुरु हैं। ऐसे श्रीकृष्ण को सादर नमन-वंदन है ॥ १ ॥

मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः । कः परमो देवः । कुतो मृत्युर्बिभेति । कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति । केनेदं विश्वं संसरतीति ॥ २ ॥

एक बार मुनियों ने पितामह ब्रह्मा जी से प्रश्न किया-हे भगवन् ! कौन देवता सर्वश्रेष्ठ है ? किससे मृत्यु भयभीत होती है ? किसके तत्त्व को सम्यक् रूप से जान लेने के पश्चात् सभी कुछ पूर्णतया ज्ञात हो जाता है ? यह जगत् किसके द्वारा प्रेरित होकर आवागमन के चक्र में भ्रमण करता रहता है ॥ २ ॥

तदु होवाच ब्राह्मणः । कृष्णो वै परमं दैवतम् । गोविन्दामृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभ-ज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति । स्वाहेदं विश्वं संसरतीति ॥ ३ ॥

इन समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् ब्रह्मा जी ने मुनियों से कहा-हे मुनियो ! ‘श्रीकृष्ण’ ही सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। ‘गोविन्द’ से मृत्यु भी भयभीत रहती है। ‘गोपीजन वल्लभ’ के तत्त्व को पूर्णतः जान लेने से सभी कुछ सम्यक् रूप से ज्ञात हो जाता है। ‘स्वाहा’ रूपी मायाशक्ति से प्रेरित हुआ यह समस्त जगत् गमनागमन के चक्र में भ्रमणरत रहता है ॥ ३ ॥

तदु होचुः । कः कृष्णः । गोविन्दश्च कोऽसाविति । गोपीजनवल्लभश्च कः । का स्वाहेति ॥ ४ ॥  
तदनन्तर उन मुनिजनों ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! वे 'श्रीकृष्ण' एवं गोविन्द कौन हैं? गोपीजन-  
वल्लभ कौन हैं? तथा वह 'स्वाहा' कौन है? कृपा करके बताने का अनुग्रह करें ॥ ४ ॥

तानुवाच ब्राह्मणः । पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकलापीप्रेरकः । तन्माया  
चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत् । यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति ॥ ५ ॥ ते होचुः किं  
तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्वजनं तत्सर्वं विविदिषतामाख्याहीति ॥ ६ ॥

ऐसा सुनकर ब्रह्मा जी ने उन मुनिजनों को आश्वस्त करते हुए कहा- हे मुनियो! 'श्रीकृष्ण' ही पापों का  
अपकर्षण (अपहरण) करने वाले हैं। वही गौ, भूमि एवं वेदवाणी के ज्ञातारूप से प्रख्यात सर्वज्ञ हरिरूप में  
गोविन्द हैं। वे गोपीजनवल्लभ -गोपीजनों के विद्या कला आदि के प्रेरक हैं और इन्हीं की मायाशक्ति 'स्वाहा'  
है। यह सभी ब्रह्ममयी है। इस प्रकार से जो मनुष्य उन 'श्रीकृष्ण' नाम से प्रख्यात परब्रह्म का ध्यान एवं जपादि  
के द्वारा नामामृत का पान करता है एवं उनके भजन-कीर्तन आदि में निरन्तर संलग्न रहता है, निश्चय ही वह  
अमृतत्व को प्राप्त होता है। तदनन्तर उन मुनियों ने पुनः पूछा- हे पितामह! ध्यान करने के अनुकूल श्रीकृष्ण का  
कैसा रूप होना चाहिए? उनके नाम-रूप अमृत का रसास्वादन कैसा होता है? तथा उनका भजन-कीर्तन किस  
तरह से किया जाता है? कृपापूर्वक स्पष्टतया बताने का अनुग्रह करें ॥ ५-६ ॥

तदु होवाच हैरण्यो गोपवेषमधाभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजी बोले—हे मुनियो! उन अविनाशी भगवान् 'श्रीकृष्ण' का ध्यान  
करने योग्य रूप का वर्णन इस प्रकार है—उनका वेश ग्वाल-बालों के अनुरूप है, उनका वर्ण (रंग) नवीन जलधर  
की भाँति श्याम है, किशोरावस्था है और वे भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान हैं ॥ ७ ॥

तदिह श्रोका भवन्ति—सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं  
वनमालिनमीश्वरम् ॥ ८ ॥ गोपगोपाङ्गनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् । दिव्यालंकरणोपेतं  
रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥ ९ ॥ कालिन्दीजलकल्पोलसङ्गमारुतसेवितम् । चिन्तयंश्वेतसा कृष्णं मुक्तो  
भवति संसृतेः ॥ १० ॥

इसी सन्दर्भ में ये श्रोक हैं— भगवान् 'श्रीकृष्ण' के नेत्र खिले हुए श्वेत (शुभ्र) कमल के समान हैं, उनके  
श्री अङ्गों की आभा मेघ के सदृश श्याम है, वे विद्युत के समान तेजोमय पीताम्बर को धारण किये हुए हैं, दोनों  
भुजाओं से युक्त हो ज्ञान-मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके गले में लम्बी वनमाला सुशोभित हो रही है, वे महान् ईश्वर  
हैं। गोप एवं गोप-सुन्दरियों के द्वारा वे चारों ओर से आवृत हैं। वे कल्पवृक्ष के नीचे अवस्थित हैं। उनका  
श्रीविग्रह (शरीर) दिव्य वस्त्राभूषणों से सुशोभित है। रत्नजटित सिंहासन पर रत्नमय कमल के मध्य भाग में वे  
विद्यमान हैं। कालिन्दी (यमुना) के जल से उठती हुई चञ्चल लहरों को चूमकर प्रवाहित होने वाली शीतल  
सुवासित वायु उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' की सेवा में रत है। इस मनमोहक रूप में श्रीकृष्ण का मन से ध्यान करने  
वाला भक्त सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ८-१० ॥

तस्य पुना रसनमिति जलभूमीन्दुसंपातः कामादिकृष्णायेत्येकं पदम् । गोविन्दायेति  
द्वितीयम् । गोपीजनेति तृतीयम् । वल्लभायेति तुरीयम् । स्वाहेति पञ्चममिति ॥ ११ ॥ पञ्चपदं  
जपन्यश्वाङ्गं द्यावाभूमिसूर्यचन्द्रमसौ साग्री तद्रूपतया ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् उन भगवान् श्रीकृष्ण के नाम रूपी अमृत के रसास्वादन एवं मन्त्र-जप का उल्लेख करते हैं—

जल (क), भूमि (ल), ईकार, इन्दुः (अनुस्वार -) का समूह ('क्लीं') शब्द ही कामबीज है। इस बीजमन्त्र को प्रारम्भ में रखते हुए 'कृष्णाय' पद का उच्चारण करना चाहिए। अतः 'क्लीं कृष्णाय' पूरे मन्त्र का प्रथम पद हुआ। 'गोविन्दाय' यह द्वितीय पद है। 'गोपीजन' यह तृतीय पद है। 'वल्लभाय' चतुर्थ पद है और 'स्वाहा' यह पञ्चम पद है। पाँच पदों से युक्त यह मन्त्र 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' हुआ। यह पञ्चपदी के नाम से जाना जाता है। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि आदि का प्रकाशक होने के कारण यह चिन्मय मन्त्र पाँच अङ्गों का सम्प्लित रूप है। जो साधक इस मन्त्र के द्वारा जप एवं भजन-कीर्तन आदि करता है, वह परब्रह्ममय भगवान् 'श्रीकृष्ण' को प्राप्त करता है॥ ११-१२॥

**तदेष श्रोकः—** क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभायेति बृहन्भानव्या सकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्ग्ल्यु नान्या गतिः स्यादिति ॥ १३ ॥

इस सन्दर्भ में यह श्रोक है—इस 'क्लीं' कामबीज को प्रारम्भ में रखकर जो साधक 'कृष्णाय,' 'गोविन्दाय,' 'गोपीजन वल्लभाय' पदों का बृहन् भानव्य अर्थात् स्वाहा के साथ उच्चारण करेगा, उसे शोध्रातिशीघ्र (श्रीकृष्ण-मिलनरूपा) श्रेष्ठ सदगति मिलेगी। उस साधक के लिए दूसरी अन्य कोई गति नहीं है॥ १३ ॥

**भक्तिरस्य भजनम् । तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनः कल्पनम् । एतदेव च नैष्कर्म्यम् ॥ १४ ॥**

इन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अटूट भक्ति ही भजन है। इस लोक एवं परलोक के सम्पूर्ण भोगों की आकांक्षा का हमेशा के लिए परित्याग कर देना और 'श्रीकृष्ण' में इन्द्रियों के सहित मन को लगा देना ही वास्तविक भजन का स्वरूप है। यही नैष्कर्म्य अर्थात् वास्तविक संन्यास है॥ १४ ॥

**कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधाऽराधयन्ति ।**

**गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्ने स्वाहाश्रितो जगदैजत्सुरेताः ॥ १५ ॥**

वेदज्ञ विद्वज्ञ उन सच्चिदानन्द स्वरूप 'श्रीकृष्ण' का भिन्न-भिन्न प्रकार से यजन-पूजन सम्पन्न करते हैं। 'गोविन्द' नाम से प्रख्यात उन 'श्रीकृष्ण' की विभिन्न तरह से स्तुति-प्रार्थना करते हैं, वे 'गोपीजन-वल्लभ' (श्याम सुन्दर ही) समस्त लोकों का पालन-पोषण करते हैं तथा संकल्परूप श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न उन परमेश्वर ने ही 'स्वाहा' नामक माया-शक्ति का आश्रय प्राप्त करके इस जगत् को प्रकट किया है॥ १५ ॥

**वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव ।**

**कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्वितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभातीति ॥ १६ ॥**

जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में संव्यास एक ही वायुतत्त्व प्रत्येक शरीर के अन्तः में प्राण आदि पञ्च रूपों से जाना जाता है, वैसे ही 'श्रीकृष्ण' एक होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए इस ऊपर कहे हुए मन्त्र में अलग-अलग नाम से पाँच पदों वाले जाने जाते हैं॥ १६ ॥

**ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति ॥ १७ ॥**

इसके पश्चात् उन समस्त मुनियों ने कहा—'हे पितामह! सम्पूर्ण विश्व के आश्रयभूत परमब्रह्म गोविन्द की उपासना किस प्रकार की जाती है?' कृपापूर्वक उपदेश देने का अनुग्रह करें॥ १७ ॥

**तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिकानलास्वयुगं तदन्तरालाद्यर्णा-खिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाद्वं स ब्रह्माणमादायानङ्गायत्रीं यथावद्व्यालिख्य भूमण्डलं शूलवेष्टिं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्तीन्द्रादिवसुदेवादिपार्थादिनिध्यावीतं यजेत्संध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारैः । तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति ॥ १८ ॥**

तदनन्तर ब्रह्माजी उन मुनियों से भगवान् 'श्रीकृष्ण' के पीठ (गोपाल-यंत्र) का वर्णन करते हुए बोले— हे मुनियो! सर्वप्रथम पीठ पर सुवर्ण से युक्त अष्टदल कमल का निर्माण करे। उसके बीच में एक-दूसरे से उल्टे दो त्रिकोण बनावे, इससे छः कोण विनिर्मित होंगे। इन कोणों के बीच में स्थित कर्णिका में आदि अक्षर स्वरूप कामबीज (कर्ती) का उल्लेख करे। यह बीजमन्त्र सभी कार्यों की सिद्धि का अमोघ माध्यम है। इसके बाद हर एक कोण में 'कर्ली' बीज से युक्त 'कृष्णाय नमः' मन्त्र के एक-एक अक्षर को लिखे। तदनन्तर ब्रह्म-मन्त्र (अष्टादशाक्षर गोपाल-विद्या) तथा काम-गायत्री (कामदेवाय विद्महे, पुष्पबाणाय धीमहि, तत्त्वोऽनङ्गः प्रचोदयात्) का उल्लेख करके आठ वत्रों से आवृत भूमण्डल का निर्माण करे। फिर उपर्युक्त मन्त्र को अङ्ग वासुदेवादि, रुक्मिणी सहित स्वशक्ति तथा इन्द्र, वसुदेव, पार्थ एवं निधि सहित आठ आवरणों से संरक्षित उस पीठ यन्त्र की पूजा सम्पन्न करे। उक्त आवरणों से परिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्र का तीनों सन्ध्याओं के समय ध्यान करने के बाद षोडशोपचार विधि से पूजन करे। इस विधि से पूजन-प्रक्रिया सम्पन्न करने से साधक को (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) सभी कुछ सुलभता से प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

**तदिह श्रोका भवन्ति—एको वशी सर्वगः कृष्ण ईङ्ग्य एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति।**

**तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १९॥**

इस सन्दर्भ में ये श्रोक हैं—सभी को अपने वश में रखने वाले, सर्वत्र व्यास रहने वाले एकमात्र भगवान् 'श्रीकृष्ण' ही सदैव स्तुति करने के योग्य हैं। वे एक रहते हुए भी अनेक रूपों में परिलक्षित होते हैं। जो ज्ञानी मनुष्य उपर्युक्त पीठ पर विद्यमान उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' का प्रत्येक दिन पूजन करते हैं, उन्हों को शाश्वत आनन्दानुभूति होती है, अन्यों को नहीं॥ १९॥

**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**

**तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ २०॥**

जो (श्रीकृष्ण) नित्यों में नित्य, चेतनों के भी परम चेतन हैं और जो सभी की मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं, उन श्रीकृष्ण को पूर्वोक्त पीठ में प्रतिष्ठित करके जो ज्ञानी-भक्त निरन्तर पूजन करता है, उन्हें सनातन सुख मिलता है, अन्यों को नहीं॥ २०॥

**एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात्।**

**तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदेव॥ २१॥**

जो मनुष्य उत्साहपूर्वक श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) के इस (अविनाशी पदस्वरूप) मन्त्र की विधि-विधान से पूजा-प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं और जो उन भगवान् के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु की आकंक्षा नहीं करते, उन (साधकों) के लिए वे गोपालरूपधारी श्यामसुन्दर अपना स्वरूप और अपना परम शाश्वत धाम शीघ्र ही प्रयासपूर्वक दिखा देते हैं॥ २१॥

**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपायति स्म कृष्णः।**

**तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं ब्रजेत्॥ २२॥**

जो भगवान् 'श्रीकृष्ण' सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में ब्रह्माजी को प्रकट करते हैं एवं जो उन (ब्रह्माजी) को वेदविद्या का ज्ञान प्रदान करके उन्हीं के द्वारा उस (विद्या) का गायन करवाते हैं। सम्पूर्ण जीवों को बुद्धि का प्रकाश प्रदान करने वाले उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' की शरण में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से मनुष्य को अवश्य ही जाना चाहिए॥ २२॥

ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम् ।

तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मु-मुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥ २३ ॥

जो श्रेष्ठ साधक 'श्रीगोविन्द' के उस पाँच पद से युक्त प्रख्यात अष्टादशाक्षर मन्त्र को प्रणव से सम्पुटित करके जप करते हैं, उन्हीं को वे अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं । अतः सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को नित्य-शान्ति की प्राप्ति के लिए ऊपर वर्णित मन्त्र जप करना चाहिए ॥ २३ ॥

एतस्मा एव पञ्चपदादभूवनगोविन्दस्य मनवो मानवानाम् ।

दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत् ॥ २४ ॥

इन पाँच पदों से युक्त मन्त्र द्वारा ही अन्य और भी दशाक्षर आदि मन्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं, वे सभी मन्त्र मानव के लिए कल्याणकारी हैं । उन दशाक्षर आदि मन्त्रों का ऐश्वर्य की कामना से युक्त इन्द्रादि देवता न्यास-ध्यान के सहित विधिवत् जप करते हैं ॥ २४ ॥

ते पप्रच्छुस्तदु होवाच ब्रह्मसदनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परमेश्वरः परार्थान्ते सोऽबुध्यत ।  
गोपवेषो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव । ततः प्रणतो मयानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं  
सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः । पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुरभूतेष्वक्षेरेषु विभज्य भविष्यजगद्गूपं प्रकाशयन् ।  
तदिह कादापो लात्पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दोरिदुस्तसंपातात्तदर्कं इति क्लींकारादसृजं कृष्णादाकाशं  
खाद्वायुरुत्तरात्सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति । तदुत्तरात्स्त्रीपुंसादिभेदं सकलमिदं  
सकलमिदमिति ॥ २५ ॥

उन ऋषियों के पूछने पर समाधान करते हुए पितामह बोले-हे मुनिवरो ! मेरी (ब्रह्मा की) दो परार्थ की आयु होती है, उसमें से एक परार्थ आयु भगवान् का निरन्तर ध्यान एवं स्तुति करते हुए बीत गयी, तब उन भगवान् का ध्यान मेरी तरफ आकृष्ट हुआ । वे गोपवेश धारण किये हुए श्यामसुन्दर पूर्ण पुरुषोत्तम रूप में मेरे समक्ष प्रकट हुए । उनके चरण कमलों में भक्तिपूर्वक मैंने नमन-वन्दन किया । उन परमेश्वर ने दयार्द्द-भाव से कृपापूर्वक सृष्टि-संरचना हेतु अपने स्वरूपभूत अष्टादशाक्षर मन्त्र का उपदेश प्रदान किया और अन्तर्धान हो गये । जब मेरे हृदय में सृष्टि-संरचना की इच्छा जाग्रत् हुई, तब अष्टादशाक्षर मन्त्र के उन समस्त अक्षरों में भावी जगत् के रूप का साक्षात्कार करते हुए वे पुनः मेरे समक्ष उपस्थित हो गये । तत्पश्चात् मैंने इस मन्त्र के 'क' अक्षर से जल की, 'ल' अक्षर से पृथ्वी की, 'ई' अक्षर से अग्नि की, अनुस्वार से चन्द्रमा की और इन सबके समुदाय रूप 'क्लीं' से सूर्य की संरचना की । मन्त्र के द्वितीय पद 'कृष्णाय' से आकाश तत्व की एवं आकाश से वायु की सृष्टि की । तृतीय 'गोविन्दाय' पद से कामधेनु गौ और वेदादि विद्याओं को प्रकट किया । उसके पश्चात् चतुर्थ पद 'गोपीजनवल्लभाय' से स्त्री-पुरुषादि की संरचना की और सबसे बाद में पञ्चम पद 'स्वाहा' से सम्पूर्ण जड़-चेतनमय चर-अचर विश्व को प्रादुर्भूत किया ॥ २५ ॥

[ यहाँ जिस अष्टादशार्ण (अष्टादशाक्षर) मन्त्र की विवेचना की है, वह मन्त्र इस प्रकार है- क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा । ]

एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयति । ओंकारालिंकं मनुमावर्तयेत् ।  
सङ्गरहितोऽभ्यानत् ॥ २६ ॥

प्राचीनकाल में राजर्षि चन्द्रध्वज मोहरहित होकर भगवान् 'श्रीकृष्ण' के पूजन एवं ॐकार द्वारा सम्पुटित अष्टादशाक्षर मन्त्र के जप एवं ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके सङ्गरहित हो गये ॥ २६ ॥

**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ २७ ॥**

भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) के उस अविनाशी परमधाम गोलोक का ज्ञानी और प्रेमी भक्तजन निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। आकाश में सूर्य के सदृश वे (भगवान्) परम व्योम में चतुर्दिक् संव्यास एवं प्रकाशस्वरूप विद्यमान हैं ॥ २७ ॥

**तस्मादेनं नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति ॥ २८ ॥**

(उस शाश्वत परम अविनाशी गोलोक धाम की प्राप्ति, पूर्व में कहे हुए अष्टादशाक्षर मन्त्र के जप एवं ध्यान से ही सम्भव होती है,) अतः इस दिव्य मन्त्र का प्रतिदिन ही जप करना चाहिए ॥ २८ ॥

**तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्बूमिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्तुर्थपदाद्वायुश्वरमपदा-द्व्योमेति । वैष्णवं पञ्चव्याहृतिमयं मन्त्रं कृष्णावभासकं कैवल्यस्य सृत्यै सततमावर्तयेत्सततमाव-र्तयेदिति ॥ २९ ॥**

(उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्र के सन्दर्भ में) कुछ मुनिगण ऐसा कहते हैं कि जिसके प्रथम पद (क्लीं) से पृथ्वीतत्त्व, द्वितीय पद (कृष्णाय) से जल तत्त्व, तृतीय पद (गोविन्दाय) से तेजस् (अग्नितत्त्व), चतुर्थ पद (गोपीजनवल्लभाय) से वायुतत्त्व और अन्तिम पञ्चम पद (स्वाहा) से आकाश तत्त्व का प्राकट्य हुआ; वह पञ्चमहाव्याहृतियों से युक्त अष्टादशाक्षर वैष्णव मन्त्र 'श्रीकृष्ण' के स्वरूप को तेजोमय बनाने वाला है। उस मन्त्र का मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत जप एवं ध्यान करते रहना चाहिए ॥ २९ ॥

**तदत्र गाथा:— यस्य चाद्यपदाद्बूमिर्द्वितीयात्सलिलोद्भवः । तृतीयात्तेज उद्बूतं चतुर्थाद्वन्धवाहनः ॥ ३० ॥ पञ्चमादम्बरोत्यत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत् । चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम् ॥ ३१ ॥**

इस सन्दर्भ में यहाँ पर यह गाथा प्रसिद्ध है— जिस (अष्टादशाक्षर) मन्त्र के प्रथम पद से पृथ्वी उत्पन्न हुई, द्वितीय पद से जलतत्त्व का आविर्भाव हुआ, तृतीय पद से तेजस् (अग्नि) का प्राकट्य हुआ, चतुर्थ पद से वायु तत्त्व प्रकट हुआ और पंचम पद से आकाश तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ, उस एकमात्र अष्टादशाक्षर मन्त्र का ही सर्वदा जप एवं ध्यान करना चाहिए। उस मन्त्र के जप द्वारा ही राजर्षि चन्द्रध्वज ने 'श्रीकृष्ण' के अविनाशी शाश्वत गोलोक धाम को प्राप्त किया ॥ ३०-३१ ॥

**ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।**

**यत्तत्पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ३२ ॥**

वह गोलोक धाम परम पवित्र, विमल, शोक-विहीन, लोभ आदि से रहित, समस्त प्रकार की आसक्ति से रहित है। वह ऊपर कहे पाँच पदों वाले मन्त्र से भिन्न नहीं है। वह मन्त्र स्वयं साक्षात् वासुदेवमय ही है, उन वासुदेव से भिन्न दूसरा और कुछ भी नहीं है ॥ ३२ ॥

**तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरहतलासीनं सततं समरूद्धणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि ॥ ३३ ॥**

वे भगवान् गोविन्द पञ्चपद मन्त्र स्वरूप हैं। उनका श्रीविग्रह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। वे वृन्दावन में स्थित कल्पवृक्ष के नीचे (रत्नाटित सिंहासन पर) सदैव विराजमान रहते हैं। मैं (ब्रह्मा) मरुदगणों के साथ ॐ नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे। विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमः ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्वरूप है, जो जगत् के पालनकर्ता एवं संहार के एकमात्र कारण हैं और स्वयं ही विश्वमय एवं एकमात्र इस जगत् के अधिष्ठाता हैं, ऐसे उन भगवान् गोविन्द को बारम्बार प्रणाम है ॥३४॥  
नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे । कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३५ ॥

जो विज्ञानमय तथा परम आनन्दमय हैं और जो प्राणिमात्र को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेने में पूर्ण सक्षम हैं, ऐसे उन गोपसुन्दरियों के प्राणाधार भगवान् श्री गोविन्द के लिए बारम्बार नमन-वन्दन है ॥ ३५ ॥

**नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने । नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥ ३६ ॥**

जो अपने दोनों चक्षुओं में कमल की सुन्दर आभा को धारण किये हुए हैं, गले में कमल पुष्पों की माला धारण किये हुए हैं, जिनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है, ऐसे उन भगवान् कमलापति (श्रीकृष्ण) को नमस्कार है ॥ ३६ ॥

**बहर्षीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे । रमामानसंहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३७ ॥**

जिनके मस्तक पर मोरपंख सुशोभित हो रहा है, जिन (श्रीकृष्ण) में सभी का मन रमण करता रहता है, जिनकी बुद्धि और स्मरणशक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती और जो रमा, गोपसुन्दरीगण एवं श्रीराधा जी के मानस के राजहंस हैं, ऐसे उन भगवान् गोविन्द को बारम्बार प्रणाम है ॥ ३७ ॥

**कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने । वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥ ३८ ॥**

जो कंस के वंश का विनाश करने वाले तथा केशी एवं चाणूर के घातक हैं। जो भगवान् वृषभध्वज (शिवजी) के भी वन्दनीय हैं, उन पार्थसारथि भगवान् 'श्रीकृष्ण' के लिए बारम्बार नमन-वन्दन है ॥ ३८ ॥

**वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥ ३९ ॥**  
**वल्लीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ ४० ॥**

वंशी (वेणु) वादन ही जिनकी सहज वृत्ति है, जो समस्त गौओं के पालक हैं तथा जो कालियानाग का मान-मर्दन करने में समर्थ हैं। कालिन्दी के सुन्दर तट पर कालियाहृद में नाग के फणों पर जो चञ्चल गति से अविराम लास्य-लीला में संलग्न हैं। जिनके कानों में स्थित कुण्डल गतिशीलता के कारण हिलते हुए झिलमिला रहे हैं, जिनके श्री-अंग खिले हुए कमल की माला से सुशोभित हो रहे हैं और जो नर्तन में संलग्न होने के कारण अत्यधिक शोभायमान हो रहे हैं, उन शरणागत वत्सल भगवान् 'श्रीकृष्ण' को बारम्बार नमस्कार है ॥ ३९-४० ॥

**नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च । पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तसुहारिणे ॥ ४१ ॥**

जो (भगवान् श्रीकृष्ण) पाप एवं पापी-असुरों के विध्वंशक हैं, (ब्रजवासियों की रक्षा हेतु अपने हाथ की एक अँगुली पर) गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले हैं, पूतना के प्राणों का अन्त करने वाले और तृणावर्त असुर का संहार करने वाले हैं (उन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है) ॥ ४१ ॥

**निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे । अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ ४२ ॥**

जो कलाओं से परे हैं, जिनमें मोह का सर्वथा अभाव है, जो स्वरूप से ही परम पवित्र एवं श्रेष्ठ हैं, अशुद्ध स्वभाव एवं आचरण से युक्त रहने वाले असुरों के शत्रु हैं और जिनसे पृथक् और कोई नहीं है, ऐसे महान् भगवान् 'श्रीकृष्ण' को बारम्बार प्रणाम है ॥ ४२ ॥

**प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर । आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥ ४३ ॥**

हे परम आनन्दस्वरूप परमेश्वर! (आप) मुझ पर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। हे प्रभो! मुझे आधि-व्याधि (मानसिक एवं शारीरिक व्यथा) रूपी सर्पों ने डस लिया है, कृपा करके मेरा उन व्यथाओं से उद्धार करें ॥ ४३ ॥

श्रीकृष्ण रुक्मणीकान्त गोपीजनमनोहर। संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥ ४४ ॥

हे श्रीकृष्ण! हे रुक्मणीवल्लभ! हे गोप-सुन्दरियों के चित्त का हरण करने वाले श्याम सुन्दर! मैं इस संसार सागर में झूब रहा हूँ। हे जगद्गुरो! आप मेरा उद्घार करें॥ ४४ ॥

केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन। गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥ ४५ ॥

हे केशव! हे क्लेशहरण करने में समर्थ नारायण! हे जनार्दन! हे परमानन्दमय गोविन्द! हे माधव! आप कृपा करें, मेरा उद्घार करें॥ ४५ ॥

अथेवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति  
होवाच हैरण्यगर्भः ॥ ४६ ॥

हे श्रेष्ठ मुनियो! जिस प्रकार मैं (ब्रह्मा) इन स्तुतियों के द्वारा परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करता हूँ, वैसे ही तुम सभी लोग भी पाँच पदों से युक्त ऊपर कहे हुए अष्टादशाक्षर मन्त्र का जप एवं भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उनकी उपासना-आराधना में निरन्तर संलग्न रहो। इसके द्वारा संसार-सागर से पार हो जाओगे। इस प्रकार से पितामह ब्रह्मा जी ने उन ऋषि-मुनियों को उपदेश प्रदान किया॥ ४६ ॥

अमुं पञ्चपदं मन्त्रमार्वत्येद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत् ॥ ४७ ॥ अनेजदेकं  
मनसो जवीयो नैनदेवा आपूर्वन्पूर्वमर्षदिति ॥ ४८ ॥ तस्मात्कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत् तं  
रसयेत् तं भजेत् तं भजेदित्यों तत्सदित्युपनिषत् ॥ ४९ ॥

जो श्रेष्ठ मनुष्य इस पूर्वोक्त पञ्चपद युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्र का निरन्तर जप एवं भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, निश्चय ही वह भगवान् के उस अनुपम परम अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है। वह परमपद गतिशील नहीं, वरन् नित्य एवं स्थिर है; किन्तु फिर भी वह मन से भी अधिक तीव्र गति वाला है। भगवन्मय होने से ही वह अद्वितीय है। वहाँ तक देवता या वाणी आदि इन्द्रियाँ कभी नहीं पहुँच सकती हैं। इन्द्रियों की जहाँ तक गति है, वहाँ तक वह पूर्व से ही पहुँचा हुआ रहता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ही परम शाश्वत देव हैं। उन भगवान् का सतत चिन्तन करते रहना चाहिए। मन्त्र जप द्वारा उनके नाम-रूप-अमृत का सतत रसास्वादन करना चाहिए और उन्हीं भगवान् का नित्य नियमित भजन करते रहना चाहिए। उन्हीं के भजन में सदैव संलग्न रहे। ॐ (परमात्मा) ही सत्य है। इस प्रकार यह उपनिषद् (विद्या) पूर्ण हुई॥ ४७-४९ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ चतुर्वेदोपनिषद् ॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। इसमें चारों वेदों के प्राकट्य का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम सृष्टि के शुभारम्भ का उल्लेख है। उसी क्रम में ध्यानावस्थित ब्रह्माजी के चारों मुखों से जो कि चारों दिशाओं में अवस्थित थे, क्रमशः व्याहतियाँ, छन्द एवं वेद प्रकट होने का उल्लेख है। तत्पश्चात् विराट् पुरुष के व्यापक स्वरूप का चित्रण किया गया है। अन्त में इस उपनिषद् के पारायण की फलश्रुति बताई गई है।

**ॐ अथातो महोपनिषदमेव तदाहुः ।** एको ह वै नारायण आसीत् । न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निः । न वायुः नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः । स एकाकी नर एव । तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत् । ता इमा आपः । ता एते नो हिरण्यमयमन्नम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत । स ध्यातपूर्वामुखो भूत्वा भूरिति व्याहतिः गायत्रं छन्द ऋग्वेदः । पश्चिमामुखो भूत्वा भूरिति व्याहतिस्त्रैषुभं छन्दः यजुर्वेदः । उत्तरामुखो भूत्वा भुवरिति व्याहतिर्जागतं छन्दः सामवेदः । दक्षिणामुखो भूत्वा जनदिति व्याहतिरानुषुभं छन्दोऽथर्ववेदः ॥ १ ॥

अब इस महान् उपनिषद् (चतुर्वेदोपनिषद्) के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जाता है। सृष्टि से पूर्व सर्व प्रथम एक मात्र नारायण ही थे। न ब्रह्मा और न ही ईशान (शिव) थे। इनके अतिरिक्त पृथ्वी, वायु, आकाश, नक्षत्र एवं सूर्य आदि में से कोई नहीं था। वह एक मात्र अकेला 'नर' (विराट् पुरुष) ही था। ध्यान में स्थित तपस्यारत उस नर (विराट् पुरुष) के ललाट (मस्तक) से स्वेद (पसीना) गिरा। वही यह आपः (जल) हुआ। वही यह (आपः) हमारे लिए हिरण्यमय अन्न रूप है और उससे ही चार मुख वाले ब्रह्मा का प्राकट्य हुआ। उस (ब्रह्मा) ने ध्यानावस्था में पूर्वाभिमुख होकर 'भूः' व्याहति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद; पश्चिमाभिमुख होकर 'भूः' व्याहति, त्रिष्टुप् छन्द एवं यजुर्वेद; उत्तराभिमुख होकर 'भुवः' व्याहति, जगती छन्द एवं सामवेद तथा अन्त में दक्षिणाभिमुख होकर 'जनत्' (सम्भवतः जनः) व्याहति, अनुष्टुप् छन्द एवं अथर्ववेद को प्रकट किया ॥ १ ॥

[ यहाँ चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा चार व्याहतियों को प्रकट करने का वर्णन है, लगता है पाठभेद के कारण 'भूः' व्याहति का दो बार उल्लेख हुआ; किन्तु 'स्वः' का उल्लेख ही नहीं हुआ । ]

सहस्रशीर्ष देवं सहस्राक्षं विश्वसंभवम् । विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥ २ ॥  
विश्वमेवेदं पुरुषं तं विश्वमुपजीवति । ऋषिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे तं विश्वरूपिणम् ॥ ३ ॥  
पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम् । हृदये चाप्यथोमुखं सतस्यत्यैशीत्कराभिश्च ॥ ४ ॥  
तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः । तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्धर्वा व्यवस्थिता ॥ ५ ॥  
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्मा स ईशानः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥ ६ ॥

वे अविनाशी देव (विराट् पुरुष) जिनके कि सहस्रों सिर एवं सहस्रों नेत्र हैं। सम्पूर्ण विश्व को प्रादुर्भूत करने वाले वे परमदेव हमेशा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। (वे देव) नारायण एवं हरि आदि शब्द से भी प्रख्यात हैं। उन ऋषिष्य स्वरूप सम्पूर्ण जगत् के स्वामी समुद्रशायी विश्व-रूप परम विराट् पुरुष का आश्रय प्राप्त करके ही यह संसार जीवित-जाग्रत् है। (यह विराट् पुरुष) कमल कोश के समान हृदय में अधोमुख होकर एक कोश के रूप में लटका है, जो अपनी शक्तियों से ही सभी कुछ करता रहता है। उसके मध्य में श्रेष्ठ अग्नि स्थित है, जिसकी ज्वाला चारों ओर मुखवाली अर्थात् लपकने वाली है। उसके मध्य में ही वह्निशिखा है, जो 'अणीय' के ऊपर प्रतिष्ठित है। उस श्रेष्ठ शिखा के मध्य में ही वह विराट् पुरुष परब्रह्म स्थित है। वह ही ब्रह्मा, शिव, अक्षर (ब्रह्म) तथा परम प्रभु स्वयं प्रकाश रूप है ॥ २-६ ॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति । अनुपनीतः उपनीतो भवति । सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स सूर्यपूतो भवति । स सोमपूतो भवति । स सत्यपूतो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति । गायत्र्याः षष्ठिसहस्राणि जसानि भवन्ति । इतिहासपुराणानां सहस्राणि जसानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जसं भवति । आचक्षुषः पङ्किं पुनाति । आससमात् पुरुषं पुनाति । जाप्येन अमृतत्वं च गच्छति अमृतत्वं च गच्छति इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण (साधक) इस महोपनिषद् का अध्ययन (पाठ) करता है, वह यदि अश्रोत्रिय है, तो श्रोत्रिय हो जाता है । अनुपनीत है, तो उपनीत अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने वाला हो जाता है । वह अग्नि की तरह पवित्र होता है । वायु की तरह पवित्र होता है । सूर्य की तरह पवित्र होता है । सोम की तरह पवित्र होता है और सत्य की तरह पवित्र होता है । उसे समस्त देवगण जानने लगते हैं । उसने मानो सभी तीर्थों में स्नान कर लिया तथा सभी प्रकार के यज्ञ कर चुका (ऐसा समझना चाहिए) । उसने गायत्री मन्त्र का साठ हजार जप कर लिया तथा इतिहास-पुराणों का भी मानो सहस्रों बार जप (पारायण) कर चुका (जानना चाहिए), वह दस हजार ॐकार (प्रणव) का जप भी कर चुका । वह पुरुष दृष्टिपात मात्र से मनुष्यों की पंक्ति को अर्थात् समूहों को पवित्र कर देता है । सातवीं पीढ़ी तक मनुष्यों को पवित्र कर देता है एवं जो इस उपनिषद् का पाठ (अध्ययन) करता है, वह अमृतत्व को निश्चयपूर्वक प्राप्त कर लेता है, ऐसा ही भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा है ॥ ७ ॥

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायंस्ते देवा रुद्रमपृच्छंस्ते देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति । भूस्त्वादिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा शान्तिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम् । अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिस्त्रिविदाम देवा नमस्याम धूर्तेरमृतं मृतं मर्त्यं च सोमसूर्यपूर्वजगदधीतं वा यदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं ग्राहं ग्राहेण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण ग्रसति तस्मै महाग्रासाय नमः ॥ ८ ॥

समस्त देवगण स्वर्गलोक में उपस्थित हुए और दोनों हाथ उठाकर भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए उन्होंने पूछा-हे भगवन्! तुम्हारा आदि-भूः, मध्य भुवः, शीर्ष (अन्तिम) स्वः है, तुम विश्वरूप हो । तुम्हीं ब्रह्मरूप में एक हो । (जीव-ब्रह्म रूप) द्विविध, (जीव-ब्रह्म-माया रूप) त्रिविध एवं (परम) शान्ति हो । हुत (हवन किया गया), अहुत (हवन न किया गया), दिया गया, न दिया गया, सर्व (सब कुछ), असर्व (कुछ भी नहीं), विश्व-अविश्व, किया-न किया, पर-अपर-परायण सभी कुछ तुम ही हो । हम सोमरूपी अमृत का पान करने वाले हों । हमें दिव्य ज्योति की प्राप्ति हो । हे देव! हम आपको नमन-वन्दन करते हैं । अमृत, मृत, मर्त्य, सोम, सूर्य, पूर्व संसार, अधीत या जो अक्षर अर्थात् अविनाशी, प्राजापत्य, सौम्य और सूक्ष्म है, उसे ग्राह को ग्राह से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से ग्रसित (प्राप्त) करते हैं । उस महाग्रास को (भगवान् रुद्र को) प्रणाम है ॥ ८ ॥

॥ इति चतुर्वेदोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ चाक्षुषोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में अपने नाम के अनुरूप चक्षुरोग-नेत्ररोग दूर करने की सामर्थ्य है। इसमें सर्वप्रथम इस उपनिषद् की महत्ता बतलाई गई है। तदुपरान्त इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का उल्लेख है। तत्पश्चात् चक्षु के अभिमानी देवता 'सूर्यदेव' से नेत्ररोग दूर करने की प्रार्थना है, जिसमें उनसे एक ही प्रार्थना की गई है कि हे भगवन्! इस अज्ञान रूपी अन्धकार को हम सभी से दूर कर दें और तमोमय बन्धन में आबद्ध हुए हम सभी प्राणिजगत् को अपना दिव्य तेज प्रदान करके मुक्त करने की कृपा करें। इस प्रार्थना के साथ उपनिषद् का समापन किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

ॐ अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षूरोगहरां व्याख्यास्यामः । यच्चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यन्ति । चाक्षुषी दीसिर्भविष्यतीति । तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्य ऋषिः । गायत्री छन्दः । सूर्यो देवता । चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः । ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव । मां पाहि पाहि । त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय । मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय । यथाऽहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय । कल्प्याणं कुरु कुरु । यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुः प्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय । ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय । ॐ नमः करुणाकरायामृताय । ॐ नमः सूर्याय । ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः । खेचराय नमः । महते नमः । रजसे नमः । तमसे नमः । असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय । उष्णो भगवाज्छुचिरूपः । हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः । य इमां चक्षुष्पतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति । न तस्य कुले अन्धो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति ॥ १ ॥

अब पाठ मात्र से सिद्ध हो जाने वाली चाक्षुषी विद्या की व्याख्या करते हैं। यह विद्या नेत्र के रोगों को पूर्णतया विनष्ट करने में समर्थ है। इससे नेत्र तेजोमय हो जाते हैं। इस चाक्षुषी विद्या के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि अहिर्बुध्य हैं। छन्द-गायत्री है और देवता-सूर्य (सविता) भगवान् हैं। नेत्र रोग के निवारणार्थ इसका विनियोग किया जाता है। हे चक्षु के अभिमानी सूर्य देवता! आप चक्षु में चक्षु के तेजोमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायें। आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें। मेरे नेत्र-रोगों का शीघ्र शमन करें, शमन करें। मुझे अपना स्वर्ण-सदृश दिव्य तेज (प्रकाश) दृष्टिगोचर करा दें, दृष्टिगोचर करा दें। जिससे कि मैं अन्धा न होऊँ, कृपा करके वैसा ही कोई उपाय करें, उपाय करें। (हम सभी का) कल्प्याण करें, कल्प्याण करें। मेरे द्वारा पूर्वजन्म में अर्जित पापों का, जो दर्शनशक्ति के अवरोधक हैं, उन सभी को समूल नष्ट कर दें। मूल-सहित उखाड़ दें। नेत्रों को दिव्य तेजोमय बनाने वाले दिव्य प्रकाश स्वरूप भगवान् भास्कर के लिए नमन-वन्दन है। ॐ कार रूप भगवान् करुणामय अमृतस्वरूप को नमस्कार है। भगवान् सूर्य (सविता) देवता को नमस्कार है। नेत्र के तेजः स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देवता को नमन है। आकाश में विचरण (विहार) करने वाले भगवान् सूर्य को नमन-वन्दन है। महान् श्रेष्ठतम् स्वरूप को नमस्कार है। (सभी में सक्रियता प्रादुर्भूत करने वाले) रजोगुण स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देव

को प्रणाम है। (सदैव अंधकार को अपने अन्तः में समाहित कर लेने वाले) तमोगुण के आत्रय प्रदाता भगवान् सूर्य को नमस्कार है। हे भगवन् ! आप हम सभी को असत् से सत् की ओर ले चलें। अज्ञानरूपी अन्धकार से ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर गमन करायें। मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलें। ऊष्मा स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देव शुद्ध-स्वरूप हैं। हंसमय भगवान् सूर्य शुचि एवं अप्रतिमरूप हैं। उन (सविता देव) के तेजोमय रूप की तुलना करने वाला अन्य कोई भी नहीं है। जो विद्वान् मनीषी ब्राह्मण इस चाक्षुषीविद्या का नित्य प्रति पाठ करता है, उसे चक्षु से सम्बन्धित किसी भी तरह के रोग नहीं होते। उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता। इस विद्या को आठ ब्राह्मणों (ब्रह्मनिष्ठों) को ग्रहण (याद) करा देने पर यह विद्या सिद्ध हो जाती है ॥ १ ॥

**ॐ विश्वरूपं धृणिनं जातवेदसं । हिरण्मयं पुरुषं ज्योतिरूपं तपन्तम् ।**

**विश्वस्य योनिं प्रतपन्तमुग्रं पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ २ ॥**

भगवान् भास्कर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, सम्पूर्ण जगत् जिनका स्वरूप है, जो तीनों कालों को जानने वाले तथा अपनी किरणों से शोभायमान हैं, जो प्रकाशस्वरूप, हिरण्मय पुरुषरूप में तस हो रहे हैं, इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकट करने वाले हैं, उन प्रचण्ड प्रकाश से युक्त भगवान् सविता देवता को हम सभी नमस्कार करते हैं। ये भगवान् सूर्य नारायण सम्पूर्ण प्रजाओं (प्राणियों) के सामने प्रत्यक्ष रूप में उदित हो रहे हैं ॥ २ ॥

**ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिन्यहोवाहिनी स्वाहा । ॐ वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाथमानाः । अपध्वान्तमूर्णौहि पूर्विं चक्षुर्मुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् । पुण्डरीकाक्षाय नमः । पुष्करेक्षणाय नमः । अमलेक्षणाय नमः । कमलेक्षणाय नमः । विश्वरूपाय नमः । महाविष्णवे नमः ॥ ३ ॥**

भगवान् आदित्य को नमन-वन्दन है। उन (भगवान् भास्कर) की प्रभा दिन का वहन करने वाली है। हम उन सूर्यदेव के लिए श्रेष्ठ आहुति प्रदान करते हैं। प्रियमेधा आदि समस्त ऋषिगण श्रेष्ठ पंखों से युक्त पक्षी-रूप में भगवान् सूर्यदेव के समक्ष उपस्थित होकर इस प्रकार निवेदन करने लगे-हे भगवन् ! इस अज्ञान रूपी अन्धकार को हम सभी से दूर कर दें, हमारे नेत्रों को प्रकाश से परिपूर्ण बना दें और तमोमय बन्धन में आबद्ध हुए हम सभी प्राणिजगत् को अपना दिव्य तेज प्रदान कर मुक्त करने की कृपा करें। पुण्डरीकाक्ष भगवान् को नमस्कार है। पुष्करेक्षण को नमस्कार है। अमलेक्षण को नमस्कार है। कमलेक्षण को नमस्कार है। विश्वरूप को प्रणाम है। भगवान् महाविष्णु को नमन-वन्दन है ॥ ३ ॥

**ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥**

**॥ इति चाक्षुषोपनिषत् समाप्ता ॥**



## ॥ तुलस्युपनिषद् ॥

परवर्ती कालीन उपनिषदों में एक 'तुलसी' उपनिषद् भी है। 'तुलसी' चिरपरिचित एक पौधा है, जो आस्तिक-नास्तिक दोनों के लिए ग्राह्य है। आस्तिक जन बड़ी श्रद्धा से 'तुलसी का पौधा' आरोपित करते हैं, उसमें देवी भाव रखते हुए नित्य प्रति स्नान, गन्ध, पुष्प, धूप-दीप आदि से पूजन करते हैं- आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। नास्तिक जन पूजा-पाठ भले ही न करें, परन्तु तुलसी की औषधीय गुणों के कारण इसकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करते हैं।

इस उपनिषद् में तुलसी के आध्यात्मिक गुणों को उजागर किया गया है। सर्वप्रथम इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द आदि का वर्णन है, तदुपरान्त उसकी महिमा का प्रतिपादन है। तुलसी का पंचांग (मूल, तना, पत्र, पुष्प, बीज) सेवन रोगोपचार एवं आध्यात्मिक गुणों के विकास में नितान्त उपयोगी है। रात्रि में, पर्वकाल में इसके पते नहीं तोड़ने चाहिए। इसे अमृतरूपा एवं पापनाशिनी कहा गया है। यह भगवान् विष्णु को अतीव प्रिय है। अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति बताते हुए, इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

**अथ तुलस्युपनिषदं व्याख्यास्यामः । नारद ऋषिः । अथर्वाङ्गिरश्छन्दः । अमृता तुलसी देवता । सुधा बीजम् । वसुधा शक्तिः । नारायणः कीलकम् । श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्चरीं अनन्तां अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णुवल्लभां मृत्युजन्मनिर्बर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीं अभिवन्दनाद्रोगनाशिनीं सेवनान्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्वारिद्रिघ्नाशिनीं मूलमृलेपनान्महापापभञ्जनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति । वृथा न छिन्न्यात् । दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात् । रात्र्यां न स्पृशेत् । पर्वणि न विचिन्वेत् । यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति । श्रीतुलस्यै स्वाहा । विष्णुप्रियायै स्वाहा । अमृतायै स्वाहा । श्रीतुलस्यै विद्धहे विष्णुप्रियायै धीमहि । तत्रो अमृता प्रचोदयात् ॥ १ ॥**

अब तुलसी उपनिषद् का वर्णन किया जाता है। जिसके नारद ऋषि, अथर्वाङ्गिरस छन्द, अमृतरूपा तुलसी देवता, अमृत बीज, वसुधा (धरती) शक्ति एवं नारायण कीलक हैं। यह कृष्ण रंग (वर्ण) एवं कृष्ण शरीर वाली है। यह ऋग्वेद स्वरूपा, यजुर्वेद मन वाली, ब्रह्माथर्ववेद प्राण वाली, वेदांग एवं पुराणों में सुविख्यात (कल्प आदि वेदांग तथा पुराणों के द्वारा जिनकी महिमा का ज्ञान होता है), अमृत के द्वारा उद्भूत, अमृत रस मंजरी तुल्य, अन्त रहित, अनेक प्रकार के रस तथा भोग प्रदान करने वाली, दर्शन से पाप विनष्ट करने वाली, परम वैष्णव रूप, भगवान् विष्णु को प्रिय, आवागमन समाप्त करने वाली, स्पर्श करने से पावन बनाने वाली, अभिनन्दन करने से रोगों को समाप्त करने वाली, सेवन करने से मृत्यु नाशक, पूजन में भगवान् विष्णु को समर्पित करने से संकट निवारण करने वाली, भक्षण करने से प्राण शक्ति प्रदान करने वाली, प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करने से दरिद्रता का नाश करने वाली तथा मूल (जड़) की मिट्टी लगाने से महान् पापों का भंजन (विनाश) कर देने वाली है। (तुलसी की) गंध लेने से शरीरस्थ अन्तः के मल का विनाश करने वाली है। जो इस प्रकार से जानता है, वही सच्चा वैष्णव है। तुलसी को अनावश्यक नहीं तोड़ना चाहिए। जहाँ भी दिखाई

पढ़े, तुरन्त परिक्रमा करनी चाहिए। रात्रि में इसका (तुलसी का) स्पर्श न करे। पर्वों के दिन (तुलसी को) नहीं तोड़ना चाहिए। (पर्वों पर) यदि कोई तोड़ता है, तो वह विष्णुद्ग्रोही हो जाता है। विष्णु भगवान् को प्रिय अमृतरूपा श्रीतुलसी को नमस्कार है। श्रीतुलसी को हम (गुरु-शास्त्रानुसार) जानते हैं, विष्णु भगवान् को प्रिय श्रीतुलसी का ध्यान करते हैं। (इसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं।) अमृतस्वरूपा (वह) हमें (अमृत प्राप्ति के लिए) प्रेरित करे॥ १॥

**अमृतेऽमृतरूपासि अमृतत्वप्रदायिनि । त्वं मामुद्धर संसारात् क्षीरसागरकन्यके ॥ २ ॥**  
**श्रीसखि त्वं सदानन्दे मुकुन्दस्य सदा प्रिये । वरदाभयहस्ताभ्यां मां विलोकय दुर्लभे ॥ ३ ॥**

हे क्षीरसागर की कन्या ! तुम अमृत हो और अमृतरूपा होकर अमृतत्व प्रदान करने वाली हो, इसलिए संसार-सागर से मेरा उद्घार करो। हे लक्ष्मी जी की सखी ! तुम आनन्दमय हो एवं सदैव विष्णु को प्रिय हो। इसलिए हे दुष्टाप्य ! तुम अपने हाथों में वर एवं अभय मुद्रा धारण करके (मेरी ओर कृपा की दृष्टि से) देखो॥ २-३॥

**अवृक्षवृक्षरूपासि वृक्षत्वं मे विनाशय । तुलस्यतुलरूपासि तुलाकोटिनिभेऽजरे ॥ ४ ॥**  
**अतुले त्वतुलायां हि हरिरिकोऽस्ति नान्यथा । त्वमेव जगतां धात्री त्वमेव विष्णुवल्लभा ॥ ५ ॥**

हे तुलसी ! अवृक्ष (चैतन्य रूप) होते हुए भी तुम वृक्ष रूप में दिखाई देती हो, (इसलिए) मेरी जड़ता (वृक्षत्व) का विनाश करो। हे अतुल रूप वाली ! तुम्हारी कोई तुलना नहीं है, तुम जराविहीन हो, करोड़ों तुलनाओं से तुम्हारी तुलना नहीं की जा सकती। हे अतुले ! तुम्हारे समान केवल भगवान् विष्णु ही हैं, दूसरा कोई नहीं। तुम भगवान् विष्णु को प्रिय हो तथा संसार का पालन करने वाली हो॥ ४-५॥

**त्वमेव सुरसंसेव्या त्वमेव मोक्षदायिनी । त्वच्छायायां वसेल्लक्ष्मीस्त्वन्मूले विष्णुरव्ययः ॥ ६ ॥**

तुम देवताओं द्वारा सेवित हो तथा मुक्ति प्रदान करने वाली हो। तुम्हारी जड़ में भगवान् विष्णु तथा छाया में लक्ष्मी का निवास होता है॥ ६॥

**समन्तादेवताः सर्वाः सिद्धचारणपत्रगाः । यन्मूले सर्वतीर्थानि यन्मध्ये ब्रह्मदेवताः ॥ ७ ॥**  
**यदग्रे वेदशास्त्राणि तुलसीं तां नमाम्यहम् । तुलसि श्रीसखि शुभे पापहारिणि पुण्यदे ॥ ८ ॥**  
**नमस्ते नारदनुते नारायणमनः प्रिये । ब्रह्मानन्दाश्रुसंजाते वृन्दावननिवासिनि ॥ ९ ॥**

जिसके मूल में सभी देवता, सिद्ध, चारण, नाग एवं तीर्थ चारों तरफ से स्थित हैं तथा जिसके मध्य में ब्रह्म देवता निवास करते हैं। जिनके अग्रभाग में वेद शास्त्रों का निवास है। उन तुलसी को मैं नमस्कार करता हूँ। हे तुलसी ! तुम लक्ष्मी की सहेली, कल्याणप्रद, पापों का हरण करने वाली तथा पुण्यदात्री हो। ब्रह्म के आनन्द रूपी आँसुओं से उत्पन्न होने वाली तुलसी तुम वृन्दावन में निवास करने वाली हो। नारद के द्वारा स्तुत्य आपको नमस्कार है, नारायण भगवान् के मन को प्रिय लगने वाली आपको नमस्कार है॥ ७-९॥

**सर्वावयवसंपूर्णे अमृतोपनिषद्रसे । त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाद्विदुस्तरात् ॥ १० ॥**  
**सर्वेषामपि पापानां प्रायश्चित्तं त्वमेव हि । देवानां च ऋषीणां च पितृणां त्वं सदा प्रिये ॥ ११ ॥**  
**विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्वते । वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितृणां नोपगच्छति ॥ १२ ॥**  
**तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै । आसुरी सा भवेत् पूजा विष्णुप्रीतिकरी न च ॥ १३ ॥**  
**यज्ञं दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम् । तर्पणं मार्जनं चान्यन्नं कुर्यात्तुलसीं विना ॥ १४ ॥**  
**तुलसीदारुमणिभिः जपः सर्वार्थसाधकः । एवं न वेद यः कश्चित् स विप्रः श्वपचाधमः ॥ १५ ॥**

हे सर्वांगपूर्णे ! तुम अमृतरूपी उपनिषद् रस रूप हो, इसलिए हे कल्याण करने वाली ! महापाप रूपी दुस्तर समुद्र से हमारा उद्धार करो। हे तुलसी ! तुम समस्त पापों की प्रायश्चित्त रूप हो, (इसलिए) देवताओं, ऋषियों और पितरों को सदैव प्रिय हो। जो ब्राह्मण श्राद्ध में तुलसी प्रयोग नहीं करते, वह श्राद्ध पितरों तक नहीं पहुँचता है, व्यर्थ हो जाता है। यदि कोई तुलसी पत्र के बिना भगवान् की पूजा करता है, तो वह पूजा आसुरी हो जाती है, वह (पूजा) विष्णु भगवान् को प्रिय नहीं होती। बिना तुलसी के यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, तर्पण, मार्जन तथा देवार्चन आदि नहीं करना चाहिए। तुलसी के मनकों की माला समस्त मनोकामनाओं को पूरा करने वाली है। इस प्रकार जो ब्राह्मण नहीं जानता, वह चाण्डाल से भी अधम है॥ १०-१५॥

इत्याह भगवान् ब्रह्माणं नारायणः, ब्रह्मा नारदसनकादिभ्यः सनकादयो वेदव्यासाय, वेदव्यासः शुकाय, शुको वामदेवाय, वामदेवो मुनिभ्यः, मुनयो मनुभ्यः प्रोचुः। य एवं वेद स स्त्रीहत्यायाः प्रमुच्यते। स वीरहत्यायाः प्रमुच्यते। स ब्रह्महत्यायाः प्रमुच्यते। स महाभयात् प्रमुच्यते। स महादुःखात् प्रमुच्यते। देहान्ते वैकुण्ठमवाप्नोति वैकुण्ठमवाप्नोति। इत्युपनिषत्॥१६॥

इस प्रकार यह तथ्य भगवान् नारायण ने ब्रह्माजी को बताया, ब्रह्माजी ने नारद और सनकादि ऋषियों को, सनकादि ने वेदव्यास को, वेदव्यास ने शुकदेव को बताया, शुकदेव ने वामदेव से कहा, वामदेव ने मुनियों को बताया तथा मुनियों ने मनुष्यों को बताया। जो इस प्रकार जानता है, वह स्त्री-हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह वीर (भाई) हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्म हत्या से मुक्ति पा लेता है। वह महाभय से छूट जाता है। वह महादुःख से मुक्त हो जाता है। शरीरान्त होने पर वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है, (निश्चित रूप से) वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है। ऐसी यह उपनिषद् है॥ १६॥

॥ इति तुलस्युपनिषत् समाप्ता ॥



## ॥त्रिपुरोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋषिवेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्' शक्ति का स्वरूप व्यक्त हुआ है। तत्यशात् उस चित् शक्ति की वदना की गई है। पुनः 'कामेश्वर' का स्वरूप, आवरण देवता, शिव काम सुन्दरी विद्या का प्रतिफल, आदिमूल विद्या का स्वरूप, विरक्तों (संन्यासियों) की आदिविद्या के ज्ञान का फल, देवी के ज्ञान का फल, मन्द जनों के लिए ध्यान, अधम साधकों के अनुष्ठान और उसके फल तथा निष्काम साधक द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह आगम (तन्त्र) विद्या परक उपनिषद् है। इसलिए इसमें सांकेतिक शब्दों की अधिकता है। 'ब्रह्म' साक्षात्कार का उपाय इस उपनिषद् में बीज मन्त्रों से साधना द्वारा बताया गया है। ऐसी कुछ उपनिषदें हैं, जो जन सामान्य के लिए कुछ कठिनाई से समझ में आने वाली हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाडमे मनसि ..... इति शान्तिः ॥ ( ब्रह्म-अक्षमालिकोपनिषद् )

तिस्रः परस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः ।

अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥ १ ॥

तीन पुर, तीन पथ एवं इस ( श्री चक्र) में सत्रिविष्ट अकथादि अक्षर-इन सभी से अधिष्ठित यह ( शक्ति) सबको समान दृष्टि से देखने वाली जो अजर, प्राचीन चैतन्य शक्ति है, वह अपनी महिमा से अत्यधिक श्रेष्ठ है ॥१

[ यहाँ तीन पुर का तात्पर्य स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से है। तीन पथ का तात्पर्य-ज्ञान, कर्म, उपासना-ज्ञान, विज्ञान एवं सम्यक् ज्ञान से है। अकथादि अक्षर से तात्पर्य 'अ' से लेकर 'क्ष' तक अक्षर समूह से है। ]

नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च ।

नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम् ॥ २ ॥

(वह चैतन्य शक्ति) नव योनि, नवचक्र, नवयोग, नवयोगिनी, नवचक्रों की आधार शक्तियों, सुखकारी नवभद्राओं तथा महिमाशालिनी नव मुद्राओं के रूप में प्रकाशित हो रही है ॥ २ ॥

[ इस मन्त्र के विशिष्ट शब्दों का परिचय इस प्रकार है—नवयोनि - श्री चक्र यन्त्र में बनाई जाने वाली नौ योनियाँ (महात्रिपुर सुन्दरी आदि महाशक्तियाँ)। नवचक्र - सर्वानन्दमय सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वार्थसाधक, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वसंक्षेपण, सर्वशापरिपूरक एवं त्रैलोक्य मोहन। नवचक्रों की आधार शक्तियाँ - महात्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुराम्बा, त्रिपुरसिद्ध, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरेशी एवं त्रिपुरा। नवयोग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और सहज योग। नवयोगिनियाँ - नवचक्रों में निवास करने वाली नौ शक्तियाँ। नवमुद्रा - योनि, बीज, खेचरी, महांकुश, महोम्मादिनी, सर्ववशंकरी, सर्वकिर्णिणी, सर्वविद्राविणी एवं सर्वसंक्षेपिणी मुद्राएँ। नवभद्रा-कामेश्वरी आदि नवशक्तियाँ ही नव भद्राएँ हैं। ]

एका स आसीत्प्रथमा सा नवासीदा सोनविंशादा सोनत्रिंशात् ।

चत्वारिंशादथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्त ॥ ३ ॥

नवभद्रा आदिरूप में, उन्नीस तत्त्व समूह रूप में, चालीस शक्तियों के रूप में तथा तीन समिधा के रूप में अपनी सन्तानों के लिए कल्याण कामना करने वाली माता के समान (ब्रह्मपद प्राप्ति की कामना वाले) मुझमें प्रवेश करें अर्थात् मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हों ॥ ३ ॥

[ १९ तत्त्व = ५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ प्राण+ ४ अन्तःकरण। २१ तत्त्व = १९ तत्त्व+ ५ विषय ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ) +५ उपप्राण। ४० शक्तियाँ=१४ अन्तः-बाह्य इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों के अधिपति+३ कर्म ( तूल, मूल, अविद्याजन्य ) +४ गुण ( विक्षेप, आवरण, मुदिता, करुणा ) + विश्व, विश्वादि, तुर्य, प्राज्ञ आदि भेद से युक्त; तीन समिधा=क्रिया, ज्ञान, इच्छात्मक तथा ज्ञान, विज्ञान तथा सम्बन्धक ज्ञान। ]

ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत् ।  
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति ॥ ४ ॥

ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर प्रज्वलित होने वाली और प्रकाशित होने वाली ज्योति सर्वप्रथम अनुभव में आती है। इसके विपरीत तमोगुण तिरश्चीन (तिरछी गति वाला) और अजर है, उससे रजोगुण उत्पन्न हुआ। यह ज्योति आनन्द और प्रसन्नता देने वाली है तथा इन्दु के (चन्द्रवत् शीतल) गुणों से विभूषित करती है ॥ ४ ॥

यास्तिस्त्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः ।

एतत्वयं पूरकं पूरकाणां मन्त्री प्रथते मदनो मदन्या ॥ ५ ॥

जो तीन रेखाएँ हैं, चार सदन हैं, तीन भू (स्थल) हैं, तीन विष्टप, तीन गुण और तीन-तीन प्रकार (भेद) हैं। ये सभी त्रिक पूर्णता प्रदान करने के साधन स्वरूप हैं। मन्त्र में (श्री चक्र में) कामना (पूर्ण करने वाली) शक्ति से मदन (कामना के अधिष्ठाता देवता) जय शील हो ॥ ५ ॥

[ तीन रेखा = क्रिया, ज्ञान और इच्छाशक्ति, चार सदन = जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अथवा नेत्र, कण्ठ, हृदय और सहस्रार चक्र; तीन भूः = भूः, भुवः एवं स्वः ; तीन विष्टप एवं तीन गुण = तम, रज एवं सतोगुण; तीन-तीन प्रकार-तम-सत+ तम, रज+तम, तम+तम; रज-सत+रज, रज+रज, तम+रज; सत-सत+सत, सत+रज, सत+तम। ]

मदन्तिका मानिनी मंगला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता ।

लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती ॥ ६ ॥

(उनके परिवार के आवरण देवता की संख्या पन्द्रह है, जो क्रमशः) मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता एवं लालपन्ती हैं ॥ ६ ॥

इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिसृता तर्पयन्तः स्वपीठम् ।

नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति ॥ ७ ॥

(साधक) इनको जानकर (इनके) अमृत गुणों से प्रसन्नता का अनुभव करते हुए स्वपीठ (श्री चक्रपीठ) को (दुग्ध आदि से) तृप्त करते हुए महान् स्वर्गलोक में निवास करते हैं और त्रैपुर परमधाम में पहुँच कर (अपने को) कृतकृत्य अनुभव करते हैं ॥ ७ ॥

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्दः ।

पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमातऽदिविद्या ॥ ८ ॥

(आदिमूल विद्या का स्वरूप इस प्रकार है-यह) काम, योनि, काम-कला, वज्रपाणि, गुहा, हसा, मातरिश्वा, अभ्र, इन्द्र, पुनः गुहा, सकला और माया आदि से यह विशिष्टरूपा यह विद्या (प्रवर्धमान हुई) है ॥ ८ ॥

[ यहाँ आदि विद्या के संकेताक्षर प्रयुक्त हुए हैं। जो इस प्रकार हैं- काम = क, योनि = ए, कामकला = ई, वज्रपाणि = ल, गुहा = हीं, हसा = ह, स, मातरिश्वा = क, अभ्र = ह, इन्द्र = ल, सकला = स, क, ल, माया = हीं। ये सभी वर्ण प्रणवात्मिका आदि विद्या के प्रतीक हैं। ]

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः ।

कथयं कविं कल्पकं काममीशं तुषुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ॥ ९ ॥

(आदि विद्या के) छठे वर्ण (ह-शिवबीज), सातवें वर्ण (स-शक्तिबीज) और वहि सारथि (क-कामेश-बीज) इसके मूलत्रिक (ह, स, क) का जप करते हुए कथ्य रूप, कवि (क्रान्तदर्शी-भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला-त्रिकालज्ञ) सदृश कामेश्वर की स्तुति करते हुए अमृतत्व को प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

पुंर हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा ।

बृहत्तिथिर्दश पञ्चा च नित्या सषोडशिकं पुरमध्यं बिभर्ति ॥ १० ॥

(वह देवी) पुर, हन्त्रीमुख (ह-स-क), विश्वमातारूप, रवि-रेखा (आदित्य मंडल रूप), स्वर मध्य

(‘ई’ ‘ओ’ रूप) आदि रूपों में विद्यमान बृहत्तिथि (निमेष से लेकर कल्पान्त तक) तथा पंचदशादि (पन्द्रह तिथियाँ, वार नक्षत्रादि) नित्य (देवता भाव को प्राप्त) सषोडशिक (सोलहवीं तिथि पूर्णिमा सहित) पुर मध्य (स्व अविद्या पर आधारित) रूपों को धारण करती है ॥ १० ॥

**यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि ।**

**कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरो जायते कामरूपश्च कामः ॥ ११ ॥**

(रवि, चन्द्र आदि के) मण्डल से आविर्भूत सर्वांग सुन्दरी जिसका एक स्तनबिम्ब एवं मुख नीचे की ओर है, के देहत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर) रूपी गुहा में अवस्थित परमेश्वर की कला-‘कामकला’ का ध्यान करके योगी अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करके स्वेच्छानुसार-‘काममय’ हो जाता है, (पर काम्यफल) जन्म आदि का कारण होता है, इसलिए (उच्च वर्ण वाले मुमुक्षु को) सकाम उपासना नहीं करनी चाहिए ॥ ११ ॥

**परिसृतं द्वाषमाजं पलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च ।**

**निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति ॥ १२ ॥**

(इसी प्रकार हीन वर्ण वाले) विधिवत् तैयार किये गये अपने भोज्य पदार्थ (मांस-मदिगा आदि) को (आत्मीय भोग बुद्धि का परित्याग करके) सर्वप्रथम महादेवी को समर्पित करके प्रसाद रूप में ग्रहण कर पुण्य कर्मों के द्वारा (श्रेष्ठ कर्मों की) सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

**सृष्टयेव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबधात्यभीकान् ।**

**इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिरुणा विश्वजन्या ॥ १३ ॥**

(जो मनुष्य इस) काम्य मार्ग में निरत रहते हैं, उन कामीजनों को सरस्वती, लक्ष्मी, आदिशक्ति गौरी-ब्रह्म (विद्या) रूप धारण करके भलीप्रकार बाँधकर संसार के महावर्त (भौंवर) में डाल देती हैं तथा पंच बाण (पंचेन्द्रियों) और धनुष से विद्धि कर देती हैं (उनका उद्धार कभी नहीं करती) ॥ १३ ॥

**भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम् ।**

**समप्रथानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः ॥ १४ ॥**

छः ऐश्वर्यों (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से सम्पन्न चित् शक्ति, भगवान् काम और ईश (कामेश्वर)-दोनों (चित् शक्ति सामान्यात्मा की दृष्टि से) सम प्रधान, समान सत्त्व से युक्त, समान ओज से युक्त (दयार्द्र होकर, निष्काम) उपासक को ब्रह्मपद प्रदान कर देते हैं। उन दोनों ('शिव-शक्ति' आ 'काम-ईश') के मध्य (तीनों शरीरों से विलक्षण) अजरा (जरारहित) यह विश्वमाता ('श्री शक्ति') स्थित रहती है ॥

**परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः ।**

**शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ॥ १५ ॥**

(उपासक की निष्काम) भावना से भावित (ज्ञान, विज्ञान और सम्यक् ज्ञान रूपी) हवि द्वारा भली प्रकार संतृप्त हुई (आवरण और विक्षेप को), गलाकर नष्ट कर देती है। (इस प्रकार उपासक संसार से) अमनस्क होकर सम्पूर्ण जगत् के विधाता, पालक एवं संहारक (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) बनकर विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है ॥ इयं महोपनिषत्तैपुर्या यामक्षरं परमो गीर्भिरीद्वे । एषर्घ्यजुः परमेतत्त्वं सामायमथर्वेयमन्या चविद्या ॥

यह ऋग्, यजु, साम, अर्थर्व तथा अन्य विद्याएँ (पुराण, न्याय, मीमांसा आदि १४ विद्याएँ), जिसकी अक्षय (ज्ञानस्वरूप) परम (सर्वोत्कृष्ट) वाणीरूप स्तोत्रों से स्तुतियाँ करती हैं। यही त्रिपुरा नाम की महोपनिषद् है ॥ १६ ॥

**ॐ ह्रीं ॐ ह्रीमित्युपनिषत् ॥ १७ ॥**

‘ॐ ह्रीं’ - यही चित् और शक्ति तत्त्व है। यही चैतन्य शक्ति तत्त्व है ॥ १७ ॥

**॥ इति त्रिपुरोपनिषत्समाप्ता ॥**

## ॥ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग का प्रमुखतया प्रतिपादन है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ त्रिशिखी ब्राह्मण और भगवान् आदित्य के बीच आत्मा और ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर से हुआ है। तदुपरात् सर्वत्र शिवतत्त्व की विद्यमानता, ब्रह्म से अखिल जगत् की उत्पत्ति, एक ही पिण्ड का बहुधा विभाजन, आकाश आदि का अंश भेद, सूक्ष्मभूत मात्रा, आध्यात्मिक आदि विभाग, ब्रह्म से लेकर पंचीकरण तक सृष्टि का विकास, जड़-चेतन विश्व की सृष्टि, चार अवस्थाएँ, दक्षिण और उत्तरायण गति, सद्यः मुक्ति प्रदायक ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति के उपायभूत योग, कर्मयोग-ज्ञानयोग, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग, दस प्रकार के यम-नियम, हठयोग के आसन, नाड़ीशोधन तथा प्राणायाम की विविध विधियाँ, अग्नि मंडल का स्वरूप, नाड़ीचक्र में जीव का भ्रमण, कुण्डलिनी का स्थान और उसका क्रिया व्यापार, नाभि स्थान के पास 'नाड़ी कन्द' की स्थिति, नाड़ियों में विचरण करने वाली प्राण-वायुएँ, योगाभ्यास करने का स्थान और योगाभ्यास की विधि, प्राणायाम के विविध प्रयोग, षण्मुखी मुद्रा, मनोजय, मर्मस्थानों में प्राण का प्रत्याहार, धारणा के भेदोपभेद, शरीर के अंग-अवयवों में पंचभूतों की धारणा करना, ध्यान और उसका फल तथा अन्त में सविशेष ज्ञान की प्राप्ति और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्ति का विशद वर्णन है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अद्वयतारकोपनिषद् )

### ॥ ब्राह्मणम् - १ ॥

**त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम तं गत्वोवाच । भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥ १ ॥**

एक बार त्रिशिखी नामक ब्राह्मण आदित्य लोक में जाकर भगवान् आदित्य से बोले-हे भगवन्! यह शरीर (देह) क्या है? प्राण क्या है? कारण क्या है? और (यह) आत्मा क्या है? ॥ १ ॥

**स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि । किंतु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः । शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते । तद्वासकं किमिति चेदुच्यते । सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ॥ २ ॥**

वे (भगवान् आदित्य) बोले- हे ब्रह्मन्! यह सभी कुछ शिवस्वरूप ही है, ऐसा जानो। वही नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वय एवं आनन्दस्वरूप शिव अपने एक ही दिव्यालोक से सभी को देखने के पश्चात् तस (लाल) लौहपिण्ड के समान एक को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है। यदि यह पूछा जाए कि वह आलोक-प्रदाता कौन है? तो यह कहा जायेगा कि 'सत्' शब्द का वाच्य अविद्या शबल-ब्रह्म अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड में संव्यास मायोपाधिक अपर ब्रह्म ॥ २ ॥

**ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्तान्महत् । महतोऽहंकारः । अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मा-त्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥ ३ ॥**

ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँचों तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत और पंच महाभूतों के द्वारा ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है ॥ ३ ॥

तदखिलं किमिति । भूतविकारविभागादिरिति । एकस्मिन्यिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति । तत्त्वार्थकारणभेदरूपेणांशतत्त्ववाचकवाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥

वह अखिल (विश्व) क्या है ? यह (पंच) भूतों के विकार द्वारा प्रादुर्भूत विभाग स्वरूप है । भूतों के विकार द्वारा एक ही पिण्ड के विभाग किस तरह से होते हैं ? उन भिन्न-भिन्न भूतों के कार्य एवं कारण भेद के द्वारा अंश तत्त्व, वाचक-वाच्य स्थान भेद, विषय, देवता, कोश भेद आदि के आधार पर विभाग कहे गये हैं ॥४॥

अगले मंत्रों में पंचभूतों के भेद क्रम स्पष्ट किये गये हैं-

अथाकाशोऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः । वायुः समानोदानव्यानापानप्राणाः । वह्निः श्रोत्र-  
त्वक्क्षुर्जिह्वाग्राणानि । आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥५॥

आकाश के पाँच भेद हैं- अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार । समान, उदान, व्यान, अपान, प्राण आदि ये पाँच वायु हैं । श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा एवं ग्राणेन्द्रिय ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) अग्नि से प्रकट होते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये पाँच (तन्मात्राएँ) जल तत्त्व से प्रादुर्भूत होती हैं । वाणी, हाथ, पैर, गुदा एवं उपस्थ-ये (कर्मेन्द्रियाँ) पृथ्वी के द्वारा प्रादुर्भूत हैं ॥५॥

ज्ञानसंकल्पनिश्चयानुसंधानाभिमाना आकाशकार्यान्तःकरणविषयाः । समीकरणोन्नयन-  
ग्रहणश्रवणोच्छासा वायुकार्यप्राणादिविषयाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रि-  
यविषया अबाश्रिताः । वचनादानगमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्मेन्द्रियविषयाः ।  
कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः । मनोबुद्धयोश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतौ ॥६॥

ज्ञान, संकल्प, दृढ़-निश्चय, अनुसंधान एवं अभिमान-ये आकाश तत्त्व के कार्य और अन्तःकरण के विषय हैं । समीकरण (सन्तुलन), उन्नयन (ऊर्ध्वगति देना), ग्रहण करना, श्रवण (श्रवण-प्रवाहित या निष्कासित करना), उच्छ्वास (श्वास ग्रहण करना एवं छोड़ना)-ये सभी वायु तत्त्व के कार्य तथा प्राण आदि के विषय कहे गये हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि ये सब अग्नि तत्त्व के कार्य और ज्ञानेन्द्रियों के विषय बतलाये गये हैं । ये सब (तन्मात्रा रूप में) जल तत्त्व के आश्रित हैं । वचन (बोलना), दान, गमनागमन, विसर्जन तथा आनन्द पृथ्वी तत्त्व के कार्य एवं कर्मेन्द्रियों के विषय हैं । कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के विषयों में प्राण एवं तन्मात्राओं के विषय अन्तर्भूत हैं । मन एवं बुद्धि में ही चित्त और अहंकार अन्तर्भूत हैं ॥६॥

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैवतन्मात्रविषयाः ॥७॥

अवकाश (रिक्त स्थान), हटाना (गमनागमन गतिशीलता), दर्शन (देखना), पिण्डीकरण (मिलाना - पिण्ड बना देना), धारणा (धारण करना) आदि-ये सभी (क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तत्त्वों से सम्बन्धित) सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के विषय हैं ॥७॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि । अत्र निशाकरचतुर्मुखदि-  
ग्वातार्कवरुणाश्व्यग्रीन्दोपेन्द्रप्रजापतियमा इत्यक्षाधिदेवतारूपैर्द्वादशनाङ्गन्तःप्रवृत्ताः प्राणा  
एवाङ्गानि अंगज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥८॥

इस प्रकार बारह अंगों का उल्लेख मिलता है, जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक-तीनों भागों में वर्णित किये गये हैं । इनमें चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति एवं यम-ये सभी बारह इन्द्रियों के अधिदेवता रूप से बारह नाड़ियों में अवस्थित रहते हैं, ये ही प्राण के अंग कहे गये हैं । इन अङ्गों को जानने वाला ही ज्ञाता कहा गया है ॥८॥

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति । ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति । मनो व्यानयोगेन त्वरद्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुस्तिष्ठति । बुद्धिरुदानयोगेन चक्षुद्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽग्नौ तिष्ठत्यग्नि-स्तिष्ठति । चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठितोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति । अहंकारः प्राणयोगेन घ्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठति य एवं वेद ॥ ९ ॥

अब इसके पश्चात् आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं अन्न (पृथ्वी) का पञ्चीकरण (पाँचों मूलभूतों के संयोग से व्यावहारिक पंचभूतों के विकास की प्रक्रिया) प्रकट करते हैं । (आकाश) 'ज्ञातृत्व' समान वायु के योग से, श्रोत्र के द्वारा शब्दरूपी गुण वाणी के आश्रय से आकाश में अवस्थित है और आकाश भी उसी में प्रतिष्ठित है । (वायु) 'मन' व्यान वायु के संयोग से त्वचा के द्वारा स्पर्श-गुण हाथ के माध्यम से वायु में अवस्थित है और वायु भी उसी में विद्यमान है । (अग्नि) 'बुद्धि' उदान वायु के योग से नेत्र के द्वारा 'रूप-गुण', पैरों के आश्रय से अग्नि में प्रतिष्ठित है तथा अग्नि भी उसी में अवस्थित है । (जल) 'चित्त' अपान वायु के योग से जिह्वा के द्वारा रस-गुण, उपस्थ के माध्यम से जल में अवस्थित है, जल भी उसी में प्रतिष्ठित है । (पृथ्वी) 'अहंकार' प्राणवायु के संयोग से नासिका के द्वारा 'घ्राण-गुण', गुदा के माध्यम से पृथ्वी में अवस्थित है तथा पृथ्वी भी उसी में अवस्थित है, ऐसा ही जानना चाहिए ॥ ९ ॥

॥ मन्त्रः-२ ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति । पृथग्भूते घोडश कलाः स्वार्थभागान्यरान्कमात् ।

अन्तःकरणव्यानाक्षिरसपायुनभः क्रमात् ॥ १ ॥

इस सन्दर्भ में ये निम्न श्लोक कहे गये हैं-

प्रत्येक (सूक्ष्म) तत्त्व के अर्द्धभाग से तथा दूसरे तत्त्वों-अन्तःकरण (आकाश), व्यान (वायु), नेत्र (अग्नि), रस (जल) एवं गुदा (पृथ्वी) आदि के संयोग से १६ कला युक्त (स्थूल) आकाशादि बने हैं ॥ १ ॥

मुख्यात्पूर्वोत्तरभागैर्भूतेभूते चतुश्रुतुः । पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु संस्थिताः ॥ २ ॥

आकाश तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक प्रत्येक भूत का प्रमुख पूर्व भाग एवं अन्य भूतों के शेष पिछले भागों के चौथाई-चौथाई भाग पाँचों भूतों में अवस्थित रहते हैं ॥ २ ॥

[ प्रत्येक स्थूल तत्त्व में आधा भाग उस मूल सूक्ष्म तत्त्व का तथा शेष आधा भाग बाकी चारों तत्त्वों का रहता है । प्रत्येक तत्त्व के १६ भाग (कलाएँ) मानें । मुख्य तत्त्व का आधा = ८ कलाएँ+अन्य चारों के आधे (८ कलाओं का चतुर्थांश अर्थात् दो-दो कलाएँ चारों की-कुल ८ कलाएँ) मिलकर १६ कलाओं वाला नया स्थूल तत्त्व बनता है । ]

मुख्यादूर्ध्वे परा ज्ञेया न परानुत्तरान्विदुः । एवमंशो ह्यभूतस्मात्तेभ्यश्चांशो ह्यभूतथा ॥ ३ ॥

इस ऊपर वाले मुख्य भाग को सूक्ष्मभूत जानना चाहिए तथा पृष्ठ भाग को स्थूलभूत रूप में जानना चाहिए । इस तरह से ये दोनों एक-दूसरे के अंश से मिले हुए होते हैं ॥ ३ ॥

तस्मादन्यमाश्रित्य ह्योतं प्रोतमनुक्रमात् । पञ्चभूतमयी भूमिः सा चेतनसमन्विता ॥ ४ ॥

ये समस्त भूत इसी तरह से एक दूसरे का आश्रय प्राप्त करके आपस में मिले हुए हैं । यह भूमि भी पंच तत्त्वों से युक्त चेतनामय है ॥ ४ ॥

तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्रुतुर्विधाः । रसासृद्मांसमेदोऽस्थिमज्ञाशुक्राणि धातवः ॥ ५ ॥

तभी इस पृथ्वी से ओषधि, अन्न, चारों प्रकार के पिण्ड (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज), रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, वीर्य आदि सत्र धातुओं की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

**केचित्तद्योगतः पिण्डा भूतेभ्यः संभवाः क्रचित् । तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ॥६**

उन धातुओं के योग से कई भूत पिण्डों की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है। नाभि मण्डल के मध्य में वह अन्नमय पिण्ड अवस्थित है ॥ ६ ॥

**अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत् । सत्त्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहंकारचेतनाः ॥ ७ ॥**

इसके मध्य भाग में नालयुक्त कमलकोश के सदृश हृदय स्थित है और उस (हृदय) के अन्तः में वे देवता (जीवात्मा) प्रतिष्ठित हैं, जिनमें कर्त्तापन का अहंकार तत्त्व पाया जाता है ॥ ७ ॥

**अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जडं घनम् । वर्तते कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ॥ ८ ॥**

इसका बीज मोहरूपी तमोगुण का पिण्ड अज्ञानमय कण्ठ में रहता हुआ जगत् में व्यास रहता है ॥ ८ ॥

**प्रत्यगानन्दरूपात्मा मूर्धि स्थाने परे पदे । अनन्तशक्तिसंयुक्तो जगद्रूपेण भासते ॥ ९ ॥**

प्रत्येक आनन्दमय आत्मा का परमश्रेष्ठ पद मूर्द्धस्थान (मस्तिष्क) में अनन्त शक्तियों के साथ संयुक्त होकर जगत् के रूप में सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है ॥ ९ ॥

**सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं जाग्रति वर्तते । सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ॥ १० ॥**

जाग्रत्-अवस्था सर्वत्र विद्यमान रहती है, स्वप्नावस्था जाग्रत् में निवास करती है। सुषुप्ति और तुरीयावस्था अन्य दूसरी अवस्थाओं में कहीं भी नहीं पायी जाती ॥ १० ॥

**सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्तूरूपः शिवात्मकः । यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्तकाः ॥ ११ ॥**

समस्त देश (स्थान-शरीरादि) में शिवरूप आत्मा चार रूपों में वैसे ही विद्यमान रहता है, जैसे कि श्रेष्ठ फलों में रस सर्वत्र संब्यास रहता है ॥ ११ ॥

**तथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति चान्तरे । यथा कोशस्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥ १२ ॥**

वहाँ उस शरीर में अन्नमय कोश के अन्दर अन्य चारों कोश स्थित रहते हैं। जिस-जिस तरह के कोश हैं, वैसा ही जीव होता है और जैसा जीव है, उसी के अनुरूप ही शिव (परमात्मा) कहा गया है ॥ १२ ॥

**सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः । कोशास्तस्य विकारास्ते ह्यवस्थासु प्रवर्तकाः ॥ १३ ॥**

दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि जीव विकार युक्त है और शिव निर्विकार है। कोश ही जीव के विकार हैं, जो समस्त अवस्थाओं के प्रवर्तक कहे गये हैं ॥ १३ ॥

**यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते । मनोनिर्मथनादेव विकल्पा बहवस्तथा ॥ १४ ॥**

जैसे दूध के मंथन से फेन प्रकट होता है, वैसे ही मन का मंथन करने पर विभिन्न विकल्प प्रकट होते हैं ॥

**कर्मणा वर्तते कर्मी तत्त्वागाच्छान्तिमाप्नुयात् । अयने दक्षिणे प्रासे प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥ १५ ॥**

कर्म द्वारा ही कर्मी (जीव) का अस्तित्व कहा गया है, कर्म के त्याग से शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। दक्षिणायन (सूर्य की विषुवत् रेखा से दक्षिण-गति) में आने से उसे माया जाल में संलिप्त होना पड़ता है ॥ १५ ॥

**अहंकाराभिमानेन जीवः स्याद्विद्व सदाशिवः । स चाविवेकप्रकृतिसङ्गत्या तत्र मुहृते ॥ १६ ॥**

सदाशिव (परब्रह्म) जब अहंकार रूपी अभिमान से ग्रसित हो जाता है, तभी उसे जीव-कोटि में गमन करना पड़ता है। वहाँ पर वह अज्ञान एवं प्रकृति के संयोग से मोहग्रस्त हो जाता है ॥ १६ ॥

**नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात् । विमोक्षात्संचरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥ १७ ॥**

वह वासनाओं (संस्कारों) के वशीभूत हो जाने के कारण सैकड़ों योनियों में जाकर अज्ञाननिद्रा में सोया रहता है तथा वासना से मुक्त हो जाने पर मछली की तरह नदी के दोनों तटों के बीच भ्रमण करता रहता है ॥

**ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः । उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥१८॥**

तदनन्तर वह काल-प्रभाव के वशीभूत हो विवेक एवं आत्मज्ञान को प्राप्त करके उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर क्रमशः एक स्थान (कक्षा) से दूसरे स्थान (कक्षा) को प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

**मूर्ध्याधायात्मनः प्राणान्योगाभ्यासं स्थितश्वरन् । योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥१९॥**

तत्पश्चात् वह अपने प्राण-तत्त्व को मूर्धा-स्थान में स्थित करके योग के अभ्यास में निरत (तत्पर) हो जाता है । योग द्वारा ज्ञान की और ज्ञान द्वारा योग की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है ॥ १९ ॥

**योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति । विकारस्थं शिवं पश्येद्विकारश्च शिवे न तु ॥ २०॥**

जो श्रेष्ठ साधक-योगी निरन्तर अपनी ज्ञानयोग की साधना में मनोयोगपूर्वक संलग्न रहता है, वह कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है । वह विकारों में स्थित शिव (परब्रह्म) का निरन्तर दर्शन करता रहता है; किन्तु शिव में विकार का नहीं ॥ २० ॥

**योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः । योगज्ञाने न विद्यते तस्य भावो न सिध्यति ॥ २१॥**

ऐसा श्रेष्ठ योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से चिन्तन करे । जिसे इस प्रकार का ज्ञानयोग प्राप्त नहीं होता, उसे सिद्धि नहीं मिलती ॥ २१ ॥

**तस्मादभ्यासयोगेन मनः प्राणान्निरोधयेत् । योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥ २२॥**

इस प्रकार योग के निरन्तर अभ्यास से प्राणों के द्वारा मन का निरोध करना चाहिए । योगी को चाहिए कि वह छुरी की पैनी धार के सदृश दृढ़ निश्चयी होकर (मोहञ्चन) काट दे ॥ २२ ॥

**शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः । ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः ॥ २३॥**

यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग की साधना के द्वारा ज्ञानमयी शिखा प्रादुर्भूत होती है । योग के दो मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें प्रथम ज्ञानयोग एवं द्वितीय कर्मयोग है ॥ २३ ॥

**क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम । अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित् ॥ २४॥**

हे श्रेष्ठ ब्रह्मन्! अब क्रिया-योग (कर्मयोग) के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं । जिस योगी का चित्त व्याकुलता (व्यग्रता) से विहीन है, वह विषय-भोगों के बन्धन में कभी नहीं पड़ता ॥ २४ ॥

**यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्रुते । कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥ २५॥**

**बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते । यत्तु चित्तस्य सततमर्थं श्रेयसि बन्धनम् ॥ २६॥**

**ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः । यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः ॥ २७॥**

**स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा । देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥ २८॥**

हे द्विजश्रेष्ठ! संयोग भी दो प्रकार के होते हैं । कर्म और कर्तव्य द्वारा शास्त्रानुकूल कर्मों में निरन्तर मन को नियुक्त किये रहना ही कर्मयोग कहलाता है । चित्त का सर्वथा अतिमिक उत्थान में नियोजित किये रहना ज्ञानयोग कहलाता है । इससे सभी तरह की आत्मकल्याण सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इस प्रकार से जो मनुष्य दोनों प्रकार के योगों का विकाररहित भाव से सेवन करता है, वह शीघ्र मोक्ष रूपी परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है । शरीर एवं इन्द्रियों के प्रति सभी तरह से वैराग्य भावना हीं यम 'कहलाती है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं' ॥

**अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः । सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥ २९॥**

**जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः । चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥ ३०॥**

परमात्म तत्त्व से निरन्तर अनुराग (प्रेम-आसक्ति) रखना ही नियम कहलाता है । समस्त वस्तुओं में

उदासीन भाव ही सर्वश्रेष्ठ आसन है। इस जगत् के अनृत (मिथ्या) स्वरूप को भली-भाँति समझ लेना ही प्राणायाम कहा गया है। चित्त का अन्तर्मुखी भाव ही प्रत्याहार कहलाता है॥ २९-३०॥

**चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः। सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥३१॥**

चित्त का निश्चल (अचल) भाव धारण कर लेना ही धारणा है। मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ, यही चिन्तन (भाव) ध्यान कहा गया है॥ ३१॥

**ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते। अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥३२॥**

क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश। तपः सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥३३॥

वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥ इति ॥ आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज ॥३४॥

वर्णन्ते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि । पूर्वोत्तरे जनुनी द्वे कृत्वासनमुदीरितम् ॥३५॥

ध्यान का पूर्णरूपेण विस्मरण कर देना ही समाधि कहलाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, स्वल्पाहार तथा शुद्धता-ये दस यम बतलाये गये हैं। तप, सन्तोष, आस्तिक भाव, दान, भगवत् ध्यान, वेदान्त श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस नियम कहे गये हैं। अब आसनों के अन्तर्गत स्वस्तिक आदि आसन एवं उनकी विधि का वर्णन करते हैं। दोनों पैरों के तलुओं को दोनों जानुओं (घुटनों) के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिक आसन कहलाता है॥ ३२-३५॥

**सब्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वं नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सब्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥३६॥**

पीठ के बायें भाग की ओर दाहिने गुल्फ को तथा दायें भाग की ओर बायें गुल्फ को नियोजित करने से जो गौ (गाय) के मुख की भाँति होता है, वही गोमुख आसन कहलाता है॥ ३६॥

**एकं चरणमन्यस्मिन्नरावारोप्य निश्चलः । आस्ते यदिदमेनोऽन्नं वीरासनमुदीरितम् ॥३७॥**

**गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः । योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ ३८॥**

एक चरण को बायीं जाँघ पर तथा दूसरे (चरण) को दाहिनी जाँघ पर निश्चल भाव से आरोपित करके बैठना ही वीरासन कहलाता है। दाहिनी एड़ी को गुदा भाग के बायीं ओर तथा बायीं एड़ी को गुदा भाग के दाहिनी ओर लगाकर बैठना ही योगासन कहलाता है, ऐसा योगी जन कहते हैं॥ ३७-३८॥

**ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे । पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ३९॥**

दोनों जाँघों पर दोनों पैरों के पंजों को प्रतिष्ठित करके बैठना ही पद्मासन कहलाता है। यह आसन समस्त व्याधियों एवं विषों का विनाशक कहा गया है॥ ३९॥

**पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदङ्गुष्ठद्वयं पुनः । व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥ ४०॥**

पद्मासन में अच्छी तरह से आसीन होने के पश्चात् दाहिने हाथ से बायें पैर के अँगूठे को तथा बायें हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ना ही बद्धपद्मासन कहलाता है॥ ४०॥

**पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ । निवेश्य भूमावातिष्ठेदव्योमस्थः कुकुटासनः ॥ ४१॥**

पद्मासन पर ठीक तरह से स्थित होकर दोनों हाथों को जानुओं एवं जंघाओं के मध्य से निकाल कर भूमि पर लगा कर शरीर को आकाश में-अधर पर प्रतिष्ठित रखना कुकुट आसन कहलाता है॥ ४१॥

**कुकुटासनबन्धस्थो दोर्भ्या संबध्य कन्धरम् । शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ ४२॥**

कुकुट आसन लगाने के बाद दोनों भुजाओं से दोनों कन्धों को आबद्ध कर कच्छप के सदृश एक सीध में हो जाना ही उत्तान कूर्मासन कहलाता है॥ ४२॥

**पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि । धनुराकर्णकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥ ४३ ॥**

दोनों पैरों के अँगूठों को हाथ से पकड़कर श्रवण रन्ध्रों (कानों) तक धनुष के आकार में कर्ण तक आकृष्ट करना ही धनुरासन कहलाता है ॥ ४३ ॥

**सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु । प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥ ४४ ॥**

दोनों एड़ियों से सीवन-प्रदेश को विपरीत विधि से दबाकर दोनों घुटनों एवं हाथों को विस्तीर्ण कर स्थिर होना सिंहासन कहलाता है ॥ ४४ ॥

**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्युभयपार्श्वयोः । निवेश्य पादौ हस्ताभ्यां बध्वा भद्रासनं भवेत् ॥ ४५ ॥**

वृषण (अंडकोश) के नीचे सीवन के दोनों ओर दोनों गुल्फों (टखनों) को स्थिर करके पादों को हाथों से बाँधकर (अर्थात् थामकर) बैठना ही भद्रासन कहलाता है ॥ ४५ ॥

**सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु । निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम् ॥ ४६ ॥**

सीवनी के दोनों पार्श्वों को दोनों एड़ियों के द्वारा विपरीत विधि से दबाकर प्रतिष्ठित होना ही मुक्तासन कहलाता है ॥ ४६ ॥

**अवष्ट्रभ्य धरां सम्प्यक्तलाभ्यां हस्तयोद्वयोः । कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत् ॥ ४७ ॥**

**समुन्नतशिरः पादं मयूरासनमिष्यते । वामोरुमूले दक्षादिंशं जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥ ४८ ॥**

**वामेन वामाङ्गुष्टं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् । योनिं वामेन संपीड्य मेद्रादुपरि दक्षिणम् ॥ ४९ ॥**

**ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् । प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामङ्गुष्ठमादरात् ॥ ५० ॥**

**जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते । येन केन प्रकारेण सुखं धार्य च जायते ॥ ५१ ॥**

**तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् । आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्रयम् ॥ ५२ ॥**

दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर स्थित करके दोनों कोहनियों को नाभि के पार्श्व में दोनों तरफ लगाए, तदनन्तर मयूर की भाँति सम्पूर्ण शरीर को अधर करके सिर और पैरों को ऊपर की ओर उठाये रहना ही मयूर आसन कहलाता है । बायीं जाँघ के मूल में दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ने से वह मत्स्येन्द्र आसन कहलाता है । बायें पैर की एड़ी को सीवन पर स्थिर करे और दाहिने पैर को उपस्थ के ऊर्ध्व भाग में रखे । इस तरह शरीर को सीधा करके बैठना सिद्धासन कहलाता है । दोनों पैरों को जमीन में फैलाकर दोनों हाथों के द्वारा पैर के अँगूठों को पकड़ ले और पुनः सिर को घुटनों पर स्थित करना पश्चिमोत्तान आसन कहलाता है । जिस-किसी प्रकार से बैठने पर सुख एवं स्थिरता मिले, वैसे ही बैठना सुखासन कहलाता है । जो असमर्थता के कारण अन्य आसनों को न लगा सके, वह इस आसन को लगाये । जिस मनुष्य ने आसनों को अपने वश में कर लिया, उसने तीनों लोकों को मानो अपने वश में कर लिया अर्थात् जीत लिया समझना चाहिए ॥ ४७-५२ ॥

**यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः । नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत् ॥ ५३ ॥**

यम-नियम और आसन आदि के द्वारा सुसंयत होकर सम्प्रकृ रूप से सर्वप्रथम नाड़ी-शोधन करके तदुपरान्त प्राणायाम करना चाहिए ॥ ५३ ॥

**देहमानं स्वाङ्गलिभिः षण्वत्यङ्गुलायतम् । प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ५४ ॥**

मानव देह (शरीर) का माप (प्रमाण) अपनी अँगुलियों के द्वारा छियानवे अंगुल का है । शरीर से प्राण बारह अंगुल अधिक प्रमाण वाला कहा गया है ॥ ५४ ॥

देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वहिना । न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्नह्यविद्यते ॥ ५५ ॥  
शरीर में स्थित वायु को (प्राणायाम द्वारा) शरीर में समुद्भूत अग्नि से योग (प्रक्रिया) द्वारा न्यून एवं सम करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ॥ ५५ ॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तसजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरस्त्रं चतुष्पदम् ॥ ५६ ॥  
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडस्त्रं सर्पजन्मनाम् । अष्टास्त्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥ ५७ ॥  
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम् ॥ ५८ ॥

मानव शरीर के बीच में तस स्वर्ण की कान्ति से युक्त त्रिकोण (तीन कोणों से युक्त) अग्नि का स्थान कहा गया है। चार पैरों वाले पशुओं में यह अग्नि-स्थल चार कोनों से युक्त (चौकोर) होता है। पक्षियों का गोल-वृत्ताकार, सर्पजाति वालों का छः कोने का एवं स्वेदजों का आठ कोण (कोने) का होता है। मानव-शरीर में उस स्थान पर नौ अंगुल प्रमाण से युक्त कन्द का निवास कहा गया है, जो दीपक की तरह से प्रकाशित होता रहता है। वह चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा होता है ॥ ५६-५८ ॥

अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम् । तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥ ५९ ॥  
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्वादिमूर्तयः । अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥ ६० ॥  
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम । तन्तुपञ्चमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥ ६१ ॥

तिर्यक्, पक्षी एवं चौपायों में यह कन्द अण्डाकार होता है तथा उसका मध्य स्थान नाभि कहा जाता है। इसमें बारह अरों वाला चक्र है, जिसमें विष्णु आदि देवों की मूर्तियाँ स्थित हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से भ्रमाता रहता हूँ। इन बारह अरों में जीव इस तरह से भ्रमण करता रहता है, जैसे मकड़ी अपने जाल में घूमती रहती है ॥ ५९-६१ ॥

प्राणाविरुद्धश्वरति जीवस्तेन विना न हि । तस्योर्ध्वं कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥ ६२ ॥

जीव प्राणतत्त्व में आरूढ़ होकर ही विचरण करता है, उसके बिना (वह विचरण) नहीं कर सकता है। उसके ऊर्ध्व में कुण्डलिनी महाशक्ति का तिर्यक् एवं ऊँचा स्थान है ॥ ६२ ॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता । यथावद्वायुसारं च ज्वलनादि च नित्यशः ॥ ६३ ॥

परितः कन्दपार्श्वे तु निरुद्ध्यैव सदा स्थिता । मुखेनैव समावेष्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ॥ ६४ ॥

वह अष्ट प्रकृति स्वरूपा आठ तरह से कुण्डली करके वायु एवं अन्न-जल के संचार को रोकती रहती है। वह कन्द को चारों तरफ से आवृत करके उसके पार्श्व में प्रतिष्ठित है। वह अपने मुख के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मुख को समवेषित किये हुए (धेरे हुए) है ॥ ६३-६४ ॥

योगकालेन मरुता साग्रिना बोधिता सती । स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥ ६५ ॥

योग के अध्यास द्वारा यह कुण्डलिनी महाशक्ति वायु के द्वारा जाग्रत् अग्नि की भाँति हृदयरूपी आकाश में नागरूपा, अत्यधिक शुभ्र प्रकाशमय कान्ति से स्फुरित होती रहती है ॥ ६५ ॥

अपानादद्वयङ्गुलादूर्ध्वमधो मेद्रस्य तावता । देहमध्यं मनुष्याणां हन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥ ६६ ॥

अपान से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर एवं मेद्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे मनुष्य के शरीर का मध्य भाग माना गया है तथा चौपायों (पशुओं) का मध्य भाग उनके हृदय-प्रदेश में बतलाया गया है ॥ ६६ ॥

इतरेषां तुन्दमध्ये नानानाडीसमावृतम् । चतुष्प्रकारद्वययुते देहमध्ये सुषुप्त्या ॥ ६७ ॥

अन्य प्राणियों का मध्य भाग नाभि का मध्य क्षेत्र है, जिसमें विभिन्न नाड़ियाँ समावृत हैं। प्राण एवं अपान से युक्त सुषुप्ता नाड़ी शरीर में चार प्रकार से प्रकाशित होती है ॥ ६७ ॥

कन्दमध्ये स्थिता नाड़ी सुषुप्ता सुप्रतिष्ठिता । पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ६८ ॥

कन्द के बीच में जो सुषुप्ता नाड़ी प्रतिष्ठित है, वह पद्म सूत्र के सदृश अति सूक्ष्म है तथा सीधी ऊर्ध्व की तरफ प्रवर्तित (गतिशील) हो गई है ॥ ६८ ॥

**ब्रह्मणो विवरं यद्विद्युदाभासनालकम् । वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥ ६९ ॥**

ब्रह्मरन्ध्र तक गमन करने वाली यह 'वैष्णवी ब्रह्मनाडी' विद्युत् के समान प्रकाश युक्त एवं निर्वाण-प्राप्ति की पद्धति वाली है (अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाली है) ॥ ६९ ॥

**इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते । इडा समुत्थिता कन्दाद्वामनासापुटावधिः ॥ ७० ॥**  
**पिङ्गला चोत्थिता तस्माद्वक्षनासापुटावधिः । गान्धारी हस्तिजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥ ७१ ॥**

उस (सुषुप्ता) के अगल-बगल में इडा एवं पिंगला दो नाडियाँ प्रतिष्ठित हैं। इडा नाड़ी कन्द से निकलकर बायें नासापुट तक गई है और पिंगला उससे निकलकर दाहिने नासापुट तक गई है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा ये दो नाडियाँ भी वर्हीं पर स्थित हैं ॥ ७०-७१ ॥

**पुरतः पृष्ठतस्तस्य वामेतरदृशौ प्रति । पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते ॥ ७२ ॥**  
**सव्येतरश्रुत्यवधिं पायुमूलादलम्बुसा । अधोगता शुभा नाडी मेद्रान्तावधिरायता ॥ ७३ ॥**

(ये दोनों नाडियाँ) उनके आगे-पीछे बार्यों तथा दार्यों आँख तक गई हुई हैं। पूषा तथा यशस्विनी ये दोनों नाडियाँ गुदा मूल से निकलकर गमन करते हुए दायें एवं बायें कान तक गई हैं। अलम्बुसा नामक नाड़ी मेद्र स्थान के अन्त तक नीचे की तरफ गई हुई है ॥ ७२-७३ ॥

**पादाङ्गुष्टावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी । दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसंभवाः ॥ ७४ ॥**

कन्द से नीचे की ओर पैर के अँगूठे तक 'कौशिकी' नामक नाड़ी गयी हुई है। ये दस नाडियाँ कन्द से निःसृत हुई कही गयी हैं ॥ ७४ ॥

**तन्मूला ब्रह्मो नाड्यः स्थूलसूक्ष्माश्रु नाडिकाः । द्वासप्तिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्रु नाडयः ॥ ७५ ॥**

उनके मूल से निकलने वाली अन्य बहुत-सी स्थूल एवं सूक्ष्म नाडियाँ हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर 'बहतर हजार' बतलायी गयी है ॥ ७५ ॥

**संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः । यथा श्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्रु विततास्तथा ॥ ७६ ॥**

इन स्थूल एवं सूक्ष्म नाडियों की अलग-अलग गिनती कर सकना बहुत ही कठिन है। वे सब उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार पीपल के पत्ते में स्थूल-सूक्ष्म नसें फैली होती हैं ॥ ७६ ॥

**प्राणापानौ समानश्रु उदानो व्यान एव च । नागः कूर्मश्व कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥ ७७ ॥**

**चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः । प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥ ७८ ॥**

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय-ये दस प्राण भी नाडियों में विचरण करते रहते हैं। इनमें प्राणादि प्रथम पाँच मुख्य हैं, जिनमें से दो (प्राण-अपान) प्रधान हैं ॥ ७७-७८ ॥

**प्राण एवाथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः । आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम् ॥ ७९ ॥**

**पादाङ्गुष्टमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम । अपानश्वरति ब्रह्मनुदमेद्रोर्जानुषु ॥ ८० ॥**

अथवा प्राणवायु ही सबसे प्रमुख है, जो जीव को धारण किये रहता है। हे द्विज श्रेष्ठ! मुख्य प्राण के प्रधान निवास स्थान पाँच बतलाये गये हैं—जिनमें मुख एवं नासिका का मध्य भाग, हृदय, नाभि मण्डल एवं पैर का अँगूठा है। हे ब्रह्मन्! अपान वायु-गुदा, मेद्र, जंघा एवं घुटने में विचरण करता है ॥ ७९-८० ॥

**समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः । उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥ ८१ ॥**

समान वायु शरीर के समस्त अंगों में संव्यास रहता है तथा उदान चारों हाथ-पैरों एवं समस्त संधि-जोड़ के स्थानों में प्रतिष्ठित है ॥ ८१ ॥

**व्यानः श्रोत्रोरुक्तयां च गुल्फस्कन्धगलेषु च । नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥ ८२**

व्यान नामक वायु-श्रोत्र, जंघा, कमर, ऐडी, कन्धे एवं गले में निवास करता है और नाग आदि पाँच उपवायु त्वचा, अस्थि (हड्डी) आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ८२ ॥

**तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम् । तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥ ८३ ॥**

तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम् । तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥ ८३ ॥

प्राणवायु आमाशय में स्थित जल, अन्न एवं रस आदि को सर्वप्रथम एकत्र करता है । तत्पश्चात् उसी के बीच में पृथक्-पृथक् स्थापित करता है ॥ ८३ ॥

**इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितम् । अपानवायुमूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥ ८४ ॥**

इन समस्त कार्यों को प्राणवायु अलग स्थित होकर करता है । मल एवं मूत्रादि के विसर्जन का कार्य अपान-वायु द्वारा सम्पन्न होता है ॥ ८४ ॥

**प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना । उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥ ८५ ॥**

प्राण, अपान आदि वायु की चेष्टाएँ व्यान वायु के योग से सम्पन्न की जाती हैं तथा शरीर में विद्यमान उदान वायु के द्वारा नभोगामी (ऊर्ध्वर्गामी) हुआ जाता है ॥ ८५ ॥

**पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा । उद्धारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्षादिनिमीलनः ॥ ८६ ॥**

शरीर का पालन-पोषण सर्वदा समान-वायु के द्वारा सम्पन्न होता है । डकार आदि की क्रिया नाग-वायु के द्वारा होती है और नेत्रों का खोलना एवं बन्द करना कूर्म-वायु का कार्य होता है ॥ ८६ ॥

**कृकरः क्षुतयोः कर्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् । मृतगात्रस्य शोभादेर्धनंजय उदाहृतः ॥ ८७ ॥**

कृकल-वायु का कार्य भूख लगना है । देवदत्त-वायु के द्वारा निद्रा आदि तथा मृत शरीर की शोभा (मृत्युपरान्त कुछ समय तक अविकृत रहना) आदि धनञ्जय वायु का कार्य कहा गया है ॥ ८७ ॥

**नाडीभेदं मरुद्वेदं मरुतां स्थानमेव च । चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैव द्विजसत्तम ॥ ८८ ॥**

हे द्विज श्रेष्ठ ! नाडी, वायु, प्राणों के स्थान तथा चेष्टाएँ नाना प्रकार की हैं । उन सभी को जानने का प्रयास करना चाहिए ॥ ८८ ॥

**शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः । विविक्तदेशमासाद्य सर्वसंबन्धवर्जितः ॥ ८९ ॥**

योगाङ्गद्व्यसंपूर्णं तत्र दारुमये शुभे । आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥ ९० ॥

**तावदासनमुत्सेधे तावदद्वयसमायते । उपविश्यासनं सम्यक्स्वस्तिकादि यथारुचि ॥ ९१ ॥**

पूर्व में कहे हुए ज्ञान(विधि) से नाड़ियों का शोधन कर लेना चाहिए । तदनन्तर सभी तरह के सम्बन्धों का परित्याग करके, एकान्त स्थल में स्थित होकर योगाङ्ग के साधन में सम्पूर्ण सामग्री एकत्र करके दर्भ कुश अथवा काले हिरण आदि का आसन बना करके, जब तक दोनों ओर के अंग समान न हो जाएँ, तब तक आसन साधन करते रहना चाहिए । इसके लिए आसन स्थल में बैठकर यथारुचि स्वस्तिक आदि किसी भी आसन का अभ्यास करते रहना चाहिए ॥ ८९-९१ ॥

**बद्धवा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः । नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ ९२ ॥**

रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः । आकुञ्जितशिरः किंचित्प्रिवधन्योगमुद्रया ॥ ९३ ॥

**हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत् । रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा ॥ ९४ ॥**

सर्वप्रथम आसन लगाकर शरीर को सीधा करके बैठे। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे रहे, दाँतों को दाँतों द्वारा स्पर्श न करते हुए, जिहा को तालु में लगाकर स्वस्थ चित्त एवं निरामय भाव से सिर को आकुंचित (थोड़ा झुकाकर) करते हुए योग मुद्रा में हाथों को आबद्ध करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। रेचक, पूरक (और कुंभक) के द्वारा वायु का शोधन करते हुए (पुनः) रेचन की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए॥ ९२-९४॥

**चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते । हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्॥ ९५॥**

**शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम् । इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोडशमात्रया ॥ ९६॥**

**पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुःषष्ठ्या तु मात्रया । द्वात्रिंशमात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम्॥ ९७॥**

इस प्रकार इन चार विधियों के द्वारा वायु को गतिशील करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। दाहिने हाथ के द्वारा नासिका पुट को दबाकर पिंगला (दायीं नासिका) से वायु का बहिर्गमन करे। तदनन्तर सोलह मात्रा से इड़ा (बायीं नासिका) द्वारा वायु को अन्दर की ओर खींचे तथा चौंसठ मात्रा से कुम्भक करे और बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला (दायीं नासिका) के द्वारा बहिर्गमन कर देना चाहिए॥ ९५-९७॥

**एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु । संपूर्णकुम्भवदेहं कुम्भयेन्मात्रिश्वना ॥ ९८॥**

इस प्रकार बार-बार क्रम एवं विपरीत क्रम से सर्वदा अभ्यास करता रहे और शरीर के अन्दर भरी हुई वायु को कुम्भ (घड़े) की भाँति स्थिर करके रोके रहे॥ ९८॥

**पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मात्रिश्वना । एवं कृते सति ब्रह्मश्चरन्ति दश वायवः ॥ ९९॥**

हे ब्रह्मन्! इस क्रिया से समस्त नाड़ियाँ वायु से परिपूर्ण हो जाती हैं। उन नाड़ियों में दसों वायुएँ (प्राणधारायें) सम्यकरूप से चलने लगती हैं॥ ९९॥

**हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम् । तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम्॥ १००॥**

तदनन्तर हृदय रूपी कमल विकसित होकर स्वच्छ-स्पष्ट हो जाता है तथा उस स्थान पर परमात्म स्वरूप, निष्पाप वासुदेव के दर्शन स्पष्ट रूप से होने लगते हैं॥ १००॥

**प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् । शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ १०१॥**

इस अभ्यास से प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सायंकाल तथा अर्द्धरात्रि को चार बार कुम्भक करना चाहिए और क्रमशः उसे अस्सी (८०) मात्रा तक धीरे-धीरे बढ़ा देना चाहिए॥ १०१॥

**एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते । संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥ १०२॥**

**योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः । अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत्॥ १०३॥**

इस उपर्युक्त विधि से एक दिन के अभ्यास करने मात्र से ही सभी तरह के पापों का शमन हो जाता है। जो मनुष्य इस तरह लगातार तीन वर्ष तक नियमित अभ्यासपूर्वक प्राणायाम करता है, वह योगसिद्ध हो जाता है। वह योगी (साधक) वायु को जीतने वाला, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला, अल्पाहारी, स्वल्प नीदवाला, तेजोमय एवं बलवान् होता है॥ १०२-१०३॥

**अपमृत्युमतिक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात् । प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः ॥ १०४॥**

**कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः । उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥ १०५॥**

वह अकाल मृत्यु के भय को विनष्ट करके दीर्घायु को प्राप्त होता है। जिस प्राणायाम में पसीना आता है, वह अधम कहलाता है। जिस (प्राणायाम) में शरीर में कँपकँपी होती है, वह मध्यम है तथा जिस (प्राणायाम) में शरीर ऊर्ध्व की ओर उठता है, वह उत्तम कहा गया है॥ १०४-१०५॥

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः । पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥ १०६ ॥

अल्पमूत्रोऽल्पविष्टश्च लघुदेहो मिताशनः । पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥ १०७ ॥

अधम कोटि के प्राणायाम से आधि-व्याधि एवं समूर्ण पापों का विनाश हो जाता है। मध्यम कोटि के प्राणायाम से महाव्याधियाँ, पाप एवं समस्त रोग समाप्त हो जाते हैं और उत्तम प्राणायाम से (साधक) अल्पनिद्रा वाला, अल्प मल-मूत्र वाला, लघु शरीर वाला एवं अल्पाहार वाला होता है। इन्द्रियाँ एवं बुद्धि तीव्र हो जाती हैं तथा वह योगी तीनों कालों को जानने में समर्थ हो जाता है ॥ १०६-१०७ ॥

**रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः । करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥ १०८ ॥**

जो योगी रेचक एवं पूरक से मुक्त होकर एकमात्र कुम्भक ही करने में तत्पर हो जाता है, उसके लिए तीनों कालों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ॥ १०८ ॥

**नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्रवान् । धारयेन्मनसा प्राणान्सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥ १०९ ॥**

अपने योग में निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाले साधक को नाभिकन्द (मूल) में, नासिका के अग्रभाग में तथा दोनों पैरों के अँगूठे में, सन्ध्या-वन्दन के समय मन द्वारा प्राणतत्त्व की धारणा करनी चाहिए ॥ १०९ ॥  
सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः । कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥ ११० ॥

इस प्रकार की प्रक्रिया से योगी साधक समस्त रोगों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक जीवन पूर्ण करता है। नाभिकन्द (मूल) में प्राणों को धारण करने पर कुक्षि (कोख-पेट) के समस्त रोग विनष्ट हो जाते हैं ॥ ११० ॥  
नासाग्रे धारणादीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम् । ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वा ॥ १११ ॥  
पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्स्मद्बिर्महती भवेत् । अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥ ११२ ॥

नासिका के अग्रभाग में प्राण को धारण करने से दीर्घायुष्य एवं शरीर की लघुता (हल्कापन) प्राप्त होती है। ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पीने से मात्र तीन मास में ही वाक्-सिद्धि प्राप्त हो जाती है तथा छः मास में (उस योगी को) महारोग से मुक्ति मिल जाती है ॥ १११-११२ ॥

**यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते । धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्रुते ॥ ११३ ॥**

शरीर के पीड़ित अंगों में जहाँ-रहाँ वायु के जकड़न आदि से उत्पन्न दूषित रोगों का विनाश करने के लिए उन अंगों में वायु (प्राण) को धारण करने से योगी रोग-रहित हो जाता है ॥ ११३ ॥

**मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् । मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥ ११४ ॥**

मन की धारणा से ही वायु (प्राण) की भी धारणा उत्पन्न होने लगती है। हे द्विज! मन को स्थिर-एकाग्र करने के लिए प्राण की साधना (प्राणायाम) को अनिवार्य कहा गया है ॥ ११४ ॥

**करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः । अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥ ११५ ॥**

**बध्न्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम् । युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥ ११६ ॥**

अपान-वायु को इन्द्रिय आदि विषयों से अलग करके ऊर्ध्व में ही धारण किए रहना चाहिए तथा दोनों हाथों (की अँगुलियों) से दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए। इस क्रिया (षण्मुखी मुद्रा-दोनों हाथों की अँगुलियों से आँख, कान, मुख, नाक आदि बन्द करने) से मन को वशीभूत कर लिया जाता है ॥ ११५-११६ ॥

**मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यतं सदा । नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥ ११७ ॥**

इस प्रकार से मन पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्राणवायु नियमित हो जाता है एवं नासिका द्वारा क्रमानुसार उसका आवागमन प्रारम्भ हो जाता है ॥ ११७ ॥

तिस्तश्च नाडिकास्तासु स यावनं चरत्ययम्। शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम्॥११८॥  
तावनं च पुनः कालं सौम्ये चरति संततम्। इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः॥११९॥  
अहश्च रात्रिं पक्षं च मासमृत्यवनादिकम्। अन्तर्मुखो विजानीयात्कालभेदं समाहितः॥१२०॥

मुख्य तीन नाडियाँ हैं। उनमें प्राणायाम करने वाले-साधकों का श्वास दायें एवं बायें नासापुटों के द्वारा समान समय तक क्रियाशील होकर चलता रहता है। इस तरह से जिसका प्राण क्रमपूर्वक सक्रिय रहता है, वह प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् वह योगी दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि के काल भेद को अन्तर्मुखी होकर जानने में समर्थ हो जाता है, उसे अपने में समाहित कर लेता है॥११८-१२०॥

**अङ्गुष्ठादिस्वावयवस्फुरणादर्शनैरपि । अरिष्टर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥ १२१ ॥**

अंगुष्ठादि अपने अंगों का स्फुरण (अर्थात् नाड़ी- संस्थानों में रक्त गति से फड़कना) बन्द हो जाने पर शीघ्रातिशीघ्र अपने जीवन का समापन समझ लेना चाहिए॥१२१॥

**ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः । पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य न श्रुतिः॥ १२२ ॥**  
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितस्य क्षयो भवेत्। मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति॥१२३॥  
**षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत् । कूर्पे स्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः॥१२४॥**

ऐसे अनिष्ट-सूचक संकेतों को जानने के पश्चात् श्रेष्ठ योगी-साधक को अपना पूरा ध्यान मोक्ष-प्राप्ति की साधना में लगाना चाहिए। जिसके दोनों पैरों एवं दोनों हाथ के अङ्गूठों में स्फुरण न होते जान पड़े, तो यह जानना चाहिए कि उसका जीवन मात्र एक वर्ष में समाप्त होने वाला है। मणिबन्ध (कलाई) एवं गुल्फ (टखना) का स्फुरण जब बन्द हो जाये, तो मनुष्य मात्र छः मास तक ही जीवित रहता है और जब हाथ की 'कोहनी' में स्फुरण न हो, तो जीवन की अवधि मात्र तीन मास ही शेष बचती है॥१२२-१२४॥

**कुक्षिमेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलभ्नने । मासावधिर्जीवितस्य तदर्थस्य तु दर्शने॥ १२५ ॥**

कुक्षि(पेट के अगल-बगल का हिस्सा) और उपस्थेत्रिय(लिंग)में स्फुरण न हो, तो मात्र एक मास में जीवन समाप्त हो जाता है और चक्षुओं में स्फुरण न हो, तो मात्र पन्द्रह दिन में ही जीवन समाप्त हो जाता है॥१२५॥  
**आश्रिते जठरद्वारे दिनानि दश जीवितम् । ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्थं तस्य जीवितम्॥ १२६ ॥**

जठर द्वार पर जब स्फुरण न हो, तब जीवन की अवधि मात्र दस दिन शेष बचती है और (सूर्य-चन्द्र की) ज्योति जब जुगनू के समान हो जाये, तो फिर पाँच दिन ही शेष रह जाते हैं॥१२६॥

**जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः । ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम्॥ १२७ ॥**

जिह्वा के अग्रभाग का दर्शन जब बन्द हो जाये, तो फिर तीन दिन का ही समय शेष समझना चाहिए और जब ज्वाला का दिखाई पड़ा बन्द हो जाये, तो दो ही दिन शेष जानना चाहिए॥१२७॥

**एवमादीन्यरिष्टानि दृष्टायुः क्षयकारणम् । निःश्रेयसाय युज्जीत जपध्यानपरायणः॥ १२८ ॥**

ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व आयु को क्षीण करने वाले कारण रूप हैं। इन सभी तत्त्वों को जानकर अपने कल्याण-हेतु जप एवं ध्यान में संलग्न हो जाना चाहिए॥१२८॥

**मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् । यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्॥ १२९ ॥**

मन के द्वारा परम पिता परमात्मा का चिन्तन करते हुए तदनुरूप बनने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसकी चेतना को शरीर के अट्ठारह मर्मस्थलों में धारण किया जाना चाहिए॥१२९॥

**स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते । पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च ॥१३० ॥**

मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च । मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम् ॥ १३१ ॥  
तालुमूलं च मूलं च ग्राणस्याक्षणोश्च मण्डलम् । भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी ॥१३२ ॥  
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज । पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥ १३३ ॥

एक स्थल से दूसरे स्थल को खींचना ही प्रत्याहार कहलाता है । पैर का अङ्गूठा, एड़ी, जाँघ का मध्य भाग, ऊरु का मध्य भाग, गुदा का मूलभाग, हृदय, उपस्थ, देह का मध्य भाग नाभि, कण्ठ, कोहनी, तालु-मूल, नासिका का मूल, आँखों का मण्डल, भौंहों का मध्य, ललाट, मस्तक का मूल भाग, घुटने का मूल भाग, हाथों का मूल भाग हे द्विज ! ये सभी स्थल इस पञ्च भौतिक शरीर के मर्म स्थान कहे गये हैं ॥ १३०-१३३ ॥  
मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः । धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥ १३४ ॥

यमादि के द्वारा मन का धारण (एकाग्र) करना ही धारणा कहलाता है । इसके द्वारा मनुष्य संसाररूपी समुद्र को पार करने में सक्षम हो जाता है ॥ १३४ ॥

आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते । पित्तला चतुरस्त्रा च वसुधा वज्रलाज्जिता ॥ १३५ ॥

पैरों से लेकर घुटनों तक पृथ्वी-तत्त्व का अंश कहा गया है । पीले रंग की चार कोण से युक्त पृथ्वी वज्र-लाज्जिता (जटित) कही गई है ॥ १३५ ॥

स्मर्तव्या पञ्चघटिकास्तत्रारोप्य प्रभञ्जनम् । आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥ १३६ ॥

पाँच घटी (दो घण्टे) तक वायु को ग्रहण करके पृथ्वी तत्त्व का चिन्तन करते रहना चाहिए । घुटनों से कमर तक का भाग जल का क्षेत्र कहा गया है ॥ १३६ ॥

अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाज्जितम् । स्मर्तव्यमम्भः श्वसनमारोप्य दश नाडिकाः ॥ १३७ ॥

इस जल का आकार अर्धचन्द्रमा की भाँति है । उसका रंग श्वेत शुभ्र है एवं चाँदी से लांछित (जटित) है । इसमें दस-घटी अर्थात् (४ घण्टे) तक श्वास रोककर जल तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए ॥ १३७ ॥

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम् । तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च ॥ १३८ ॥

स्मर्तव्या नाडिकाः प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम् । नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥१३९ ॥

वेदिकाकारवद्दूस्रो बलवान्भूतमारुतः । स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥ १४० ॥

घटिकाविंशतिस्तस्माद् प्राणाद्वाह्विलावधि । व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाज्जनसमप्रभम् ॥ १४१ ॥

शरीर के कटि-प्रदेश के मध्य में अग्नि का स्थान कहा गया है । उसका आकार अग्नि की लपटों की तरह तथा रंग सिंदूर के सदृश है । उसमें पन्द्रह घटी (छः घण्टे) तक कुम्भक द्वारा प्राण तत्त्व को रोककर अग्नि तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए । नाभि से नासिका तक का भाग वायु का स्थल कहा गया है, जिसका आकार वेदी के सदृश है । धूम्र की भाँति शक्तिशाली मरुत् का ध्यान बीस घड़ी अर्थात् (८ घण्टे) तक कुम्भक द्वारा वायु को आरोपित करके करना चाहिए । नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाश तत्त्व का स्थान कहा गया है, जिसकी आभा नीले रंग की कही गई है ॥ १३८-१४१ ॥

व्योग्निमारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्वान् । पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ १४२ ॥

अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये । अबंशे पूर्येयोगी नारायणमुदग्रधीः ॥ १४३ ॥

प्रद्युम्नग्रौ वाव्यंशे संकर्षणमतः परम् । व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत् ॥ १४४ ॥

प्रयत्नशील योगी साधक कुम्भक द्वारा प्राणवायु को आकाश क्षेत्र में आरोपित करे । तदनन्तर पृथ्वी क्षेत्र वाले भाग में चतुर्भुज किरीट युक्त अनिरुद्ध हरि का चिन्तन करे । इस विधि से योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेने में

समर्थ हो जाता है। जल वाले भाग में श्रीनारायण का ध्यान करे, अग्नि वाले स्थान में प्रद्युम्न का चिन्तन करे, वायु क्षेत्र में संकर्षण का एवं आकाश वाले अंश में परमात्मा वासुदेव का चिन्तन सतत करता रहे ॥ १४२-१४४ ॥  
**अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युज्ञानस्य न संशयः ।** बद्धवा योगासनं पूर्वं हृदेशे हृदयाज्ञलिः ॥१४५ ॥  
**नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि ।** दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥१४६ ॥  
**संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्ध्या ।** चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ॥ १४७ ॥

जो योगी साधक इस अभ्यास को नियम सहित निरन्तर करता रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेता है। सर्वप्रथम योगासन पर आरूढ़ होकर हृदय प्रदेश में हृदय की विशेष आकृति का चिन्तन करते हुए स्थित होकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करे। जिह्वा को तालु से स्पर्श करे, दाँतों का दाँतों से संस्पर्श करते हुए शरीर को ऊँचा करके समाहित होकर बैठे। विशुद्ध आत्मबुद्धि द्वारा इन्द्रियों का संयम करता हुआ परब्रह्म परमात्मा वासुदेव का ध्यान करे ॥ १४५-१४७ ॥

**स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ।** याममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः ॥ १४८ ॥  
**सप्तजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः ।** नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्वृदयगोचरम् ॥ १४९ ॥  
**जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्रवर्तनम् ।** सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भूमध्यसंस्थितम् ॥ १५० ॥

योगी को कैवल्य की प्राप्ति अपने अन्तःकरण में संव्यास परमात्मतत्त्व के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने से होती है। इस प्रकार एक प्रहर तक कुम्भक करते हुए जो योगी परब्रह्मय वासुदेव का ध्यान करता है, उसके सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। नाभिकेन्द्र से लेकर के हृदयप्रदेश तक जाग्रत् अवस्था का क्षेत्र है, स्वप्रावस्था कण्ठ में, सुषुप्तावस्था तालु के मध्य में एवं तुर्यावस्था भृकुटियों के मध्य में प्रतिष्ठित है ॥ १४८-१५०  
**तुर्यातीतं परं ब्रह्म ब्रह्मरन्धे तु लक्षयेत् ।** जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद्वृद्यविलान्तरम् ॥ १५१ ॥  
**तत्रात्मायं तुरीयस्य तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते ।** ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥ १५२ ॥  
**सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम् ।** हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विश्वरूपिणम् ॥ १५३ ॥

तुरीयावस्था का क्षेत्र ब्रह्मरन्ध में परब्रह्म की ओर लक्ष्य करके स्थित रहता है। जाग्रत् अवस्था से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध तक तुरीयावस्था का आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है, उसके अन्त में वह विष्णु के नाम से कहा गया है। तत्पश्चात् योगी-साधक को अत्यन्त निर्मल स्वच्छ आकाश में कमल रूपी हृदय में आसीन कोटि-कोटि सूर्य के सदृश प्रकाश से युक्त नित्य विश्वरूप विष्णु का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए ॥ १५१-१५३ ॥  
**अनेकाकारखचित्तमनेकवदनान्वितम् ।** अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥ १५४ ॥  
**नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम् ।** अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ १५५ ॥  
**ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति ।** हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥ १५६ ॥  
**कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम् ।** अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम् ॥ १५७ ॥  
**निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम् ।** ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥ १५८ ॥

उन अनेक आकार-प्रकार वाले, अनेक मुखों से युक्त, अनेक भुजाओं से संयुक्त, अनेकों आयुधों से मणिंडत, विभिन्न वर्णों को धारण किये हुए, देवस्वरूप, शान्त, उग्र, अनेक आयुधों को धारण किये हुए, अनेक नेत्रों से सम्पन्न, कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा से सम्पन्न विश्वस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु का चिन्तन-मनन करने से योगी की समस्त मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदय-कमल के मध्य स्थल में प्रतिष्ठित चैतन्यमय, ज्योतिस्वरूप, योगी की समस्त मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदय-कमल के मध्य स्थल में प्रतिष्ठित चैतन्यमय, ज्योतिस्वरूप, अव्यय, कदम्ब के सदृश गोलाकार, तुर्यातीत, परात्पर, अन्तरहित, आनन्दमय, चिन्मय, प्रकाशमान, विभु, निर्बात स्थल में स्थित दीपक की भाँति अकृत्रिम मणि की कान्ति से युक्त परब्रह्म का ध्यान करने से 'मुक्ति' योगी के करतलगत स्थित रहती है ॥ १५४-१५८ ॥

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि । स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे ॥ १५९ ॥  
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते । अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥ १६० ॥

विश्वस्वरूप देव का जो कुछ भी स्थूल, सूक्ष्म या फिर अन्य दूसरे प्रकार का स्वरूप है, जो योगी-साधक उसका अपने कमल रूपी हृदय में ध्यान करता है, वह स्वयं साक्षात् उन्हीं परब्रह्म के स्वरूप का ही हो जाता है । अणिमा-लघिमा आदि समस्त सिद्धियों के फल को वह अनायास ही प्राप्त कर लेता है ॥ १५९-१६० ॥  
जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि । अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥ १६१ ॥  
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः । ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत् ॥ १६२ ॥

जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इस स्थिति तक पहुँच जाना ही समाधि कही गई है । उसके अन्तर्गत सभी प्रकार की वृत्तियों-इच्छाओं का समापन हो जाता है । जो भी योगी मनुष्य इस तरह से परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः इस नश्वर जगत् में नहीं आता ॥ १६१-१६२ ॥  
एवं विशेषध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा । यथा निरन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशास्यति ॥ १६३ ॥

इस प्रकार से योगी-साधक योग तत्त्वों का शोधन करता हुआ स्पृहारहित चित्त द्वारा ईंधनरहित अग्नि की भाँति स्वयमेव शान्त हो जाता है ॥ १६३ ॥

**ग्राहाभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः । शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥ १६४ ॥**

तदनन्तर उस योगी के लिए और कुछ स्वीकार करने योग्य शेष नहीं रहता । उसका मन एवं प्राण सच्चे आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाता है तथा उसकी जीवात्मा शुद्ध-पवित्र-परमात्म तत्त्व में, जल में नमक की तरह से विलीन हो जाती है ॥ १६४ ॥

**मोहजालकसंघातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् । सुषुमिवद्यश्वरति स्वभावपरिनिश्चलः ॥ १६५ ॥**

निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्रुत इत्युपनिषत् ॥

उस योगी को माया-मोह के जाल में आबद्ध हुआ यह संसार स्वप्र की भाँति दृष्टिगोचर होने लगता है तथा वह पूर्ण निश्चल होकर स्वभाव वश ही सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है ॥ १६५ ॥  
ऐसा श्रेष्ठ योगी-साधक निर्वाण के पद पर आसीन होकर कैवल्यावस्था की स्थिति में पहुँच जाता है, ऐसी ही यह उपनिषद् विद्या है ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ दक्षिणामूर्त्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें 'शिवतत्त्व' पर प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् शौनकादि महर्षियों एवं मार्कण्डेय ऋषि के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम शिवतत्त्व के ज्ञान से चिरजीविता की प्राप्ति का विवेचन है, तदुपरान्त शिव तत्त्व के ज्ञान के लिए कुछ प्रश्न किए गये हैं, जिसके उत्तर में मार्कण्डेय ऋषि ने परम रहस्यमय शिव तत्त्व का बोध कराया है। इसके बाद २४ अक्षरात्मक मन्त्र, नवाक्षर मन्त्र, १८ अक्षरात्मक मन्त्र तथा १२ अक्षरात्मक मन्त्र का वर्णन है। इसके आगे आनुष्ठभ मन्त्रराज का तथा निष्ठा आदि का निरूपण है, जिसके परिणाम स्वरूप शिवतत्त्व का ज्ञानोदय होता है। अन्त में उपनिषद् के अध्ययन एवं अनुभूति के प्रतिफल का प्रतिपादन किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ ( ब्रह्मव्य-अक्षयुपनिषद् )

**ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्ते ह समित्याणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरंजीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वानन्दमनुभवसीति ॥ १ ॥**

एक बार ब्रह्मावर्त देश में महाभाण्डीर नाम के वट वृक्ष के नीचे शौनकादि महर्षियों ने दीर्घकाल तक चलने वाला यज्ञ प्रारम्भ किया। (उस समय) शौनकादि ऋषियों ने तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए समित्याण होकर चिरंजीवी मार्कण्डेय ऋषि के सम्मुख आकर प्रश्न किया। हे महर्षे! आप चिरंजीवी कैसे हुए एवं (दीर्घायु के साथ) कैसे अपार आनन्द की अनुभूति करते हैं? ॥ १ ॥

**परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ॥ २ ॥ किं तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् । तत्र को देवः । के मन्त्राः । को जपः । का मुद्रा । का निष्ठा । किं तज्ज्ञानसाधनम् । कः परिकरः । को बलिः । कः कालः । किं तत्स्थानमिति ॥ ३ ॥**

उन्होंने कहा कि मेरे चिरंजीवी होने का कारण परमगुप्त शिव तत्त्व का ज्ञान है। ऋषियों ने पूछा-वह परम रहस्यमय शिव तत्त्व का ज्ञान क्या है? उसका देवता कौन है? उसके मन्त्र कौन से हैं? (उसका) जप (मन्त्र) क्या है? (उसके लिए) मुद्रा कौन सी है? उसकी निष्ठा क्या है? क्या-क्या उस ज्ञान के साधन हैं? उसका परिकर क्या है? उसमें बलि क्या है? उसका समय क्या है? उसका स्थान क्या है? ॥ २-३ ॥

**स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् ॥ ४ ॥ यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते वा स देवः ॥ ५ ॥**

उन मार्कण्डेय ऋषि ने कहा-जिसके द्वारा दक्षिणामुख शिव का प्राकट्य होता है, वही परम रहस्यमय शिव तत्त्व का ज्ञान है। जो सृष्टि के अन्त में सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समेट करके अपनी आत्मा में ही आनन्दित रहते एवं स्वप्रकाशित रहते हैं, वे ही इस ज्ञान तत्त्व के देवता हैं। ४-५ ॥

अब प्रज्ञा, मेधा का विज्ञान प्रदान करने वाले मन्त्रों का उदाहरण दिया जा रहा है—

**अत्रैते मन्त्ररहस्यश्रूका भवन्ति । मेधा दक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवता दक्षिणास्यः । मन्त्रेणाङ्गन्यासः ॥ ६ ॥**

अब मन्त्र के रहस्य को प्रकट करने वाले श्रूक कहे जा रहे हैं। इस मेधा दक्षिणामूर्ति मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और दक्षिणामुख देवता हैं। मन्त्र के द्वारा अंग न्यास करना चाहिए। ६ ॥

ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम् । दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत् ।  
अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत् । प्रमुच्चार्य ततो वायुबीजं छं च ततः पठेत् ।  
अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विशाक्षरो मनुः ॥ ७ ॥

सबसे पहले 'ॐ नमः' शब्द का उच्चारण करके फिर 'भगवते' पद का उच्चारण करे, पुनः 'दक्षिणा' यह पद कहे, फिर 'मूर्तये' पद को कहे, बाद में अस्मद् शब्द के चतुर्थी का एकवचन अर्थात् 'मह्यं' पद कहे तथा बाद में 'मेधां प्रज्ञां' पदों का उच्चारण करे। पुनः 'प्र' का उच्चारण करके तब वायु बीज 'य' का उच्चारण कर आगे 'छं' पद बोले, सबसे बाद में अग्नि की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' पद कहे। इस प्रकार चौबीस अक्षर का यह मनु मन्त्र है ॥ ७ ॥

[इस प्रकार यह मन्त्र 'ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा' बनता है।]

ध्यानम् । स्फटिकरजतंवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे ।  
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥ ८ ॥

ध्यान— मैं स्फटिक मणि एवं रजत सदृश शुभ्र वर्ण वाले दक्षिणामूर्ति (भगवान् शिव) की स्तुति करता हूँ, जिनके हाथ में क्रमशः ज्ञान मुद्रा, अमृततत्त्वदायिनीविद्या तथा मोतियों की अक्षमाला है, जो त्रिनेत्र धारी हैं, जिनके उन्नत भाल पर चन्द्रमा का निवास है तथा जिनके कटिभाग पर सर्प लिपटे हुए हैं एवं जो विविध प्रकार के वेष धारण करने वाले हैं। (इस प्रकार की दक्षिणामूर्ति का मैं ध्यान करता हूँ।) ॥ ८ ॥

मन्त्रेण न्यासः । आदौ वेदादिमुच्चार्यं स्वराद्यं सविसर्गकम् । पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं  
सविसर्गकम् । अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥ ९ ॥

मन्त्र के द्वारा न्यास करें—

प्रारम्भ में वेद का आदि अक्षर ॐ का उच्चारण करके स्वर के आदि अक्षर को विसर्ग के साथ बोले, पुनः पंचार्ण अर्थात् 'दक्षिणामूर्तिः' पद का उच्चारण करे। इसके बाद विसर्ग के साथ 'अतर' इस पद का उच्चारण करे तथा अन्त में 'तार' अर्थात् ॐ शब्द का उच्चारण करे। यह नवाक्षरी मनु मन्त्र है, (मन्त्र इस प्रकार है— ॐ दक्षिणामूर्तिरतरों) ॥ ९ ॥

मुद्रां भद्रार्थदात्रीं सपरशुहरिणं बाहुभिर्बहुमेकं जान्वासक्तं दधानो भुजगवरसमाबद्ध-  
कक्ष्यो वटाधः । आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटित जटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिर-  
भिवृतो भावशुद्धिं भवो नः ॥ १० ॥

(ध्यान) जो एक हाथ में अभय मुद्रा तथा दो हाथों में परशु एवं हरिण (मृगीमुद्रा), एक हाथ को अपनी जंघा पर रखे हुए जो वट वृक्ष के नीचे विराजे हुए हैं एवं जिन्होंने कटिभाग पर नागराज लिपटा रखा है तथा द्वितीया का चन्द्रमा जिनकी जटाओं में सुशोभित है। दुग्ध के समान गौर वर्ण, त्रिनेत्रधारी तथा शुकादि मुनियों से आवृत भगवान् शंकर का हम ध्यान करते हैं। वे हमारी भावनाओं को शुद्ध करके सद्बुद्धि प्रदान करें ॥ १० ॥

मन्त्रेण न्यासः ब्रह्मर्षिन्यासः—तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च ।  
दक्षिणापदमुच्चार्य ततः स्यान्मूर्तये पदम् ॥ ११ ॥ ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्विजायां ततो न्यसेत् ।  
मनुरष्टादशाणोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥ १२ ॥

सर्वप्रथम तारं अर्थात् ॐ का उच्चारण करे, पुनः 'ब्लूं नमः' कहकर माया बीज अर्थात् 'हीं' बोले, फिर वाग्बीज 'ऐं' तथा 'दक्षिणा' इस पद का उच्चारण करके, बाद में 'मूर्तये' एवं 'ज्ञानं देहि' पद कहे। उसके बाद अग्नि की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' पद बोले (इस प्रकार 'ॐ ब्लूं नमो हीं ऐं दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा') यह अट्ठारह अक्षर का मनु मन्त्र है, इसका जप करे। सभी मन्त्रों में यह अति गोपनीय मन्त्र है ॥ ११-१२ ॥

**भस्मव्यापाण्डराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमालावीणा पुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः । व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः ॥ १३ ॥**

(ध्यान) भस्म के लेपन से जिसका पूरा शरीर श्वेत हो रहा है, जिन्होंने चन्द्रकला को (मस्तक पर) धारण कर रखा है, जो अपने कर कमलों में रुद्राक्ष माला, वीणा, पुस्तक तथा ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए हैं, जो योगियों के पास रहने वाले पट्ट से सुशोभित हैं, जो व्यास पीठ पर विराजित श्रेष्ठ मुनियों द्वारा सेवित प्रसन्न मुद्राधारी, सर्पों से सुशोभित, व्याघ्रचर्मधारी भगवान् दक्षिणामूर्ति हैं, वे भगवान् सदैव हमारी रक्षा करें ॥ १३ ॥  
**मन्त्रेण न्यासः । ( ब्रह्मर्धिन्यासः ) । तारं परां रमाबीजं वदेत्साम्बशिवाय च । तुभ्यं चानलजायां च मनुद्वादिशवर्णकः ॥ १४ ॥** वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमध्नाभगलं वराद्यम् ।  
**फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाथः कृतनीडमीडे ॥ १५ ॥**

मन्त्र के द्वारा न्यास करें — सर्वप्रथम तारं अर्थात् 'ॐ' फिर परा बीज 'हीं' पुनः रमाबीज 'श्रीं' कहे, इसके बाद 'साम्बशिवाय' पुनः 'तुभ्यं' और अन्त में 'स्वाहा' का उच्चारण करे। इस प्रकार यह द्वादश अक्षर वाला मनु मंत्र है। (मन्त्र इस प्रकार बनता है- 'ॐ हीं श्रीं साम्बशिवाय तुभ्यं स्वाहा') । (ध्यान) जिन भगवान् शंकर ने अपने हाथों में वीणा, पुस्तक एवं अक्षमाला धारण कर रखी है, एक हाथ जिनका अभय मुद्रा में है तथा श्यामवर्ण के घनघोर बादल की तरह जिनका कण्ठ प्रदेश सुशोभित है, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं, जिनके कटिभाग पर नागराज शोभित हैं, जो वट वृक्ष के नीचे विराजमान हैं तथा शुकादि मुनियों से सेवित हैं, उन भगवान् (शंकर) की मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ १४-१५ ॥

**विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः । देवता दक्षिणास्यः । मन्त्रेण न्यासः । तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपदं ततः । मूलेति पदमुच्चार्य वासिने पदमुद्धरेत् ॥ १६ ॥** वागीशाय ततः पश्चान्महाज्ञानपदं ततः । दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत् ॥ १७ ॥

इस मन्त्र के विष्णु ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, दक्षिणा मुख (मूर्ति) देवता हैं, इससे न्यास करे। सर्वप्रथम तार अर्थात् 'ॐ' पुनः 'नमो भगवते तुभ्यं' फिर 'वटमूल' पद उच्चारण करे, इसके बाद 'वासिने' पद कहकर 'वागीशाय' कहे, फिर 'महाज्ञान' एवं 'दायिने मायिने' पद को कहते हुए 'नमः' शब्द का उच्चारण करे। (मन्त्र इस प्रकार हुआ-३० नमो भगवते तुभ्यं वटमूलवासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः) ॥ १६-१७ ॥

**आनुष्टुभो मन्त्रराजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥ १८ ॥** ध्यानम् । मुद्रापुस्तकवहिनागविलसद्वाहुं प्रसन्नाननं मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वल्किरीटोज्ज्वलम् । अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टासये ॥ १९ ॥ मौनमुद्रा । सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवति ॥ २० ॥

सभी श्रेष्ठ मन्त्रों में उत्तम यह आनुष्टुभमन्त्रराज है। ध्यान-जिनके हाथ अभय मुद्रा, पुस्तक एवं अग्नि तुल्य महाभयंकर सर्पों से सुशोभित हैं, प्रसन्न मुख वाले हैं, मोतियों के हार से सुशोभित हैं, चन्द्रमा की कला से मुकुट अधिक शोभा पा रहा है, जो अज्ञानान्धकार को समाप्त करने वाले हैं, जिन्हें वाणी से नहीं जाना जा सकता, जो आदि पुरुष हैं, सबके हैं, वटवृक्ष के नीचे निवास करने वाले भगवान् शिव का अभीष्टप्राप्ति के लिए हम ध्यान करते हैं। मौन मुद्रा-वह परमात्मा मैं ही हूँ इस भाव की पूर्ण स्थिरता मृत्युपर्यन्त बनी रहे, वही निष्ठा है ॥ १८-२०

**तदभेदेन मन्त्राप्रेडनं ज्ञानसाधनम् ॥ २१ ॥** चित्ते तदेकतानता परिकरः ॥ २२ ॥  
**अङ्गचेष्टार्पणं बलिः ॥ २३ ॥** त्रीणि धामानि कालः ॥ २४ ॥ द्वादशान्तपदं स्थानमिति ॥ २५ ॥

मनु मन्त्रों को परब्रह्म से अभिन्न मान कर बार-बार उच्चारण अर्थात् निरन्तर जप करना ही ज्ञान का साधन है। उस परमात्मा में एकाग्रचित् होकर ध्यान लगाना ही 'उपकरण' सामग्री है। शरीर के अंगों अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टाओं को बार-बार रोकना एवं उन्हें भगवत्कार्य में नियोजित करना ही 'बलि' है। (स्व अविद्या पद, स्थूल तथा सूक्ष्म बीज के रूप में ये) तीनों धाम ही काल हैं। (परमात्मा को प्राप्त करने का स्थान हृदय या सहस्रार है, इसलिए यह) द्वादशान्त पद ही स्थान है॥ २१-२५॥

**ते ह पुनः श्रद्धानास्तं प्रत्यूचुः । कथं वाऽस्योदयः । किं स्वरूपम् । को वाऽस्योपासक इति ॥२६ ॥  
स होवाच । वैराग्यतैलसंपूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते । प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञसिदीपं विलोकयेत् ॥२७ ॥**

उन श्रद्धावान् ऋषियों ने मार्कण्डेय ऋषि से पुनः प्रश्न किया- किस प्रकार इसका उदय होता है? क्या स्वरूप है? इसका उपासक कौन है? उन्होंने कहा- वैराग्य रूपी तेल से परिपूर्ण, भक्ति रूपी वर्तिका से युक्त ज्ञानरूपी पात्र में ज्ञान(ज्ञान का विषय)रूपी दीपिका अर्थात् सर्वत्र समान रूप से व्याप्त ईश सत्ता का अपनी आत्मा के रूप में दर्शन होता है॥ २६-२७॥

**मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि । वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम् ॥ २८ ॥  
गाढतामिस्वसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत् । मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम् ॥ २९ ॥  
तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम् । उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थितः ॥ ३० ॥**

भगवद् दर्शन के लिए ज्ञान- भक्ति एवं वैराग्य की आवश्यकता है। इसके आते ही अज्ञानान्धकार समाप्त होकर आत्मारूपी दीपक स्वयं प्रज्वलित हो उठता है। अपने ज्ञानरूपी दण्ड से वैराग्य रूपी अरणी में मन्थन (चिन्तन) करके अज्ञानान्धकार के समाप्तन के लिए गूढ़ अर्थ अर्थात् परमतत्त्व को जानने का प्रयास करना चाहिए। उस परमतत्त्व का दर्शन, निरन्तर ज्ञान और वैराग्य के परिपालन एवं चिन्तन से ही सम्भव है। परमतत्त्व के बारे में किन्तु न करना ही पाश है, उक्त पाश से बँधे हुए द्वैतवाद से भयभीत-व्याकुल, मोहरूपी शनि अर्थात् मृत्यु के मुँह में गये हुए विवेक रूप मार्कण्डेय को परमतत्त्व का चिन्तन फिर से जीवन दान करते हुए अर्थात् आत्म-तत्त्व का बोध कराते हुए परमात्मा के परम आनन्द (अपने स्वरूप) में स्थित कर देता है॥ २८-३०॥

**शेषुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम् । दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥ ३१ ॥ सर्गादिकाले भगवान्विरिज्ज्वरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य । तुतोष चित्ते वाज्ञितार्थश्च लब्ध्वा धन्यः सोऽस्योपासको भवति धाता ॥ ३२ ॥**

ब्रह्म को प्रकाशित करने वाली तत्त्वज्ञान रूपिणी बुद्धि को ही दक्षिणा कहा है, वही ब्रह्म साक्षात्कार के लिए द्वार अर्थात् मुँह है। इसलिए ब्रह्म-ज्ञानियों ने उसी को 'दक्षिणामुख' नामक शिव कहा है। सृष्टि के आदि में प्रजापति ब्रह्माजी ने इनकी ही उपासना की। उसी से शक्ति प्राप्त करके सृष्टि की रचना रूपी अपने मनोरथ को पूर्ण किया और प्रसन्न हुए, इसलिए प्रजापति ब्रह्मा ही इनके उपासक हैं॥ ३१-३२॥

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति ।

य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत् ॥ ३३ ॥

इस शिवतत्त्वरूपी गुप्त विद्या का जो पाठ करता है, वह समस्त कल्पणों से छूट जाता है एवं इसको अच्छी तरह से जानने तथा मनन, चिन्तन करने वाला मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ऐसी यह उपनिषद् है॥ ३३॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति दक्षिणामूर्त्युपनिषत्प्रमाणा ॥



## ॥ देव्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अर्थवेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। देवगणों और महादेवी के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में यह उपनिषद् विवेचित है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्' शक्ति के सर्वात्म रूप और सर्वधारक रूप का वर्णन किया गया है। तदुपरान्त देवों द्वारा देवी की स्तुति है। इसके बाद क्रमशः आदिविद्या का उद्धार, आदिविद्या की महिमा, भुवनेशी एकाक्षर मन्त्र, महाचण्डी नवाक्षर विद्या तथा अन्त में इस विद्या की फलश्रुति वर्णित हुई है। यह उपनिषद् वैसे तो छोटी है; परन्तु देवी साधना के तत्त्व मार्ग की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य- कृष्णोपनिषद् )

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः । कासि त्वं महादेवि ॥ १ ॥ साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी । मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च अहमानन्दानानन्दाः विज्ञानाविज्ञानेऽहम् । ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये । इत्याहार्थर्वणी श्रुतिः ॥ २ ॥

समस्त देवगण देवी के समक्ष उपस्थित होकर प्रार्थना करते हुए बोले- 'हे महादेवि! आप कौन हैं? कृपा करके बताने का अनुग्रह करें'। तदनन्तर उन (देवी) ने उत्तर दिया-हे देवो! मैं ब्रह्म स्वरूपा हूँ। मेरे द्वारा ही यह प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। (अज्ञानियों के लिए) यह मुझसे शून्य (रहित) तथा (ज्ञानियों के लिए) अशून्य (सहित) है। मैं ही आनन्दस्वरूपा एवं आनन्दरहिता हूँ। मैं विज्ञानमयी एवं विज्ञान-विहीना हूँ। निश्चय ही मैं जानने योग्य ब्रह्म एवं ब्रह्म से भी परे हूँ। ऐसा ही अर्थवेद का यह मंत्र है ॥१-२॥

अहं पञ्च भूतान्यपञ्चभूतानि । अहमखिलं जगत् वेदोऽहमवेदोऽहम् । विद्याहमविद्याहम् । अजाहमनजाहम् । अथश्वेद्धर्वं च तिर्यक् चाहम् ॥ ३ ॥ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्वराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः । अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ॥ ४ ॥ अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम् । विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ॥ ५ ॥ अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्येऽयजमानाय सुन्वते । अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ॥ ६ ॥

मैं ही पञ्चीकृत (पाँच तत्त्वों का सम्मिलित रूप) और अपञ्चीकृत (पाँच तत्त्वों का स्वतंत्र रूप) महाभूत भी हूँ। दृष्टिगोचर होने वाला सम्पूर्ण विश्व भी मैं ही हूँ। वेद (ज्ञान) एवं अवेद (अज्ञान) भी मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं ही हूँ। अजा (प्रकृति) और अनजा (प्रकृति से भिन्न) भी मैं ही हूँ। ऊर्ध्व एवं अधः और अगल-बगल भी मैं ही हूँ। मैं रुद्रों एवं वसुओं के रूप में सर्वत्र सञ्चरणशील हूँ। मैं आदित्यों एवं विश्वदेवों के रूप में सर्वत्र विचरण किया करती हूँ। मैं ही मित्र तथा वरुण का, इन्द्र एवं अग्नि का तथा दोनों अश्विनीकुमारों का सदैव पालन-पोषण किया करती हूँ। मैं ही सोम, पूषा, त्वष्टा एवं भग को भी धारण करती हूँ। मैं ही त्रिलोकी को आक्रान्त करने के लक्ष्य-प्राप्ति हेतु विस्तीर्ण पादक्षेप करने वाले भगवान् विष्णु, ब्रह्मदेव एवं यजमान के निमित्त हविर्द्रव्यों से सम्पन्न धन को धारण करती हूँ। मैं ही सम्पूर्ण विश्व की अधीश्वरी, उपासकों के लिए धन-प्रदान करने वाली, ज्ञानवती और यजन करने योग्य देवों में प्रमुख हूँ। मैं ही इस विश्व के पितास्वरूप सर्वाधिष्ठानरूप परमात्मा को प्रकट करती हूँ ॥ ३-६ ॥

मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे । य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति ॥ ७ ॥ ते देवा अब्रुवन् । नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः । नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥ ८ ॥

सभी प्राणियों के हृदय कमल (अन्तः समुद्र) और अप्तत्त्व (सृष्टि के मूल घटक पंचभूतादि) में मेरा निवास स्थान निहित है। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह देवी पद (देवी की विभूतियों) को प्राप्त करता है। इसके पश्चात् देवों ने पुनः निवेदन किया-हे महादेवि! आपको नमस्कार है। महान् प्रख्यात पुरुषों को भी स्वकर्तव्य पथ पर आरूढ़ करने वाली कल्याणमयी महादेवी को सादर नमन-बन्दन है। प्रकृति-स्वरूपा एवं भद्रा अर्थात् कल्याणमयी देवी को प्रणाम है। हम उन महान् देवी को नियमपूर्वक प्रणाम करते हैं ॥ ७-८ ॥

**तामग्निवर्णं तपसा ज्वलन्नीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् । दुर्गा देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरां नाशयते तमः ॥ ९ ॥ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पश्वो वदन्ति । सा नो मन्त्रेषमूर्जं दुहाना धेनुवागस्मानुपसुष्टौतैतु ॥ १० ॥**

उन अग्नि के सदृश वर्ण वाली, तपु से प्रकाशित, दीसिमती एवं कर्मफल के प्राप्ति हेतु हम माँ भगवती दुर्गा देवी की शरण प्राप्त करते हैं। (हे देवि!) आप मेरे अज्ञानान्धकार को पूर्णतया नष्ट करें। प्राण रूपी देवताओं ने जिस प्रकाशमती 'वैखरी' वाणी को प्रकट किया, उस विविध रूपों वाली 'वैखरी' वाणी को सभी प्राणी बोलते हैं। कामधेनु के समान आनन्दमयी एवं अन्न और बल प्रदान करने वाली वाणी स्वरूपिणी माँ भगवती श्रेष्ठ एवं महान् स्तुतियों से प्रसन्न होकर हमारे समक्ष पधरें ॥ ९-१० ॥

**कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम् । सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम् ॥ ११ ॥ महालक्ष्मीश्च विद्वहे सर्वसिद्धिश्च धीमहि । तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥ १२ ॥**

कालरात्रि (सदृश), वेदों द्वारा स्तुत, वैष्णवी शक्ति, स्कन्दमाता, सरस्वती, देवों की माता अदिति और दक्ष कन्या आदि रूपों में पापों को विनष्ट करने वाली एवं कल्याणमयी भगवती को हम नमस्कार करते हैं। हम माता महालक्ष्मी को जानते हुए सतत उन सर्वसिद्धिदात्री देवी को हृदय में धारण करते हैं, वे देवी हमें (सद्ज्ञान एवं सच्चिन्तन की ओर) प्रेरित करें ॥ ११-१२ ॥

**अदितिर्हजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव । तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥ १३ ॥ कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम् ॥ १४ ॥**

हे दक्ष! जो आपकी कन्या अदिति हैं, वे प्रसूता होने के पश्चात् स्तुत्य हैं एवं उन्होंने कल्याणकारी अमृतत्व गुणों से युक्त देवों को प्रादुर्भूत किया है। (आदिमूल विद्या इस प्रकार है-) यह काम, योनि, वज्रपाणि, कामकला-गुहा, वर्ण (ह और स), वायु, अभ्र, इन्द्र, पुनः गुहा, वर्ण (स, क, ल) और माया आदि से विशिष्ट-रूपा (बहुसुखदात्री या सर्वत्र गमनशीला या ऐश्वर्यरूपा) ब्रह्मस्वरूपिणी एवं 'आदि' मूल विद्या (प्रवर्धमान हुई) है ॥ १३-१४ ॥

[यहाँ आदिविद्या के बीज मन्त्रों का संकेत किया गया है। काम से 'क', योनि से 'ए', कामकला से 'ई', वज्रपाणि से 'ल', गुहा से 'हीं', हस से 'ह' - 'स', मातरिश्वा से 'क', अभ्र से 'ह', इन्द्र से 'ल', पुनर्गुहा से 'हीं', सकल से 'स' - 'क' - 'ल', माया से 'हीं' का संकेत तत्र ग्रन्थों में प्राप्त होता है।]

**एषात्मशक्तिः । एषा विश्वमोहिनी पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा । एषा श्रीमहाविद्या ॥ १५ ॥ य एवं वेद स शोकं तरति ॥ १६ ॥ नमस्ते अस्तु भगवति भवती मातरस्मान्यातु सर्वतः ॥ १७ ॥**

ये जगन्माता विश्व को सम्मोहित करने वाली परमात्मशक्ति हैं। ये पाश, अंकुश, बाण एवं धनुष को धारण करती हैं तथा यही श्रीमहाविद्या के नाम से जानी जाती हैं। जो मनुष्य इस प्रकार से इन्हें जानता है, वह शोक से मुक्त हो जाता है। हे भगवती! आपको प्रणाम है। हे माता! आप हमारी पूरी तरह से रक्षा करें ॥ १५-१७ ॥

**सैषाऽष्टौ वसवः । सैषैकादश रुद्राः । सैषा द्वादशादित्याः । सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोम-पाश्च । सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः । सैषा सत्त्वरजस्तमांसि । सैषा ब्रह्म-**

विष्णुरुद्रस्तपिणी । सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः । सैषा ग्रहा नक्षत्रज्योतीर्णि कलाकाष्ठादिकालस्तपिणी । तामहं प्रणौमि नित्यम् ॥ १८ ॥ तापापहरिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम् । अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम् ॥ १९ ॥

(इसके पश्चात् आगे ऋषि जगन्माता भगवती के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि) वही जगदम्बा आठ वसुओं के रूप में हैं, एकादश रुद्र एवं द्वादश आदित्य भी वही हैं। सोम को ग्रहण करने वाले और ग्रहण न करने वाले जितने भी विश्वेदेव हैं, वे सभी जगन्माता के रूप में स्थित हैं। वे ही (जगन्माता) यातुधान (एक तरह के असुर), राक्षस, असुर, पिशाच, यक्ष एवं सिद्ध आदि भी हैं। वे ही ये सत, रज, तम आदि तीनों गुण हैं। वे ही ये ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रस्वरूप हैं। वे ही ये प्रजापति, इन्द्र और मनु भी हैं। वे ही ग्रह, नक्षत्र एवं समस्त तारागण हैं तथा वे ही कला-काष्ठादि से युक्त कालस्तपिणी हैं। ताप (मनस्ताप) का शमन करने वाली, भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाली, अनन्त गुणों वाली विजय की अधिष्ठात्री, दोष-विहीन, शरण प्राप्ति के योग्य, कल्याणदायिनी एवं मंगलमयी उन भगवती देवी को हम सर्वदा नमस्कार करते हैं ॥ १८-१९ ॥

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम् । अर्थेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥ २० ॥ एवमेकाक्षरं मन्त्रं यतयः शुद्धचेतसः । ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाभ्युराशयः ॥ २१ ॥

वियत् अर्थात् आकाश एवं 'ई' कार से संयुक्त, वीतिहोत्र अर्थात् अग्नि के सहित, अर्द्धचन्द्र (ॐ) से सुशोभित जो देवी का बीज (मन्त्र हीं) शब्द है, वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सक्षम है। इस एकाक्षर स्वरूप ब्रह्म का (संयमशील) साधुजन, जो शुद्धचित्त वाले हैं, परमानन्द से युक्त हैं तथा अगाध ज्ञान के सागर हैं, निरन्तर ध्यान करते हैं ॥ २०-२१ ॥

वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात्पृष्ठं वक्त्रसमन्वितम् । सूर्योऽवामश्रोत्रबिन्दुः संयुक्ताष्टातृतीयकः ॥ २२ ॥ नारायणे न संयुक्तो वायुश्चाधरसंयुतः । विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः ॥ २३ ॥

वाक्शक्ति (ऐं), माया (हीं), ब्रह्मभू-काम (क्लीं), वक्त्र अर्थात् आकार युक्त छठा व्यञ्जन (चा), सूर्य (म), अवामश्रोत्र-दक्षिण कर्ण (उ) एवं बिन्दु अर्थात् अनुस्वार सहित (मुं), नारायण अर्थात् 'आ' से युक्त 'ट' कार से तृतीय वर्ण (डा), वायु (य) वही अधर अर्थात् 'ऐ' से युक्त (यै) और 'विच्चे'- यह नवार्ण मन्त्र साधकों को आनन्द एवं ब्रह्मसायुज्य पद प्रदान करने वाला है ॥ २२-२३ ॥

[उपर्युक्त मन्त्रों में जिस नवार्ण मन्त्र का संकेत है, उसका स्पष्ट स्वरूप है-'३० ऐं हीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।' इसका अर्थ इस प्रकार है- हे चिदस्तपिणी महासरस्वती! हे सत् स्वरूपिणी महालक्ष्मी! हे आनन्द स्वरूपिणी महाकाली! ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु हम सदैव आपका ध्यान करते हैं, आपको प्रणाम करते हैं। अज्ञानस्तीर्जु की सुदृढ़ गाँठ को खोलकर आप हमें मुक्ति प्रदान करें।]

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातः सूर्यसमप्रभाम् । पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम् । त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुधां भजे ॥ २४ ॥ नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम् । महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यस्तपिणीम् ॥ २५ ॥

जो(देवी)हृदय-कमल के मध्य में विराजमान रहती हैं, जो प्रातःकाल के सूर्य की भाँति प्रभावाली, पाश एवं अंकुश धारण करने वाली, सौम्यरूपा, वर एवं अभय मुद्राओं से युक्त हाथ वाली, तीन नेत्रों से युक्त, लाल परिधान वाली तथा भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने वाली हैं। हे देवि! आप महान् भय का विनाश करने वाली, महासंकट को शान्त करने में समर्थ एवं महान् करुणामयी हैं, मैं आपकी वन्दना करता हूँ ॥ २४-२५ ॥

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते ऽज्ञेया । यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यते ऽनन्ता । यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते ऽलक्ष्या । यस्या जननं नोपलभ्यते

तस्मादुच्यते ऽजा । एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका । एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका । अत एवोच्यते ऽज्ञेया अनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैकेति ॥ २६ ॥

जिन (देवी) के स्वरूप को ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते, इस कारण उन्हें 'अज्ञेया' कहा गया है। जिनका अन्त नहीं होता, अतः वे अनन्ता (अन्तरहित) हैं। जिनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, इस कारण उन्हें अलक्ष्या कहते हैं। जिनके जन्म का अता-पता नहीं, इसलिए उन्हें 'अजा' कहा जाता है। जो एकाकी ही सर्वत्र विद्यमान रहती हैं, इस कारण उन्हें 'एका' कहते हैं। जो अकेले ही विश्वरूप में विद्यमान हैं, इसलिए उन्हें 'नैका' कहा गया है। अतः वे इन्हीं कारणों से अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और नैका के नाम से जानी जाती हैं ॥ २६ ॥

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी । ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी ॥ २७ ॥ यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता । तां दुर्गा दुर्गमां देवीं दुराचारविद्यातिनीम् । नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम् ॥ २८ ॥

वे (देवी) समस्त मंत्रों में 'मातृका' अर्थात् मूलाक्षर में प्रतिष्ठित हैं और शब्दों में ज्ञान रूप से स्थित हैं। ज्ञान में 'चिन्मयातीता' रूप में और शून्यों में 'शून्यसाक्षिणी' के रूप में रहती हैं। जिनके अतिरिक्त और कुछ भी श्रेष्ठतम नहीं है, ऐसी वे दुर्गादेवी के नाम से प्रख्यात हैं। उन दुराचार का शमन करने वाली, दुर्विज्ञेया एवं भवसागर से पार उतारने वाली दुर्गादेवी को जगत् से भवभीत हुआ मैं प्रणाम करता हूँ ॥२७-२८॥

इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षं जपफलमवाप्नोति । इदमथर्वशीर्षं ज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति ॥ २९ ॥ शतलक्षं प्रजप्त्वापि नार्चासिद्धिं च विन्दति । शतमष्टोत्तरं चास्याः पुरश्चर्याविधिः स्मृतः ॥ ३० ॥ दशवारं पठेद्यस्तु सद्यः पापैः प्रमुच्यते । महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः ॥

इस अथर्वशीर्ष के मन्त्रों का जो मनुष्य पाठ करता है, वह पाँचों अथर्वशीर्षों के जप करने का फल-प्राप्त कर लेता है। इस अथर्वशीर्ष को न जानकर जो मनुष्य अर्चा (प्रतिमा को) स्थापित करता है, वह सैकड़ों-लाखों जप करके भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता है। (वैसे) १०८ बार जप करना ही इस पुरश्चरण की विधि कही गई है। जो पुरुष इस उपनिषद् का दस बार भी पाठ कर लेता है, वह उसी क्षण अपने दुष्कृतों (पापों) से मुक्त होकर महादेवी की कृपा से महान् से महान् दुष्कर कठिनाइयों-मुसीबतों से पार हो जाता है ॥ २९-३१ ॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं-प्रातः प्रयुज्ञानः पापोऽपापो भवति । निशीथे तुरीयसंध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति । नूतनप्रतिमायां जप्त्वा देवतासान्निध्यं भवति । प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति । भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ ३२ ॥

इस (उपनिषद्) का प्रातःकालीन वेला में पाठ करने से रात्रि में किये हुए पापों का और सायंकाल में पाठ करने से दिन में किये गये दुष्कृत्यों का शमन हो जाता है। दोनों संध्याओं में अध्ययन करने से पाप करने वाला भी पापरहित हो जाता है। मध्यकालीन रात्रि में तुरीय संध्या के समय में जप करने से वाणी की सिद्धि मिल जाती है। नवीन प्रतिमा के समक्ष जप करने से देवता का सान्निध्य प्राप्त होता है। अमृतसिद्धि योग (मंगलवार को अधिनी नक्षत्र) में महादेवी के समीप में जप करने से मनुष्य महामृत्यु से पार हो जाता है। जो इस तरह से इस उपनिषद् को जानता है (वह महामृत्यु से पार हो जाता है), ऐसी ही यह देव्युपनिषद् है ॥ ३२ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति देव्युपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ ध्यानबिन्दूपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका केन्द्रीय भाव 'ध्यान' है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ही 'ब्रह्म ध्यानयोग' से किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः ब्रह्म की सूक्ष्मता एवं सर्वव्यापकता, प्रणव (ओंकार) का स्वरूप, प्रणव के ध्यान की विधि, प्राणायाम के साथ प्रणव का ध्यान, सविशेष ब्रह्म का ध्यान, हृदय में ध्यान एवं उसका प्रतिफल, षडंगयोग, आसन चतुष्टय (सिद्ध, भद्र, सिंह और पद्म), मूलाधार आदि चार चक्र, नाड़ी चक्र, दस प्राण, जीव का प्राण-अपान का वशवर्ती होना, योग के समय प्राण और अपान की एकता, अजपा हंस विद्या, कुण्डलिनी से मोक्ष प्राप्ति, ब्रह्मचर्यादि से कुण्डलिनी जागरण, तीनों बन्ध, खेचरी मुद्रा, खेचरी से वज्रोली सिद्धि, महामुद्रा, हृदय में आत्मानुभव तथा नादानुसन्धान द्वारा आत्मदर्शन आदि विषय वर्णित हैं। साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक साधकों के लिए इस उपनिषद् में बड़ा ही व्यावहारिक मार्गदर्शन उपलब्ध है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

**यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्। भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥ १ ॥**

✓ यदि पर्वत की तरह (अनेक जन्मों के सञ्चित) अनेक योजन व्यापकत्व लिए पाप समूह हों, तो भी ध्यान योग साधना द्वारा उनको नष्ट किया जाना सम्भव है, अन्य किसी साधन से उनका नाश सम्भव नहीं ॥ १ ॥

**बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्। सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥ २ ॥**

✓ बीजाक्षर (ॐकार) से परे बिन्दु स्थित है और उसके ऊपर नाद विद्यमान है, जिसमें मनोहर शब्द-ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस नादध्वनि के अक्षर में विलय हो जाने पर जो शब्द विहीन स्थिति होती है, वही 'परमपद' के नाम से जानी गयी है ॥ २ ॥

**अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्। तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥ ३ ॥**

उस अनाहत शब्द (मेघ गर्जना की तरह प्रकृति का आदि शब्द) का जो परम कारण तत्त्व है, उससे भी परे परम कारण (निर्विशेष ब्रह्म) स्वरूप को जो योगी प्राप्त कर लेता है, उसके सब संशय नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

**बालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः। तस्य भागस्य भागार्थं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥ ४ ॥**

यदि बाल (गेहूँ आदि की बाल) के अग्रभाग अर्थात् नोक के एक लाख हिस्से किये जाएँ, (तो उसका एक सूक्ष्म भाग जीव कहलाएगा), उसके पुनः उतने भाग अर्थात् एक लाख भाग किये जाएँ (इन सूक्ष्मतर भागों को ईश्वर कहा जायेगा)। तत्पश्चात् उस (एक लाखवें) हिस्से के भी पचास हजार हिस्से किये जाने पर जो शेष रहे, उसके भी (साक्ष्य-साक्षी आदि विशेषण के भी) क्षय हो जाने पर जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म शेष रहे, वह उस निरञ्जन (विशुद्ध) ब्रह्म की सत्ता है ॥ ४ ॥

**पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा धृतम्। तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥ ५ ॥**  
**एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्विद्विणि स्थितः ॥ ६ ॥**

जिस प्रकार पुष्ट में गन्ध, दूध में घृत, तिल में तेल तथा सोने की खान के पाषाणों में सोना प्रत्यक्ष रूप से न दिखने पर भी अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व सभी प्राणियों में निहित है। स्थिर बुद्धि से सम्पन्न मोहरहित ब्रह्मवेत्ता मणियों में पिरोये गये सूत्र की तरह आत्मा के व्यापकत्व को जानकर उसी ब्रह्म में स्थित रहते हैं ॥ ५-६ ॥

**तिलानां तु यथा तैलं पुष्टे गन्ध इवाश्रितः । पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥ ७ ॥**

जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्टों में गन्ध आश्रित है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर के भीतर और बाहर आत्मतत्त्व विद्यमान है ॥ ७ ॥

**वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला । सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥ ८ ॥**

जिस प्रकार वृक्ष अपनी सम्पूर्ण कला के साथ स्थित रहता है और उसकी छाया कलाहीन (निष्कल) होकर रहती है। उसी प्रकार आत्मा कलात्मक स्वरूप और निष्कल (छाया स्थानीय मायारूप) भाव से सभी जगह विद्यमान है ॥ ८ ॥

**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः । पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥ ९ ॥**

अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके। अन्तरिक्षं यजुर्वायुभुवो विष्णुर्जनार्दनः ॥ १० ॥

उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके। द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥ ११ ॥

मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके। अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ॥ १२ ॥

उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः। अष्टाङ्गं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥ १३ ॥

ॐ कार रूपी एकाक्षर ब्रह्म ही सभी मुमुक्षुओं का लक्ष्य रहा है। प्रणव के पहले अंश 'अकार' में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूः तथा पितामह ब्रह्मा का लय होता है। दूसरे अंश 'उकार' में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवः तथा जनार्दन विष्णु का लय होता है। तृतीय अंश 'मकार' में द्यौ, सूर्य, सामवेद, स्वः तथा महेश्वर का लय होता है। 'अकार' पीतवर्ण और रजोगुण से युक्त है, 'उकार' श्वेत वर्ण और सात्त्विक गुण वाला तथा 'मकार' कृष्णवर्ण एवं तमोगुण से युक्त है। इस प्रकार ॐकार आठ अङ्ग, चार पैर, तीन नेत्र और पाँच दैवत से युक्त है ॥ ९-१३ ॥

[ यहाँ ॐ कार के 'आठ अंग' का अभिप्राय- अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत तथा उससे भी परे से है। 'चतुष्पाद' का अभिप्राय- व्यष्टिपरक-विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय तथा समष्टिपरक- विराट, सूत्र, बीज और तुर्य से है। 'त्रिस्थान' का तात्पर्य-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर; सत, रज, तम गुण; ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्ति अथवा भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल से है। पंचदैवता का अभिप्राय-ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव से है । ]

**ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः । प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते ॥ १४ ॥**

**अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् । निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ १५ ॥**

जो व्यक्ति ॐकार (प्रणव) से अनभिज्ञ है, उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को ही लक्ष्य कहा जाता है। बिना प्रमाद किये तन्मयतापूर्वक बाण से लक्ष्य का वेधन करना चाहिए। (इसके परिणाम स्वरूप) परावर अर्थात् ब्रह्म के सायुज्यत्व को प्राप्त कर लेने पर सभी क्रियाओं से निवृत्ति (मोक्ष की प्राप्ति) होती है ॥ १४-१५ ॥

**ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः । ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सच्चाचरम् ॥ १६ ॥**

ॐ कार से देवों की उत्पत्ति, ॐकार से स्वर की उत्पत्ति और ॐ कार से ही त्रिलोक के सभी स्थावर-जंगम की उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥

हस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः । अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥ १७ ॥

३० का हस्व अंश पापों का दहन करता है, दीर्घ अंश अमृतत्वरूप अक्षय सम्पदा को प्रदान करता है तथा अर्द्धमात्रा से युक्त प्रणव मोक्षदायक है ॥ १७ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघणटानिनादवत् । अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

तैल की अजस्र धारा की तरह, घण्टा के लम्बे निनाद के समान प्रणव के आगे ध्वनिरहित शब्द होता है, उसका ज्ञाता ही वेदवेत्ता है ॥ १८ ॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् । अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥ १९ ॥

हृदयकमल की कर्णिका के मध्य स्थिर ज्योतिशिखा के समान अंगुष्ठमात्र आकार के नित्य ३०कार रूप परमात्मा का ध्यान करे ॥ १९ ॥

इड्या वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम् । ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम् ॥ २० ॥

ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते । रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥ २१ ॥

इड़ा (बायीं नासिका) से वायु को भरकर उदर में स्थापित करे और देह के बीच में ज्योतिर्मय ३० कार का ध्यान करे । पूरक, कुम्भक और रेचक को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कहा गया है, ये प्राणायाम के देवता कहलाते हैं ॥ २०-२१ ॥

[ यहाँ यह ध्यातव्य है कि आगे चलकर २९ से ३१ मन्त्र में पूरक के समय 'विष्णु', कुम्भक के समय 'ब्रह्मा' एवं रेचक के समय 'शिव' का ध्यान करना लिखा है । यही पुरातन परम्परा भी है, परन्तु इस मन्त्र में पूरक को 'ब्रह्मा' और कुम्भक को 'विष्णु' कहा जाना परम्परा से हटकर है, जो विचारणीय है । ]

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥ २२ ॥

अन्तःकरण और प्रणवाक्षर को नीचे और ऊपर की अरणिरूप बनाकर मंथनरूप ध्यान के अभ्यास से अग्नि की भाँति व्यास गूढ़तत्त्व (परमात्मा) का साक्षात्कार करे ॥ २२ ॥

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम् । यावद्वूलं समादध्यात्मस्य इनादलयावधि ॥ २३ ॥

प्रणव ध्वनि का, नाद सहित रेचक वायु के विलय हो जाने तक अपनी सामर्थ्यानुसार (तब तक) ध्यान करे, जब तक नाद का भली प्रकार लय नहीं हो जाता ॥ २३ ॥

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीसम् ।

पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥ २४ ॥

गमन और आगमन में विद्यमान तथा गमनादि से रहित, करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान सभी मनुष्यों के अन्तःकरण में विराजमान हंसात्मक प्रणव का जो दर्शन करते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् । तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २५ ॥

अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम् । तस्य मध्ये स्थितो भानुभर्ननुमध्यगतः शशी ॥ २६ ॥

जो मन त्रिगुणमय संसार के सृजन, पालन और संहार का कारण है, उसके विलय हो जाने पर विष्णु के परमपद की प्राप्ति होती है । अष्टदल और बत्तीस पंखुड़ियों से युक्त जो हृदयकमल है, उसके बीच सूर्य और सूर्य के बीच चन्द्रमा विद्यमान है ॥ २५-२६ ॥

शशिमध्यगतो वहिर्वहिमध्यगता प्रभा । प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥ २७ ॥

तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम् । श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम् ॥ २८ ॥

चन्द्रमा के बीच अग्नि और अग्नि के बीच दीसि स्थित है। उसके बीच नानाविध रत्नों से सुसज्जित पीठस्थान है। उस पीठ के बीच निरञ्जन प्रभु वासुदेव विराजमान हैं, जो श्रीवत्स, कौस्तुभमणि एवं मणि-मुक्ताओं से विशेष रूप से सुशोभित हैं ॥ २७-२८ ॥

**शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् । एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥ २९ ॥**

शुद्ध स्फटिक के सदृश करोड़ों चन्द्रमा की कान्ति वाले महाविष्णु का विनयान्वित होकर ध्यान करे ॥ २९ ॥  
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् । चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत् ॥ ३० ॥

पूरक द्वारा साँस अन्दर खींचते समय नाभिस्थान में प्रतिष्ठित अतसी पुष्प के समान चतुर्भुज महाविष्णु भगवान् का ध्यान करना चाहिए ॥ ३० ॥

**कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम् । ब्रह्माणं रक्तगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥ ३१ ॥**

कुम्भक द्वारा साँस भीतर रोकने के समय हृदय स्थल में कमल के आसन पर सुशोभित लालिमामय गौर वर्ण वाले चतुर्मुख पितामह ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए ॥ ३१ ॥

**रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम् । शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥ ३२ ॥**

रेचक से साँस छोड़ते हुए ललाट में शुद्ध स्फटिक के सदृश श्वेत रंग के त्रिनेत्रयुक्त, निष्कल(कलारहित), पाप संहारक भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए ॥ ३२ ॥

**अब्जपत्रमथः पुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम् । कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम् ॥ ३३ ॥**

नीचे की ओर पुष्पित हुआ, ऊपर की ओर नाल वाला तथा अधोभाग की ओर मुख किये हुए कदली पुष्प की तरह हृदयकमल में सभी वेदों के आधारभूत भगवान् शिव अवस्थित हैं ॥ ३३ ॥

**शतारं शतपत्राद्यं विकीर्णाम्बुजकर्णिकम् । तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत् ॥ ३४ ॥**

सौ और वाले, सौ पत्ते वाले और विकसित पंखुड़ियों से युक्त हृदय पदम में सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का एक के बाद दूसरे का क्रमशः ध्यान करना चाहिए ॥ ३४ ॥

**पद्मस्योदयाटनं कृत्वा बोधचन्द्रग्रिसूर्यकम् । तस्य हृद्वीजमाहत्य आत्मानं चरते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥**

सूर्य, चन्द्र और अग्नि के बोध हेतु सर्वप्रथम हृदयकमल के विकसित होने का ध्यान करे। तत्पक्षात् हृदय कमल में स्थित बीजाक्षरों को ग्रहण करके ही अचल चेतनावस्था की प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

**त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्मं च त्रयाक्षरम् । त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३६ ॥**

तीन स्थान, तीन मार्ग, त्रिविध ब्रह्म, त्रयाक्षर, त्रिमात्रा तथा अर्द्धमात्रा में जो परमात्मा स्थित है, उसके ज्ञाता ही वेद के तात्पर्य के ज्ञाता हैं ॥ ३६ ॥

[ यहाँ कुछ सांकेतिक शब्द प्रयुक्त हैं, जिनका तात्पर्य इस प्रकार है- त्रिस्थान=अवस्थात्रय-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; त्रिमार्ग=धूम, अर्चि, अग्नि; ब्रह्मत्रय=विश्व, विराट्, ओत्रब्रह्म; त्रयाक्षर=अ, उ, म; त्रिमात्रा=हस्त, दीर्घ, प्लुत । ]  
**तैलधारामिवाच्छिन्नदीर्घधण्टानिनादवत् । बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३७ ॥**

✓ दीर्घ घण्टा निनाद के सदृश, तेल की अविच्छिन्न धारा की तरह तथा बिन्दु-नाद और कला से अतीत उस परम तत्त्व (उँकार) को जो जानता है, वही वेदज्ञ है ॥ ३७ ॥

**यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः । तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥ ३८ ॥**

✓ जिस प्रकार मनुष्य कमलनाल से जल को धीरे-धीरे खींचते हैं, उसी प्रकार योगी योगस्थ होकर प्राणायाम द्वारा वायु को धीरे-धीरे ऊर्ध्व भूमिका में ले जाए ॥ ३८ ॥

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम् । कर्षयेन्नालमात्रेण भुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥ ३९ ॥

✓ प्रणव की अर्द्धमात्रा (अव्यक्त नाद उच्चारण) को रस्सी बनाकर हृदयकमल रूपी कूप नाल (सुषुमा) मार्ग द्वारा जलरूपा कुण्डलिनी को भौंहों के मध्य में लय करे ॥ ३९ ॥

भुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः । जानीयादमृतं स्थानं तद्व्यायतनं महत् ॥ ४० ॥

नासिका के मूल से लेकर भौंहों के बीच में जो ललाट स्थान है, वहाँ तक अमृत स्थान जानना चाहिए, वही ब्रह्म का महान् निवास स्थान है ॥ ४० ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा । ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ४१ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये छः योग के अङ्ग कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः । एतेषामतुलान्धेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ ४२ ॥

विश्व में जितनी जीव प्रजातियाँ हैं, उतनी ही आसनों की विधियाँ भी बतायी गई हैं, इस प्रकार के असंख्य भेदों के ज्ञाता भगवान् शंकर हैं ॥ ४२ ॥

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम् । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ ४३ ॥

सिद्ध, भद्र, सिंह और पद्म ये चार प्रमुख आसन हैं, पहला चक्र आधार (मूलाधार) और दूसरा स्वाधिष्ठान है ॥ ४३ ॥

योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते । आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥ ४४ ॥  
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता । योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा ॥ ४५ ॥

इन दोनों के बीच में कामरूप प्रजनन स्थान है । गुदा स्थान के आधारचक्र में चतुर्दल कमल विद्यमान है । उसके बीच काम नाम से प्रख्यात प्रजनन-योनि (कुण्डलिनी शक्ति) है, जिसकी अभ्यर्थना सिद्धजन करते हैं । प्रजनन योनि के बीच पश्चिम की ओर पुरुष जननेन्द्रिय लिङ्ग है ॥ ४४-४५ ॥

मस्तके मणिवद्धिन्नं यो जानाति स योगवित् । तसचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥ ४६ ॥  
चतुरस्त्रमुपर्यग्नेरथो मेद्रात्प्रतिष्ठितम् । स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥ ४७ ॥

मस्तक में मणि की तरह जो प्रकाश है, उसे जो जानता है वह योगवेत्ता है । तपे हुए सोने के समान वर्णवाला और तडित की धारा की तरह विशेष प्रकाशित, अग्निमण्डल से चार अंगुल ऊपर और मेद्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे स्वसंज्ञक प्राण विद्यमान है, उसके आश्रय में स्वाधिष्ठान है ॥ ४६-४७ ॥

स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेद्रमेव निगद्यते । मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥ ४८ ॥  
तत्राभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् । द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥ ४९ ॥

उसके बाद स्थित स्वाधिष्ठान चक्र को मेद्र ही कहा जाता है । जहाँ मणि के प्रकाश की तरह वायु से पूर्ण शरीर है । नाभिमण्डल में स्थित चक्र को मणिपूरक कहा गया है । वहाँ बारह दल से युक्त महाचक्र में पुण्य और पाप का नियन्त्रण रहता है ॥ ४८-४९ ॥

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति । ऊर्ध्वमेद्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥ ५० ॥  
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसमतिः । तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसमतिरुदाहताः ॥ ५१ ॥

इस तत्त्वज्ञान को न समझ पाने तक जीवात्मा को भ्रमजाल में ही फँसे रहना पड़ता है । मेद्र स्थान से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे की तरह कन्द का स्थान है । उसी स्थान से बहतर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं, उन हजारों नाड़ियों में बहतर नाड़ियाँ प्रमुख हैं ॥ ५०-५१ ॥

**प्रथानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः । इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥ ५२ ॥**  
**गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी । अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥ ५३ ॥**

इनमें से दस प्रमुख नाड़ियाँ प्राण का संचार करने वाली हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं- इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू तथा शंखिनी ॥ ५२-५३ ॥

**एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा । सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ५४ ॥**  
**इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्त्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः । इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥ ५५ ॥**  
**सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गस्त्रयः स्मृताः । प्राणोऽपानः समानश्वेदानो व्यानस्तथैव च ॥ ५६ ॥**  
**नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनञ्जयः । प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥ ५७ ॥**

इस नाड़ी चक्र की जानकारी योग-साधकों को होना आवश्यक है। सतत प्राण का संचार करने वाली इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवों से युक्त हैं। इडा नाड़ी बायीं ओर, पिङ्गला दाहिनी ओर तथा सुषुम्ना इन दोनों के बीच विद्यमान है, ये तीनों नाड़ियाँ प्राण के संचरण-मार्ग-रूप हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण हैं, प्राणादि पाँच प्राण प्रख्यात हैं तथा नागादि पाँच उपप्राण कहे गये हैं ॥ ५४-५७ ॥

**एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः । प्राणापानवशो जीवो ह्याधश्वेधर्व प्रथावति ॥ ५८ ॥**

इन हजारों नाड़ियों में प्राण जीवरूप से वास करते हैं। प्राण और अपान के वशीभूत होकर जीव ऊपर-नीचे आवागमन करता रहता है ॥ ५८ ॥

**वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वात्र दृश्यते । आक्षिसो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ॥ ५९ ॥**  
**प्राणापानसमाक्षिस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् । अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥ ६० ॥**  
**खगरजुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् । हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥ ६१ ॥**  
**हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा । शतानि षड् दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ६२ ॥**  
**एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा । अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ६३ ॥**

प्राण कभी दायें तो कभी बायें मार्ग से गमन करता है, परन्तु चञ्चल प्रकृति का होने से देखने में नहीं आता। हाथों से फेंकी हुई गेंद जैसे इधर-उधर दौड़ती है, उसी प्रकार प्राण और अपान द्वारा भली प्रकार फेंकने से जीव को कभी आराम नहीं मिल पाता। अपान और प्राण की एक दूसरे को खींचने की प्रक्रिया उसी प्रकार की है, जैसे रस्सी में आबद्ध पक्षी अपनी ओर खींच लिया जाता है। इस तत्त्व के ज्ञाता को ही योगी कहा जा सकता है। 'ह' कार ध्वनि से प्राण बाहर जाता है और 'स' कार से पुनः अन्दर प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस' इस प्रकार का 'मन्त्र जप' जीव हमेशा जपता रहता है। इस अजपा-जप की संख्या दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ होती है। इतनी संख्या में मन्त्र जीव हमेशा जपता है। जो योगियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली है, यही अजपा गायत्री कहलाती है ॥ ५९-६३ ॥

**अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।**

**अनया सदूशी विद्या अनया सदूशो जपः ॥ ६४ ॥**

**अनया सदूशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।**

**येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥ ६५ ॥**

इस (अजपा गायत्री) के संकल्प मात्र से व्यक्ति पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। जिस मार्ग से योग साधक सुगमता से ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। जिसके सदृश न कोई विद्या है, न जप है और न ही कोई पुण्य, जो पहले न कभी हुआ है और न आगे कभी हो सकेगा ॥ ६४-६५ ॥

**मुखेनाच्छाद्य तदद्वारं प्रसुमा परमेश्वरी । प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥ ६६ ॥**  
**सूचिवद्वृणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया । उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥ ६७ ॥**  
**कुण्डलिन्या तया योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ६८ ॥**

वह्नियोग द्वारा जाग्रत् होने वाली परमेश्वरी (कुण्डलिनी) उस द्वार-पथ को अपने मुँह से आच्छादित करके प्रसुत स्थिति में है। वह जाग्रत् किये जाने पर सुषुम्ना मार्ग से मन और प्राण वायु के साथ ऊर्ध्वगमन करती है, जैसे सुई धागे को साथ ले जाती है। योगी मुक्ति द्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार उद्घाटित करते हैं, जैसे ताली से प्रयासपूर्वक दरवाजे को खोल लिया जाता है ॥ ६६-६८ ॥

**कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाथ पद्मासनं गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।  
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं मुञ्चन्नाणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ६९ ॥**

✓ सुदृढ़ रूप में पद्मासन लगाकर, दोनों हाथों को सम्पुटित करके ठोड़ी से वक्षभाग (कण्ठकूप) को दृढ़तापूर्वक दबाकर, चित्त में स्वरूप का ध्यान करते हुए बार-बार अपान वायु को ऊपर की ओर चलायमान करता हुआ और अन्दर खींची हुई प्राण वायु को नीचे छोड़ता हुआ योग साधक अतुलित कुण्डलिनी शक्ति के सामर्थ्य बोध को प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥

**पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन् । मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७० ॥**

जो योगसाधक पद्मासन में बैठकर नाडीद्वार से प्राणवायु को खींचकर, कुम्भक द्वारा उसे रोकता है। वह सुनिश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त करता है, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं ॥ ७० ॥

**अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा । कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥ ७१ ॥**  
**ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः । अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ७२ ॥**

(प्राणायाम के) परिश्रम द्वारा जो स्वेदकण निकले, उन्हें अङ्गों में ही मल ले। कदु, अम्ल और नमक का परित्याग करके दुग्ध का सेवन करने वाला सुखी रहता है। इस प्रकार योगस्थ होकर अल्प आहार करने वाला ब्रह्मचारी योगी एक साल के अन्तराल में ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं ॥ ७१-७२ ॥

**कन्दोर्ध्वकुण्डली शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।**

**अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ७३ ॥**

**युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।**

**पार्षिणभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेदगुदम् ॥ ७४ ॥**

**अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।**

**उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखणः ॥ ७५ ॥**

**उड्याणं तदेव स्यात्त्र बन्धो विधीयते ।**

**उदरे पश्चिमं ताणं नाभेस्त्रिर्ध्वं तु कारयेत् ॥ ७६ ॥**

कन्द के ऊपरी भाग में स्थित कुण्डलिनी शक्ति से योग साधक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण में एकीकरण होता है, मल-मूत्र के क्षीण हो जाने पर बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। एड़ी भाग से योनिस्थान को दबाकर मलद्वार को संकुचित करे और अपान वायु को ऊर्ध्व की ओर खींचे, इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। उद्दिडयानबन्ध की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार बिना थका महापक्षी उड़ने की क्रिया करता है, उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया (पेट को पीछे की ओर सिकोड़ने) के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए ॥ ७३-७६ ॥

उद्दिडयाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी । बध्नाति हि शिरोजातमध्योगामिनभोजलम् ॥ ७७ ॥  
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः । जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ॥ ७८ ॥  
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति । कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ७९ ॥  
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी । न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृष्णा ॥ ८० ॥

यह उद्दिडयान बन्ध मृत्यु के निमित्त उसी तरह है, जैसे गजराज के लिए सिंह निमित्त बनता है। जिसमें शिरोनभ (आकाश) से उत्पादित जल को नीचे आने की अपेक्षा ऊपर ही अवरुद्ध कर लिया जाता है, उसे जालन्धर बन्ध कहा गया है। इससे कर्मबन्धन और पापजन्य दुःखों का नाश होता है। जालन्धर बन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की सम्भावना नहीं रहती। खेचरी मुद्रा उसे कहते हैं, जिसमें जिह्वा को उल्टाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट किया जाए और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर रखा जाए। इसके सिद्ध हो जाने से निद्रा, क्षुधा, पिपासा नहीं सताती और न व्याधि एवं मृत्यु का भय ही रहता है ॥ ७७-८० ॥

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् । पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ ८१ ॥  
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी । चित्तं चरति खे यस्माजिह्वा भवति खे गता ॥ ८२ ॥  
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता । खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ८३ ॥  
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च । यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ८४ ॥

जो खेचरी मुद्रा का ज्ञाता है, उसे न तो मूर्च्छा होती है, न रोग उसे कष्ट देते हैं और न ही वह कर्मों से ही लिप हो पाता है। खेचरी मुद्रा से जिसका चित्त आकाश में विचरण करने लगता है और जिसकी जिह्वा भी अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है, ऐसा साधक काल के बन्धन से बँधता नहीं है। इसलिए यह 'खेचरी मुद्रा' योगियों द्वारा प्रशंसनीय है। इस मुद्रा द्वारा जिसने तालु के छिद्र को अवरुद्ध कर दिया है, उसके द्वारा स्त्री समागम से भी वीर्य का क्षरण नहीं होता और जब तक वीर्य शरीर में विद्यमान रहता है, तब तक मौत के भय की सम्भावना ही कैसी? ॥ ८१-८४ ॥

यावद्वद्वा नभोमुद्रा तावद्विन्दुर्न गच्छति । गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्रासो योनिमण्डले ॥ ८५ ॥  
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया । स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥ ८६ ॥  
पाण्डरं शुक्रमित्याहुलोहिताख्यं महारजः । विद्वुमद्वुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥ ८७ ॥  
शशिस्थाने वसेद्विन्दुस्तयौरैक्यं सुदुर्लभम् । बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥ ८८ ॥

खेचरी मुद्रा में रहते हुए वीर्य का क्षरण सम्भव नहीं, फिर भी किसी तरह यदि वीर्य स्खलित होकर योनि में चला जाए, तो उसे हठशक्तिपूर्वक योनिमण्डल से पुनः ऊपर की ओर खींच लेते हैं। वह वीर्य भी सफेद और रक्त वर्ण दोनों तरह का होता है। सफेद वर्ण वाले को शुक्र और रक्त वार्ण वाले को महारज कहा गया है। मूँगों की तरह वर्ण वाला रज (योगी के) योनिस्थान में विद्यमान है और शुक्रल वीर्य चन्द्रस्थान में है, पर इन दोनों के

एक होने की सम्भावना बड़ी दुर्लभ है। वीर्य को शिवरूप और रज को शक्तिरूप कहा गया है, वीर्य ही चन्द्रमा और रज ही सूर्य है ॥ ८५-८८ ॥

**उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।** वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥ ८९ ॥  
**रविणौकत्वमायाति भवेद्विव्यं वपुस्तदा ।** शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥ ९० ॥  
**द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।** शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ ९१ ॥  
**रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते ॥ ९२ ॥** वक्षोन्यस्तहनुर्निर्पीड्य सुषिरं योनेश्व वामाग्निं प्राप्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनैरेचयेदेषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ९३ ॥

इन दोनों के संयुक्त होने पर परम देह की प्राप्ति होती है। वायु को शक्ति से संचालित किये जाने से रज अन्तरिक्ष की ओर प्रेरित होता है और सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य शरीर को प्राप्त करता है। शुक्लवर्ण वीर्य चन्द्रमा से और रज सूर्य से युक्त है। इन दोनों की समरसता का जो ज्ञाता है, वही योगवेत्ता है। नाड़ियों में स्थित मल के शोधन के लिए सूर्य और चन्द्र के संयोगत्व और वात, पित्त, कफ आदि रसों के भली प्रकार शोषण किये जाने को महामुद्रा कहा गया है। वक्षस्थल को ठोड़ी से और बायीं एड़ी से योनिस्थल को दबाकर, प्रसारित दाहिने पैर को हाथों से पकड़कर कुक्षियुगल को श्वास से भरकर, कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाले। इसे योगियों द्वारा सर्वपापनाशिनी महामुद्रा कहा गया है ॥ ८९-९३ ॥

**अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये— हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते । तत्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मस्तुं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ता ऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥ ९३-१ ॥**

अब आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं—हृदय स्थल में आठ दल का कमल है, उसके बीच रेखा वलय बनाकर जीवात्मा ज्योतिरूप होकर अणुमात्र स्वरूप में निवास करता है। वह सर्वज्ञाता, सब कुछ करने वाला है और सब कुछ उसी में प्रतिष्ठित है। उसका ऐसा विचार है कि सभी चरित्रों का मैं ही कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, काना, लँगड़ा, बहरा, गूँगा, दुबला और मोटा हूँ; इस प्रकार का उसका स्वतन्त्र व्यवहार रहता है ॥ ९३-१ ॥

**पूर्वदले विश्रमते पूर्वं दलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मं मतिर्भवति ॥ ९३-२ ॥**

उस अष्टदल कमल का पूर्वदिशा वाला दल सफेद रंग का है, उस दल में रहते हुए धर्म और भक्तिभाव में मति (श्रद्धा) रहती है ॥ ९३-२ ॥

**यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति ॥ ९३-३ ॥**

जब आग्नेय दिशा के लाल रंग के दल में निवास होता है, तब मति निद्रा और आलस्य से युक्त हो जाती है ॥ ९३-३ ॥

**यदा दक्षिणदले विश्रमते तदक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति ॥ ९३-४ ॥**

जब दक्षिण दिशा के काले रंग के दल में निवास होता है, तब द्वेषभाव और क्रोधी स्वभाव की मति रहती है ॥ ९३-४ ॥

**यदा नैऋत्यदले विश्रमते तत्रैऋत्यदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति ॥ ९३-५ ॥**

नैऋत्य दिशा के नीले रंग वाले दल में निवास करने पर पाप कर्मों और हिंसक वृत्ति वाली मति रहती है ॥ १३-५ ॥

**यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडाविनोदे मतिर्भवति ॥ १३-६ ॥**

**यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमनचलनवैराग्यमतिर्भवति ॥ १३-७ ॥**

जब स्फटिक वर्ण वाले पश्चिम दल में निवास रहता है, तब क्रीड़ा और विनोद में अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। वायव्यकोण के माणिक्य वर्ण वाले दल में निवास होने पर घूमने-फिरने और वैराग्य भाव की ओर झुकाव होता है ॥ १३-६, १३-७ ॥

**यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृंगारमतिर्भवति ॥ १३-८ ॥**

जब उत्तर के पीले रंग के दल में निवास करता है, तो सुख-साधन और सजने-सँवरने में अभिरुचि रहती है ॥ १३-८ ॥

**यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैदूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति ॥ १३-९ ॥**

ईशान कोण के वैदूर्यमणि-रंग के दल में रहने पर दान-पुण्य और अनुग्रह करने में अभिरुचि जागती है ॥ १३-९ ॥

**यदा संधिसंधिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति ॥ १३-१० ॥**

जब जोड़ों के संधिभाग में मति वास करती है, तब वात, पित्त, कफ से सम्बन्धित बड़ी बीमारियों का प्रकोप होता है ॥ १३-१० ॥

**यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति ॥ १३-११ ॥**

जब मति मध्य में रहती है, ऐसे में सब कुछ जानने, गाने, नाचने, पढ़ने और आनन्द मनाने में ध्यान रहता है ॥ १३-११ ॥

**यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्भरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते प्रथमरेखा बन्धूकपुष्पवर्णं तदा निद्रावस्था भवति । निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति । स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसंभववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति ॥ १३-१२ ॥**

जब आँख श्रमशील रहती है, तो उसे विश्राम देने के उद्देश्य से पहली रेखा का आश्रय लेकर बीच में निमज्जन करती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के वर्ण वाली होती है, जिससे निद्रावस्था की प्राप्ति होती है। निद्रावस्था के बीच में ही स्वप्नावस्था रहती है। स्वप्नावस्था के बीच में देखी गई, सुनी हुई और अनुमान की हुई सम्भावित बातों की कल्पना करने से जो श्रम करना पड़ता है ॥ १३-१२ ॥

**श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्त्यवस्था भवति सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसंबन्धिनी बुद्धिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति पश्चात्परमेश्वरस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति ॥ १३-१३ ॥**

उस श्रम के निवारणार्थ द्वितीय रेखा वलय में डुबकी लगाती है। वह दूसरी रेखा वीर-बहूटी के वर्ण की है, जिससे सुषुप्ति अवस्था होती है। इस सुषुप्तावस्था में बुद्धि मात्र परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली और नित्य बोधस्वरूपा होती है। इसके पश्चात् ही परमेश्वर की प्राप्ति सम्भव है ॥ १३-१३ ॥

**तृतीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति**

तुरीये केवल परमात्मसंबन्धिनी मतिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति तदा शनैः शनैरुपरमेष्टुदध्या  
धृतिगृहीत यात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ १३-१४ ॥

तृतीय रेखा बलय बनाकर जब पद्मराग वर्ण वाली रेखा में निमज्जन किया जाता है, तब तुरीयावस्था प्राप्त होती है। इसमें बुद्धि मात्र परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाली और नित्य बोधस्वरूपा होती है। इस अवस्था में बुद्धि को धीरे-धीरे सबसे पृथक् करते हुए धैर्यपूर्वक मन को आत्म-केन्द्रित करके अन्य कुछ भी विचार न करे ॥ १३-१४ ॥

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति । यदा  
तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दस्वरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति यावदेहधारणा वर्तते-  
तावन्तिष्ठति पश्चात्परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवा-  
त्मदर्शनोपाया भवन्ति ॥ १३-१५ ॥

तब प्राण और अपान में एकीकरण करके सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप मानते हुए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। तुरीयातीतावस्था प्राप्त होने पर द्वन्द्वभाव मिटते ही सभी कुछ आनन्दस्वरूप लगने लगता है। जब तक जीव में देहधारणा रहती है, तभी तक वह उसमें निवास करता है, बाद में परमात्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, इसी मार्ग से मोक्ष और आत्मदर्शन दोनों की प्राप्ति सम्भव है ॥ १३-१५ ॥

**चतुर्थस्थसमायुक्तमहाद्वारगवायुना । सहस्थितत्रिकोणार्थगमने दृश्यतेऽच्युतः ॥ १४ ॥**

चारों मार्ग से संयुक्त महाद्वार की ओर गमन करने वाले वायु के साथ स्थिर होने पर अर्द्ध त्रिकोण में जाकर परमात्मा का साक्षात्कार होता है ॥ १४ ॥

**पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम् । प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं  
च स्थानकम् । यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम् । रकारमग्निबीजं च अपानादित्यसंनि-  
भम् ॥ १५ ॥**

पूर्व में कथित त्रिकोण स्थान से ऊपर पृथ्वी आदि पाँच रंग वाले तत्त्व ध्यान के योग्य हैं। इसके साथ बीज, वर्ण और स्थानयुक्त प्राणादि पाँच वायु ध्यान के योग्य हैं। 'य' कार जो नीले बादलों के समान है, वह प्राण का बीज है। 'र' कार आदित्यरूप वर्ण अग्निरूप अपान का बीज है ॥ १५ ॥

**लकारं पृथिवीरूपं व्यानं बन्धूकसंनिभम् । वकारं जीवबीजं च उदानं शङ्खवर्णकम् ॥ १६ ॥**

'ल' कार बन्धूक पुष्प के रंग वाला पृथ्वीरूप व्यान का बीज है। शंख के रंग वाला 'व' कार जीवरूप उदान का बीज है ॥ १६ ॥

**हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम् । हन्त्राभिनासाकर्णं च पादाङ्गुष्ठादिसंस्थितम् ॥ १७ ॥**

'ह' कार स्फटिक प्रभायुक्त आकाश रूप 'समान' का बीज है। हृदय, नाभि, नासिका, कान तथा पैर का अंगुष्ठ-ये समान प्राण के स्थान हैं ॥ १७ ॥

**द्विसप्तिसहस्राणि नाडीमार्गेषु वर्तते । अष्टाविंशतिकोटीषु रोमकूपेषु संस्थिताः ॥ १८ ॥**

यह समान बहतर हजार नाडियों तथा शरीर के अट्ठार्हस करोड़ रोम कूपों में रहता है ॥ १८ ॥  
**समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि । रेचकादित्रयं कुर्याददृढचित्तः समाहितः ॥ १९ ॥**  
**शनैः समस्तमाकृष्ट्य हत्सरोरुहकोटरे । प्राणापानौ च बध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत् ॥ २०० ॥**

समान और प्राण भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक हैं, दोनों एक ही जीव हैं। चित्त को दृढ़ता से समाहित कर पूरक, कुम्भक, रेचक तीनों क्रियायें सम्पन्न करे। हृदयकमल के कोटर में धीरे-धीरे सबको आकर्षित करके, प्राणवायु और अपान को अवरुद्ध करते हुए प्रणव (उँकार) का उच्चारण करे॥ १९-१०० ॥

**कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गं संकोचनं तथा । मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तुनिभा शुभा ॥ १०१ ॥**

कण्ठ का संकोचन करके लिङ्ग का संकोचन करे, तत्पश्चात् मूलाधार से पद्मतन्तु की तरह प्रकट होने वाली सुषुम्ना नाड़ी का संकोचन करे॥ १०१ ॥

**अमूर्ते वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः । शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥ १०२ ॥**

सुषुम्ना के आश्रित वीणा-दण्ड से उठने वाला अमूर्त नाद सुनाई पड़ता है, जैसे शंखनाद आदि के मध्य (अमूर्त ध्वनि) सुनाई पड़ता है॥ १०२ ॥

**व्योमरन्धगतो नादो मायूरं नादमेव च । कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥ १०३ ॥**

**तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्प्रिदिवाकरः । कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्धेषु शक्ति च ॥ १०४ ॥**

**स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम् । रत्नानि ज्योतिस्तिनादं तु बिन्दुमाहेश्वरं पदम् ॥ १०५ ॥**

**य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्रूत इत्युपनिषत् ॥ १०६ ॥**

व्योमरन्ध (आकाशरन्ध) से गमन करने वाला नाद मोर (पक्षी की) ध्वनि के समान रहता है, कपाल कुहर के मध्य चार द्वारों वाला बीच का स्थान है। व्योम में सूर्य के सुशोभित होने के समान ही आत्मा यहाँ प्रतिष्ठित है और ब्रह्म प्राप्ति के स्थान पर ब्रह्मरन्ध में कोदण्ड (धनुष) द्वय के बीच शक्ति स्थित है। जहाँ मन को तल्लीन करके अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, वहाँ रत्नों से ज्योतिष्मान् नादबिन्दु महेश का स्थान है। जो पुरुष इसका ज्ञाता है, वह कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ १०३-१०६ ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति ध्यानबिन्दूपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ नारायणोपनिषद् ॥

यह लघुकाय उपनिषद् कृष्णजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसे 'नारायणाथर्वशिर उपनिषद्' भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में चारों वेदों का उपदेश-सार 'शिर' (मस्तक) के रूप में वर्णित है। सर्वप्रथम 'नारायण' से ही समस्त चेतन-अचेतन के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् नारायण की सर्वात्मकता (सभी की आत्मा के रूप में) का विवेचन है। तदुपरान्त नारायण के अष्टाक्षर मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) की विवेचना है। इसके पश्चात् नारायण और प्रणव (ॐ कार) की ऐक्यता तथा अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन करने का प्रतिफल बताया गया है। जिसमें कहा गया है कि इस लघुकाय (संक्षिप्त) उपनिषद् के अध्ययन करने से चारों वेदों के पाठ का पुण्यलाभ प्राप्त हो जाता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति । नारायणात्प्राणो जायते । मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी । नारायणाद्वृह्या जायते । नारायणा-द्वुद्रो जायते । नारायणादिन्द्रो जायते । नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते । नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते । नारायणात्प्रवर्तन्ते । नारायणे प्रलीयन्ते । एतद्गवेदशिरोऽधीते ॥ १ ॥

उन पुरुषरूप भगवान् नारायण ने संकल्प किया कि 'मैं' प्रजा (जीवों) की सृष्टि करूँ। अतः उन्हीं के द्वारा समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई। नारायण से समष्टिगत प्राण का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हीं के द्वारा मन और समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। भगवान् नारायण द्वारा ही आकाश, वायु, तेज, जल एवं सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाली पृथ्वी आदि सभी का प्राकट्य हुआ। भगवान् नारायण से ही ब्रह्मा जी प्रादुर्भूत हुए। नारायण से भगवान् रुद्र उत्पन्न होते हैं। नारायण द्वारा ही देवराज इन्द्र प्रकट हुए। नारायण द्वारा प्रजापति का भी प्रादुर्भाव हुआ। नारायण से ही द्वादश आदित्य उत्पन्न हुए। ग्यारह रुद्र, अष्टवसु एवं सम्पूर्ण छन्द भगवान् नारायण से प्रकट हुए। नारायण द्वारा ही प्रेरणा प्राप्त करके सभी अपने-अपने कार्यों में लग जाते हैं तथा भगवान् नारायण में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं। ऐसा ही यह ऋग्वेदीय उपनिषद् का कथन है ॥ १ ॥

अथ नित्यो नारायणः । ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च नारायणः । शक्रश्च नारायणः । कालश्च नारायणः । दिशश्च नारायणः । विदिशश्च नारायणः । ऊर्ध्वं च नारायणः । अथश्च नारायणः । अन्तर्बहिश्च नारायणः । नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । निष्कलंको निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् । य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति । एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ॥ २ ॥

भगवान् नारायण ही नित्य (शाश्वत) हैं। ब्रह्माजी भी नारायण हैं। भगवान् शिव एवं देवराज इन्द्र भी नारायण हैं। काल और दिशाएँ भी नारायण हैं। विदिशायें (दिशाओं के मध्य के कोण) भी नारायण हैं। ऊर्ध्व भी नारायण और अधः भी नारायण है। अन्तः एवं बाह्य भी नारायण हैं। जो कुछ हो गया और जो कुछ हो रहा है तथा जो होने वाला है, वह सभी कुछ भगवान् नारायण ही हैं। नारायण ही एकमात्र निष्कलंक, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय और विशुद्ध देव हैं। उनके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई नहीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह स्वयं विष्णुमय हो जाता है, वह विष्णु ही हो जाता है, ऐसा ही यजुर्वेदीय उपनिषद् का कथन है ॥ २ ॥

ॐ इत्यग्रे व्याहरेत् । नम इति पश्चात् । नारायणायेत्युपरिष्ठात् । ॐ इत्येकाक्षरम् । नम इति द्वे अक्षरे । नारायणायेति पञ्चाक्षराणि । एतद्वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदम् । यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति । अनपब्रूवः सर्वमायुरेति । विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽमृतत्वमश्रुते ततोऽमृतत्वमश्रुत इति । एतत्सामवेदशिरोऽधीते ॥ ३ ॥

सर्वप्रथम आरम्भ में 'ॐ' कार का उच्चारण करे, तदुपरान्त बाद में 'नमः' शब्द का और फिर अन्त में 'नारायण' पद का उच्चारण करे। 'ॐ' यह एक अक्षर है। 'नमः' ये दो अक्षर हैं और 'नारायणाय' ये पाँच अक्षर हैं। इस प्रकार यह 'ॐ नमो नारायणाय' पद भगवान् नारायण के आठ अक्षरों से युक्त मन्त्र है। भगवान् नारायण के इस अष्टाक्षरी मन्त्र का जो भी मनुष्य जप और ध्यान करता है, वह श्रेष्ठतम कीर्ति से युक्त होकर पूर्णायुष्य प्राप्त करता है। उसे जीवों का आधिपत्य, स्त्री-पुत्र एवं धन-धान्यादि की वृद्धि तथा गौ-आदि पशुओं का स्वामित्व भी प्राप्त होता है। तदुपरान्त वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, यही सामवेदीय उपनिषद् का प्रतिपादन है ॥ ३ ॥

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम् । अकार उकारो मकार इति । ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति । यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात् । ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति । तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम् । ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः । ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत इति । सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम् । एतदर्थवैशिरोऽधीते ॥ ४ ॥

'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार मात्राओं से युक्त यह प्रत्यक्ष (ॐ कार) आनन्दमय, ब्रह्मपुरुष प्रणवस्वरूप है। ये भिन्न-भिन्न हैं, इन मात्राओं के सम्मिलित स्वरूप को 'ॐ' कहते हैं। इस प्रणवरूप 'ॐ' कार का जप करके योगी-साधक जन्म-मृत्यु रूपी सांसारिक-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्र की साधना करने वाला साधक वैकुण्ठ धाम को जाता है। वह यह वैकुण्ठ धाम पुण्डरीक (हृदय कमल) विज्ञानमय है। इस कारण इसका स्वरूप विद्युत के सदृश परम प्रकाशस्वरूप है। ब्रह्ममय देवकी नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य अर्थात् ब्राह्मण प्रिय हैं। वे ही मधुसूदन पुण्डरीकाक्ष और वे ही विष्णु एवं अच्युत हैं। प्राण-मात्र में वे भगवान् नारायण ही निवास करते हैं। वे ही कारण पुरुष होते हुए भी कारण रहित हैं। वे ही परब्रह्म हैं। विद्वज्ञ अर्थवेदीय ॐ कार रूपी इस शिरोभाग (सारभाग) का अध्ययन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं-प्रातरधीयानः पापोऽपापो भवति । माध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपात-कात्रमुच्यते । सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते । नारायणसायुज्यमवाप्नोति श्रीमन्नारायणसायुज्यम-वाप्नोति य एवं वेद ॥ ५ ॥

इस उपनिषद् का प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। दोनों संध्याओं-प्रातः एवं सायंकाल के समय में इस उपनिषद् का पाठ करने से साधक पूर्व समय (पूर्वजन्म) का भी यदि पापी हो, तो वह पापरहित हो जाता है। मध्याह्न के समय भगवान् भास्कर की ओर अभिमुख होकर पाठ करने से मनुष्य पाँच महापातकों एवं उपपातकों से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है। वह चारों वेदों के पाठ का पुण्यलाभ प्राप्त करता है तथा शरीर का परित्याग कर देने पर अन्तकाल में श्री नारायण के सायुज्य पद को प्राप्त कर लेता है। जो ऐसा जानता है, वह भी श्रीमन्नारायण के सायुज्य पद को पा जाता है ॥ ५ ॥

॥ इति नारायणोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ नीलरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन खण्ड हैं। जिसमें 'नीलकण्ठ रुद्र' के 'रौद्र' स्वरूप का विवेचन किया गया है।

प्रथम खण्ड में भगवान् रुद्र के रौद्र रूप का वर्णन है। उनसे अपने रौद्ररूप को शान्त रखकर कल्याणकारी स्वरूप को प्रकट करने की प्रार्थना की गई है। द्वितीय खण्ड में भगवान् रुद्र के गोपाल (कृष्ण) स्वरूप का चित्रण करते हुए उन्हें मोरमुकुटधारी कहा गया है। अन्यत्र उन्हें 'इन्द्र' भी कहा गया है। इस खण्ड में भगवान् रुद्र के अति सामर्थ्यशाली आयुधों की भी प्रशस्ति है। तृतीय खण्ड में रुद्र के नीलकण्ठ रूप की प्रतिष्ठा है। लोक कल्याण हेतु हलाहल विष पान करने वाले भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए उन्हें केदारेश्वर, विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। इसी के साथ इस उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

### ॥ प्रथमःखण्डः ॥

अपश्यं त्वावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमवः । अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डनम् ॥ १ ॥  
दिव उग्रोऽवारुक्षत् प्रत्यस्थाद्वूम्यामधि । जनासः पश्यतेमं नीलग्रीवं विलोहितम् ॥ २ ॥  
एष एत्यवीरहा रुद्रो जलासभेषजीः । वित्तेऽक्षेममनीनशद्वातीकारोऽप्येतु ते ॥ ३ ॥

हे नीलकण्ठ ! अपने दिव्य लोक से धरित्री पर अवतरित होते हुए हम आपको देखते हैं। अपने उग्र रौद्ररूप से मोर के पंख की तरह अन्तरिक्ष को मुकुट बनाये हुए धरती पर अवतीर्ण होते हुए हम आपका दर्शन करते हैं, क्योंकि आप धरती के अधिपति हैं। हे मनुष्यो ! लाल वर्ण से युक्त इन नीलकण्ठ के दर्शन करो। भगवान् रुद्र जल में स्थित ओषधियों में प्रवेश करके रोगरूप पापों का संहार करते हैं। ये प्राण-धारियों के जीवन-आधार हैं। अनिष्टों की समाप्ति और अनुपलब्ध साधन की पूर्ति हेतु वे आपके समीप पदार्पण करें ॥१-३॥  
नमस्ते भवभामाय नमस्ते भवमन्यवे । नमस्ते अस्तु बाहुभ्यामुतो त इषवे नमः ॥ ४ ॥  
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्घ्यस्तवे । शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिःसीः पुरुषं जगत् ॥ ५ ॥

हे क्रोधरूप रुद्रदेव ! आपके प्रति हमारा प्रणाम है। हे नीलकण्ठ रुद्र ! आपकी दोनों भुजाओं और उनमें धारण किये हुए बाणों को प्रणाम। हे कैलासपति ! आप पर्वत पर रहते हुए भी सबका मंगल करते हैं। हे गिरित्र (पर्वतों के रक्षक) रुद्रदेव ! दुष्टों का संहार करने के लिए जिस बाण को आप धारण किये हुए हैं, उस बाण को हम मनुष्यों के लिए कल्याणप्रद बनाएँ। उससे हमारे स्वजनों का संहार न करें ॥ ४-५ ॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि । यथा नः सर्वमिज्जगदयक्षमं सुमना असत् ॥ ६ ॥  
या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः । शिवा शरव्या या तव तया नो मृड जीवसे ॥ ७ ॥

हे कैलासपति शिव ! अपनी कल्याणकारी वाणी द्वारा हम आपके निर्मल गुणों का गान करते हैं। ऐसा गान करने से यह सारा संसार हमारे निमित्त दुःखों से रहित होकर अनुकूलता युक्त हो जाएगा। आपके धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा और बाण ये सभी मंगल करने वाले हैं। हे मंगलरूप मृडदेव ! इन सभी अस्त्र-शस्त्रों से आप हमारे जीवन को संरक्षण प्रदान करते हैं ॥ ६-७ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी । तथा नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशत् ॥ ८ ॥  
असौ यस्ताम्नो अरुण उत बभूविलोहितः । ये चेमे रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां  
हेड ईमहे ॥ ९ ॥

हे रुद्रदेव ! पर्वत पर विराजमान रहते हुए भी आप हम सबका मंगल करने वाले हैं । आप अपने पाप-  
नाशक सौम्य स्वरूप तथा मंगलमय स्वरूप द्वारा हमें सभी ओर से प्रकाशमान करें । आपकी जो ताप्रवर्ण, लाल,  
भूरी, अत्यन्त लाल तथा हजारों सूर्यकिरणरूपी मूर्तियाँ चारों दिशाओं में संव्यास हैं, हम स्तुतिगान हेतु उनकी  
हृदय से कामना करते हैं ॥ ८-९ ॥

## ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अपश्यं त्वावरोहन्तं नीलग्रीवं विलोहितम् । उत त्वा गोपा अदृशन्तुत त्वोदहार्यः ॥ १ ॥  
उत त्वा विश्वा भूतानि तस्मै दृष्टाय ते नमः । नमो अस्तु नीलशिखण्डाय सहस्राक्षाय वाजिने ॥ २ ॥

हे रक्त वर्ण वाले नीलकण्ठ रुद्रदेव ! हमने धरती पर अवतरित होते हुए आपके स्वरूप का दर्शन किया  
है । आपके उस स्वरूप को या तो गोपों ने देखा या फिर जल भरने वाली गोपिकाओं ने देखा है या विश्व के  
समस्त प्राणियों ने देखा है । आपके उस देखे हुए श्रीकृष्ण स्वरूप को हम प्रणाम करते हैं । हे मोरमुकुटधारी  
भगवन् ! आपके प्रति हमारा नमस्कार है । महान् शक्तिशाली इन्द्ररूप भी आप ही हैं । आप अपने प्रिय भक्तजनों  
के सामने असंख्य नेत्रों से युक्त होकर अपने विराट रूप में प्रकट होते हैं ॥ १-२ ॥

अथो ये अस्य सत्वानस्तेभ्योऽहमकरं नमः । नमांसि त आयुधायानातताय धृष्णावे ॥ ३ ॥  
उभाभ्यामकरं नमो बाहुभ्यां तव धन्वने । प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभ्योरार्तियोर्ज्याम् ॥ ४ ॥

आपके इस स्वरूप को जिसमें सात्त्विक भाव वाले गोपाल, गोपिकाएँ भी सहचर रूप में आपके साथ  
हैं, उनके प्रति हम नमस्कार करते हैं । हे भगवान् रुद्र ! आपके अति सामर्थ्ययुक्त उन आयुधों को हमारा अनेक  
बार नमन है, जो इस समय उपयोग में नहीं लाये जा रहे । आपके धनुष के प्रति दोनों हाथ जोड़कर हमारा नमन  
है । आप अपने और शत्रु पक्ष के राजाओं के प्रति अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को उतार दें अर्थात् शान्त स्वरूप  
धारण करके युद्ध की सम्भावना को ही मिटा दें ॥ ३-४ ॥

याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप । अवतत्य धनुस्त्वः सहस्राक्ष शतेषुधे ॥ ५ ॥  
निशीर्य शत्यानां मुखा शिवो नः शंभुराभर । विज्यं धनुः शिखण्डनो विशल्यो बाणवाः उत ॥ ६ ॥

आप अपने हाथ में धारण किये बाण को पुनः तूणीर में लौटा लें । हे मोरपंखधारी सहस्राक्ष ! आप सौ-  
सौ बाणों के एक साथ संधानकर्ता हैं । हमें मंगल एवं सुख प्रदान करने हेतु आप अपने बाणों के अग्रभाग को  
तीक्ष्ण करके धनुष पर चढ़ायें । (शत्रुओं के विनष्ट होने पर) आपका धनुष प्रत्यञ्चा रहित हो । संताप देने की  
प्रक्रिया त्यागकर बाण पुनः तरकस में लौट आयें ॥ ५-६ ॥

अनेशन्त्रस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः । परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ॥ ७ ॥  
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम् । या ते हेतिर्मीदुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ॥ ८ ॥  
तथा त्वं विश्वतो अस्मानयक्षमया परिब्मुज । नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ॥ ९ ॥  
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः । ये वाभिरोचने दिवि ये च सूर्यस्य रश्मिषु ॥ १० ॥

येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः । या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीनाम् ।  
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ११ ॥

आपके तीखे बाण जो पर्वत को भी विदीर्ण करने वाले हैं, आपके तरकस में लौटकर कल्याणप्रद हों। आपके धनुष पर संधान किया हुआ बाण हमारा सभी और से संरक्षण करे। संरक्षण के पश्चात् आप अपने बाण को तरकस में स्थापित कर लें। हे भक्तवत्सल कृपावर्षक प्रभो! आप अपने अक्षय बाण और धनुष द्वारा चारों ओर से हमारा संरक्षण करें। उन सर्पों को हमारा प्रणाम है, जो पृथिवी पर वास करते हैं।

आकाश और स्वर्ग में वास करने वाले सर्पों (पीड़ा पहुँचाने वाली शक्तियों) को हमारा प्रणाम। प्रकाश युक्त लोकों, सूर्य की किरणों और जल में रहने वाले उन सभी सर्पों (कष्टदायिनी शक्तियों) को प्रणाम। राक्षसों के बाण रूप सर्पों को प्रणाम है, जो गद्धों और वनस्पतियों में वास करते हैं ॥ ७-११ ॥

## ॥ तृतीयः खण्डः ॥

यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः स्वजनान्हरिः । कल्माषपुच्छमोषधे जम्भयोताश्वरुन्धति ॥ १ ॥

जो भगवान् शंकर विश्वकल्याणार्थ हलाहल पान करके नीलकण्ठ कहे जाते हैं तथा स्वभक्तों का कल्याण करने के लिए श्रीहरि (विष्णु) रूप को धारण करते हैं। हे ओषधियो! उन काली पूँछ वाले (महिष रूपधारी केदरेश्वर) के निमित्त शीघ्र ही अमोघ सामर्थ्ययुक्त होकर आप उन्हें तुष्टि प्रदान करें ॥ १ ॥

बभूश्च बभूकर्णश्च नीलग्रीवश्च यः शिवः । शर्वेण नीलकण्ठेन भवेन मरुतां पिता ॥ २ ॥  
विस्तपाक्षेण बभुणा वाचं वदिष्यतो हतः । शर्व नीलशिखण्ड वीर कर्मणि कर्मणि ॥ ३ ॥

पिङ्गल (भूरे) वर्ण देह और पिङ्गल कानों वाले नीलकण्ठधारी भगवान् शंकर सर्वस्वरूप तथा सर्वव्यापी हैं। उन्हीं विस्तपाक्ष भव (शंकर) द्वारा वाणी बोलने वाले (गर्जन करने वाले) का संहार हुआ। हे वीर! प्रत्येक कर्म में उन्हें ही सर्वव्यापक रूप में देखना चाहिए ॥ २-३ ॥

इमामस्य प्राशं जहि येनेदं विभजामहे । नमो भवाय । नमशशर्वाय । नमः कुमाराय शत्रवे ।  
नमः सभाप्रपादिने । यस्याश्वतरौ द्विसरौ गर्दभावभितस्सरौ । तस्मै नीलशिखण्डाय नमः ।  
नीलशिखण्डाय नमः ॥ ४ ॥

उनके बारे में पूछताछ करने की इच्छा (शंकाभाव) का परित्याग कर देना चाहिए। इस संशय दृष्टि से हम विश्व को उनसे भिन्न मान बैठते हैं, यह शंका सर्वथा परित्याज्य है। जगत् के कारण रूप भगवान् भव को नमन, संहार करने वाले रुद्रदेव को नमन, नीलशिखण्डधारी अथवा महिषरूप केदरेश्वर को नमन तथा दक्ष प्रजापति के यहाँ विवाह मण्डप को शोभायमान करने वाले कुमाररूप शंकर को नमन। जिन महिषरूप केदरेश्वर नीलरूप से अश्व, खच्चर तथा चारों ओर दौड़ने वाले गर्दभों का सृजन हुआ, उन्हें हमारा नमन। नीलशिखण्डरूप भगवान् को बारम्बार नमन ॥ ४ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति नीलरुद्रोपनिषद् समाप्ता ॥



# ॥ नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें देवगणों एवं प्रजापति के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से सविशेष (साकार) और निर्विशेष (निराकार) ब्रह्म का निरूपण किया गया है। पाँच प्रखण्डों में यह उपनिषद् उपनिषद् है। ये पाँचों प्रखण्ड भी 'उपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस उपनिषद् में परमात्मा को परम पुरुषार्थी (नृसिंह) रूप में व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि परम पुरुष के तप से सृष्टि विकसित हुई। सृष्टि विकास उसका पहला-पूर्व तप कहा जाने योग्य है। सृष्टि विकास का क्रम स्पष्ट करने वाले उपनिषद् को 'पूर्वतापिनी' कहा गया है। प्रथम उपनिषद् का वर्ण्य विषय है—सृष्टि के मूल में प्रजापति की कामना, प्रजापति द्वारा आनुष्टुभ मन्त्र का दर्शन, सम्पूर्ण जगत् आनुष्टुभमय, मन्त्रराज के चार पाद, ऋषि-देवता-छन्द विषयक प्रश्न, पाद और अंगसहित मन्त्र का फल, लोक, वेद, ब्रह्म आदि के रूप में साम का ध्यान, मन्त्रराज साम का माहात्म्य तथा इस विद्या की महिमा। द्वितीय उपनिषद् का वर्ण्य विषय है—नारसिंह मन्त्रराज द्वारा संसार से पार होना, प्रणव के पादों का साम के पादों के साथ तादात्म्य, साम की अनुष्टुपता, साम की पंचांगता, ओंकार की न्यास प्रक्रिया, मन्त्रराज के प्रत्येक पद द्वारा न्यास, मन्त्रराज के उग्र, वीर आदि पदों की सार्थकता। तृतीय उपनिषद् में मन्त्रराज के शक्ति-बीज आदि की जिज्ञासा तथा शक्ति और बीज का स्वरूप निरूपण है। चतुर्थ उपनिषद् का वर्ण्य विषय है— अंग मन्त्र का उपदेश, प्रणव की ब्रह्मात्मकता, प्रणव के चारों पदों का निरूपण, सावित्री-गायत्री मन्त्र का स्वरूप, यजुर्लक्ष्मी मन्त्र, नृसिंह गायत्री मन्त्र आदि का स्वरूप निरूपण। पंचम उपनिषद् का वर्ण्य विषय है— देवों द्वारा 'महाचक्र' की जिज्ञासा, षड्, अष्ट, द्वादश, द्वात्रिंशत् (३२) अरों वाले चक्रों का निरूपण, अवयव दर्शन, महाचक्रदर्शन, महाचक्र वेधन महिमा, मन्त्रराज के अध्ययन का फल, मन्त्रराज के जापक की सर्वोत्कृष्टता तथा मन्त्रराज के जापक की ब्रह्मत्व प्राप्ति का निरूपण। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म का सविशेष ब्रह्म (नृसिंह भगवान्) के साथ तादात्म्य निरूपित हुआ है।

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य-अद्वयतारकोपनिषद् )

## ॥ प्रथमोपनिषद् ॥

आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। तदेषाभ्यनूक्ता— कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषेति उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

कहा जाता है कि जब सारा संसार जल के रूप में ही था। सर्वत्र सलिल राशि ही दृष्टिगोचर हो रही थी। उसी जल राशि के मध्य कमल पत्र पर प्रजापति ब्रह्मा जी प्रकट हुए। प्रजापति ब्रह्माजी के मन में यह कामना उत्पन्न हुई कि मैं सृष्टि रचना करूँ। यह लोक प्रसिद्ध उक्ति है कि मनुष्य मन में जैसी भावना करता है, भीतर से वैसी ही वाणी निकलती है और वैसी ही क्रिया होने लगती है। इसी सम्बन्ध में ऋषियों ने कहा है— प्राचीन काल में सृष्टि रचना के समय पहले मन से काम की उत्पत्ति हुई। निरन्तर आत्म निरीक्षण करने वाले ज्ञानी जन काम को अंतःस्थित आत्मा का बन्धन मानते हैं। प्रकृति के कार्यभूत मन में ही काम प्रकट होता है, ऐसा ज्ञानी जनों का मानना है। सृष्टि के आदि में यह आपः (मूल क्रियाशील तत्त्व) ही विश्व का कारणभूत बना। जिससे सृष्टि रचना हुई। जो लोग इस रहस्य को जानते हैं, वे जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, उसे प्राप्त भी कर लेते हैं ॥१॥

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्। तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिदं किंच । तस्मात्सर्वमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किंच । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते । अनुष्टुभा जातानि जीवन्ति । अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्यैषा भवत्यनुष्टुप्प्रथमा भवत्यनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुब्बाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति ॥ २ ॥

सृष्टि रचना के उद्देश्य से ब्रह्माजी ने तप प्रारम्भ किया । उस तप के परिणाम स्वरूप अनुष्टुप् छन्द में अबद्ध इस नारसिंह मन्त्रराज का साक्षात्कार हुआ । उन्होंने मंत्र राज के प्रभाव से इस दृश्य जगत् की रचना की । इस प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जगत् को इसीलिए मंत्रराज आनुष्टुभमय कहते हैं । सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति इस अनुष्टुप् मन्त्र से ही हुई है । इस अनुष्टुप् के ही द्वारा उन्हें जीवन धारण की शक्ति मिलती है और इस लोक से प्रयाण करते समय अनुष्टुप् में ही प्रवेश कर जाते हैं । सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाली यह अनुष्टुप् वृत्ति ही है । अनुष्टुप् ही वाणी है । इसलिए इसी वाणी से मनुष्य जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते हैं । सभी छन्दों में अनुष्टुप् छन्द निश्चित ही श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

[ यहाँ अनुष्टुप् को ही उद्भव, विकास एवं विलय का कारण कहा गया है । अनुष्टुप् छन्द में चार चरण होते हैं । छन्द का एक अर्थ 'काव्यात्मक' गठन विशेष होता है तथा दूसरा व्यापक अर्थ होता है - जो आच्छादित किये हुए है । जिस प्रकार अनुष्टुप् चार चरणों में व्यक्त होता है, उसी प्रकार इस सृष्टि की विभिन्न धाराएँ चार-चार चरणों में व्यक्त हैं, यथा- चार वेद, चार प्रकार के प्राणी- ( स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज ), अन्तःकरण चतुष्टय, चार वर्ण, चार आश्रम आदि । अगले ही मन्त्र में सृष्टि को चार चरणों ( भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं परमव्योम ) में व्यक्त कहा गया है । अगले मन्त्रों में भी सृष्टि के विभिन्न चतुष्टय कहे गये हैं । इसीलिए सृष्टि को अनुष्टुप् मय कहा गया है । ]

ससागरां सपर्वतां सपद्मीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् । यक्षगन्धर्वाप्सरोगण- सेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वेदेवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् । ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्तुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ३ ॥

सपद्मीपा वसुन्धरा, पर्वत और समुद्र इस सामरूपी मन्त्रराज के प्रथम चरण से उत्पन्न हुए, ऐसा जानना चाहिए । उस साम के द्वितीय चरण से यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओं से सेवित यह अंतरिक्ष बना, ऐसा समझना चाहिए । उसी साम के तीसरे चरण से वसु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओं से सेवित द्युलोक है, ऐसा जानना चाहिए तथा जो मायारूपी मल से मुक्त निरञ्जन, पवित्र, परम व्योममय ब्रह्मरूप है, उसे साम के चतुर्थ चरण से उत्पन्न हुआ जानें । इस प्रकार से जानकर प्राणी अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

**ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्त्वारो वेदाः साङ्घाः सशाखाश्त्वारः पादा भवन्ति ॥ ४ ॥**

समस्त अंगों और शाखाओं सहित ऋक्, यजुः, साम और अथर्व, चारों वेद( इस मन्त्रराज के ) चार पाद हैं ॥  
किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्घानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति ॥ ५ ॥

मन्त्रराज का ध्यान कैसे किया जाए? उनका देवता कौन है? अंग कौन-कौन से हैं? देवताओं का गण एवं छन्द कौन सा है और इस मन्त्रराज के ऋषि कौन हैं? ॥ ५ ॥

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद  
श्रिया हैवाभिषिच्यते । सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रीलोकाञ्जयति

चतुर्विशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तसाम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशः कीर्तिज्ञानैश्वर्यवाभवति । तस्मादिदं  
साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥

उन प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा, श्री बीज (ब्री) से अभिषिक्त अष्टाक्षरी गायत्री मन्त्र के रूप में जो पुरुष इस मन्त्रराज का स्वरूप जानता है, वह श्री सम्पन्न होता है। वेदमंत्रों के आदि में प्रणव का उच्चारण किया जाता है। प्रणव को इस साम का अंग समझने वाला त्रैलोक्य विजयी होता है। जो ज्ञानी पुरुष चौबीस अक्षर वाले महालक्ष्मी मंत्र को यजुः स्वरूप जानता है, वह यश, ज्ञान, आयु और ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है। अंगों सहित साम को जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, अतः अंगों सहित इस साम को जानना चाहिए ॥ ६ ॥

सावित्रीं प्रणवं यजुलक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति । द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते  
सोऽमृतत्वं च गच्छति । सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽथो  
गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽथो गच्छति ॥ ७ ॥

ज्ञानी लोग अनधिकारियों स्त्री-शूद्रों को प्रणव गायत्री एवं यजुः स्वरूप महालक्ष्मी मंत्र का उपदेश नहीं करना चाहते। (वे) बत्तीस अक्षरों वाले साम को जानें, इसे जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव और यजुर्वेद स्वरूप महालक्ष्मी मन्त्र को यदि अनधिकारी स्त्री-शूद्र जान लें, तो भी वे मरने के बाद अधोगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे में मंत्र देने वाले आचार्य को सावधान रहना चाहिए; क्योंकि वे भी उन्हीं के साथ अधोगति को प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

[ यहाँ स्त्री-शूद्र को अनधिकारी कहने का विशेष प्रयोजन है। जो निरन्तर बात-चीत करने में दत्तचित्त रहती है अथवा गर्भधारण करने-उसके संरक्षण में संलग्न रहती है, वह स्त्री है। (स्त्यायति गर्भो यस्यामिति, स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम्; स्त्यै शब्द संघातयोः+उद्), ऐसी स्त्री के लिए मन्त्रानुष्ठान की प्रक्रिया कैसे सुकर हो सकती है। 'शूद्र' उसे कहते हैं, जो शोकाभिभूत रहता है-शोचतीति शूद्रः। निरन्तर शोकाकुल रहने वाले के लिए मन्त्र आदि का क्या प्रयोजन; क्योंकि मन्त्र आदि का जप-मनन-चिन्तन शान्त मनःस्थिति में ही सम्भव है। इन्हीं कारणों से स्त्री-शूद्र को अनधिकारी कहा गया है, जो इन स्थितियों से परे हों, उनकी बात यहाँ नहीं कही गई है। ]

स होवाच प्रजापतिः—अग्निर्वेदे वा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि  
पश्वोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराद्विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् । ऋग्यजुः सामाथर्वरूपः  
सूर्योऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तसाम्नो द्वितीयं पादं जानीयात् । य ओषधीनां प्रभुर्भवति  
ताराधिपतिः सोमस्तसाम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् । स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः  
परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

प्रजापति ब्रह्मा जी पुनः कहने लगे- मंत्रराज साम के प्रथम पाद के रूप में सभी देवों, सभी अग्नियों, सभी प्राणियों, सभी प्राणों, सभी इन्द्रियों, सभी पशुओं, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् और विराट् को जानना चाहिए। द्वितीय पाद के रूप में ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्ववेद, सूर्य तथा सूर्य मण्डल में स्थित हिरण्यमय पुरुष को जानना चाहिए। तृतीय पाद के रूप में सभी ओषधियों और तारापति चन्द्रमा को जानना चाहिए और उस साम के चतुर्थ चरण के रूप में उन भगवान् विष्णु, ब्रह्मा, शिव, अग्नि, इन्द्र और अविनाशी परमात्मा को जानना चाहिए। जो इस प्रकार (चारों पादों को) जान लेता है, वह अमरता को प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिंहं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो  
जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय  
शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति ॥ ९ ॥

मंत्रराज आनुष्टुभ में 'उग्रम्' यह पद प्रथम चरण का आदि अंश है। 'ज्वलम्' पद दूसरे चरण का आदि अंश है। तीसरे चरण का आदि अंश 'नृसिं' यह पद है एवं चौथे चरण का आदि भाग 'मृत्यु' यह पद है। ये चारों पद साम के ही स्वरूप हैं। जो इस प्रकार समझता है, वह अमरता प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस साम को यदि किसी को देना हो, तो सेवाभावी पुत्र को एवं सदाचारी शिष्य को दिया जा सकता है। अनधिकारी को इसका उपदेश न करे ॥ ९ ॥

**क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥**

प्रजापति ने आगे कहा—क्षीरसागर में शयन करने वाला भगवान् का जो नृसिंह रूप है, वह परम पद रूप योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य है। जो इस साम को इस तरह जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

[ यहाँ क्षीरसागर में शयन करने वाले नृसिंह भगवान् के ध्यान से अमृतत्व की प्राप्ति का तथ्य वर्णित है, जो युक्तियुक्त है। क्षीरसागर का अर्थ है— क्षीर (अद्यते इति)= खाने योग्य पदार्थ तथा सागर (न गरः मृत्युः येन स अगरः अमृतं तेन सह वर्तमानः)= मृत्यु रहित अमृतत्व से युक्त अर्थात् क्षीरसागर ऐसा खाद्य (ग्राह) पदार्थ है, जो अमृतत्व से युक्त है। इसे पदार्थ रचना के पूर्व का सृष्टि तत्त्व का प्रवाह भी कहा जा सकता है, जिसमें नृसिंह (मनुष्यों की जीवात्मा में तेज सिंचित करने वाले) सोये हुए हैं अर्थात् अति सामर्थ्यशाली ईश्वरीय सामर्थ्य उसमें प्रसुप्तावस्था में है, ऐसे ईश तत्त्व का ध्यान करने, उसे आत्मसात् करने से अमृतत्व की प्राप्ति होना निश्चित ही है। ]

**वीरं प्रथमस्याद्यार्थान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्थान्त्यं हंभी तृतीयस्याद्यार्थान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति । जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्घं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ११ ॥**

'वीर' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम पाद के पूर्वार्थ का अन्तिम भाग समझना चाहिए। 'तं स' यह पद इस साम के द्वितीय पाद के पूर्वार्थ का अन्तिम भाग समझना चाहिए। 'हंभी' यह पद इस साम के चतुर्थ पाद के पूर्वार्थ का अन्तिम भाग जानना चाहिए। यह सब साम ही है; जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस साम को किसी आचार्य के द्वारा जो इस प्रकार जानता है, वह उसी शरीर में मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा दूसरों को भी मुक्त कराने वाला होता है। इसको जानने वाला यदि माया मोह में आसक्त भी हो, तो वह मुक्ति की इच्छा करने लगता है। इस सामरूपी मंत्र का जप करने वाला भगवान् नृसिंह का उसी शरीर से प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर लेता है। मुक्ति का इससे सरल मार्ग कलियुग में दूसरा नहीं है। समस्त अंगों सहित इस साम को जो जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

**ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नरकेसरिविग्रहं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरीतं विरूपाक्षं शंकरं नीललोहितम् । उमापतिः पशुपतिः पिनाकी हामितद्युतिः । ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं हि साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १२ ॥**

साक्षात् ऋत और सत्य स्वरूप भगवान् नृसिंह सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी परमात्मा हैं। वे काले और भूरे वर्ण के, मनुष्य और सिंह की संयुक्त आकृति वाले हैं। ऊर्ध्वरीता भगवान् नृसिंह के नेत्र अत्यन्त विकराल एवं भयंकर हैं। वे सबके लिए कल्याणकारी हैं। उनके कण्ठ में नील एवं उनके ऊर्ध्वे भाग में लोहित वर्ण होने के कारण भक्त जन उनकी आराधना नीललोहित नाम से करते हैं। सर्वदेवस्वरूप भगवान् नृसिंह ही उमापति, पशुपति, पिनाक नामक धनुष धारण करने वाले) एवं अमित द्युतिमान् (प्रकाशधारी) महेश्वर हैं।

भगवान् नृसिंह ही सभी विद्याओं एवं भूतों के अधिपति हैं। भगवान् नृसिंह ही ब्रह्माजी के स्वामी, ब्रह्म के अधीश्वर एवं यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन्हें साम ही जानें। ऐसा जानने वाला अमरता को प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

[ यहाँ नृसिंह के स्वरूप और उनकी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हुई है, जो बड़ी रहस्यात्मकता से पूर्ण है। नृसिंह भगवान् को ऋत और सत्य कहा गया है, जो सृष्टि के आदिम घटक हैं-ऋतं च सत्यं .....सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ..... इत्यादि (ऋ० १०.१९०.१-३) मन्त्रों में इन्हीं घटकों से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया बताई गई है। यहाँ 'नृसिंह' के तीन नाम आए हैं-कृष्णपिंगल, नीललोहित और द्युतिमान्। ये पदार्थ की अभिव्यक्ति के क्रमिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। पहला स्वरूप कृष्णपिंगल-कालाभूरा, जो अस्पष्टता को द्योतित करता है, दूसरा नीललोहित-नीला लाल, जो अल्प स्पष्टता का द्योतक है और तीसरा द्युतिमान्-प्रकाशमय, जो पूर्ण स्पष्टता का द्योतक है। सृष्टि में पदार्थ रचना इसी क्रम से होने का यहाँ संकेत प्रतीत होता है। ]

महा प्रथमान्तार्थस्याद्यं वर्तो द्वितीयान्तार्थस्याद्यं षणं तृतीयान्तार्थस्याद्यं नमा  
चतुर्थान्तार्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम  
सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते  
सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ १३॥

'महा' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम पाद के उत्तरार्थ का आदि भाग है। 'वर्तो' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के द्वितीय पाद के उत्तरार्थ का आदि भाग है। 'षणं' यह पद तृतीय पाद के उत्तरार्थ का आदि भाग है और 'नमा' यह पद चतुर्थ पाद के उत्तरार्थ का आदि भाग है। यह सब साम ही है, इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। साम ही सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म है। इस तरह जान लेने से इसी जीवन में अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। इस साम को अंगों सहित जो जानता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १३॥

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते  
ब्रह्मणः सलोकतां सार्थितां सायुज्यं यन्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं  
च गच्छति॥ १४॥

विश्व सृजेत्रा प्रजापतियों ने साममय मंत्र के द्वारा ही संपूर्ण विश्व की रचना की है। इस कारण वे विश्व स्थान कहे गये हैं। उन्हीं से उत्पन्न होने वाला यह विश्व है, इस रहस्य को जानने वाले ब्रह्म लोक को प्राप्त होकर उसी में लीन हो जाते हैं। इसलिए अंगसहित इस साम को जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो  
जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। योऽसौ वेद यदिदं किंचात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो  
जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति स्त्रीपुंसयोर्वा। य इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वेश्वर्य ददाति। यत्र  
कुत्रापि प्रियते देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च  
गच्छति॥ १५॥

मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम चरण का अन्तिम पद 'विष्णुम्' है। द्वितीय चरण का अन्तिम पद 'मुखम्' है तृतीय चरण का अन्तिम पद 'भद्रं' है और चतुर्थ चरण का अन्तिम पद 'म्यहं' है। इस प्रकार इस साम को जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त उपासनादि तत्त्वों को प्रजापति ब्रह्माजी ने ही जाना है। मंत्रराज आनुष्टुभ सबकी आत्मा रूप में है एवं ब्रह्म में ही उसकी स्थिति है। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इस लोक में सुख समृद्धि चाहने वाले श्रेष्ठाचारी साधक को भगवान् नृसिंह समस्त प्रकार के ऐश्वर्य

प्रदान करते हैं। वह साधक चाहे जहाँ देह त्याग करे, भगवान् नृसिंह वहीं पर उसे परब्रह्ममय तारक मंत्र का बोध करते हैं। मंत्र बोध के बाद वह अमृतस्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

**तस्मादिदं साममध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य  
एवं वेदेति महोपनिषत् । य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति  
महाविष्णुर्भवति ॥ १६ ॥**

अतः तारक मंत्र रूपी साम का जप सदैव करना चाहिए; क्योंकि साम मंत्र के भीतर प्रजापति ब्रह्मा की ही शक्ति है। इस प्रकार जानने वाला ही वास्तविक साधक है। महान् परमेश्वर के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने के कारण इसे महोपनिषद् कहते हैं। इसके अन्तर्गत बताये मार्ग के द्वारा जो पुरश्चरण साधना करता है, उसे पूर्ण पुरश्चरण का लाभ प्राप्त होता है और वह महाविष्णु रूप हो जाता है ॥ १६ ॥

## ॥ द्वितीयोपनिषद् ॥

**देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एतं मन्त्रराजं  
नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः  
पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृहीयात्स मृत्युं जयति स  
पाप्मानं तरति स संसारं तरति ॥ १ ॥**

प्राचीन काल में एक बार सभी देवता संसार, पाप और मृत्यु से भयभीत होकर, भागकर प्रजापति ब्रह्माजी के पास गये। प्रजापति ब्रह्माजी ने देवों को भगवान् नृसिंह के मंत्रराज आनुष्टुभ मंत्र का उपदेश किया। इसकी साधना करके उन्होंने मृत्यु को जीता तथा समस्त पापों से छूटकर संसार सागर को पार कर लिया। इसलिए मृत्यु, पाप एवं भवसागर से डरने वाले को मंत्रराज आनुष्टुभ की शरण में जाना चाहिए। जो व्यक्ति मंत्रराज की शरण में जाता है, वह मृत्यु को जीतकर, पापों का शमन कर संसार सागर से पार हो जाता है ॥ १ ॥

**तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भर्त्रहवेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री  
गार्हपत्यः स साम्नः प्रथमः पादो भवति । द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो  
विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः स साम्नो द्वितीयः पादो भवति । तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः  
सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः स साम्नस्तृतीयः पादो भवति । याऽवसानेऽस्य  
चतुर्थर्थमात्रा सा सोमलोक ओंकारः सोऽर्थवर्णैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो  
विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति ॥ २ ॥**

यह जो प्रणव मंत्रराज का अंगभूत है, उसकी प्रथम मात्रा 'अ' कार है, उसका लोक पृथ्वी एवं ऋचाओं से सुशोभित ऋग्वेद ही वेद, ब्रह्मा देवता, अष्टवसु ही गण, छन्द गायत्री तथा गार्हपत्य अग्नि है। प्रणव की पहली मात्रा में ही यह सब निहित है। यह प्रथम मात्रा ही साम का प्रथम चरण है। 'उ' प्रणव की द्वितीय मात्रा है। इस द्वितीय मात्रा का लोक अंतरिक्ष, विष्णुदेवता और एकादश रुद्र ही गण, यजुर्मन्त्रों सहित यजुर्वेद इसका वेद, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि दक्षिणाग्नि है। मंत्रराज साम का यह द्वितीय पाद है। मंत्रराज साम के अंगभूत प्रणव की तीसरी मात्रा 'म' कार है। इसका लोक 'द्यु' लोक है, वेद-सामवेद, रुद्र देवता और द्वादश आदित्य ही गण, छन्द जगती तथा अग्नि आहवनीय है। तृतीय मात्रा के अंतर्गत यह सब है। साम का तृतीय पाद यह तृतीय मात्रा ही है। नादात्मक अर्धमात्रा जो प्रणव के उच्चारण के अंत में ध्वनि के रूप में सुनाई देती है, उसका लोक

सोमलोक, ओंकार वाचक परब्रह्म ही देवता, वेद-अथर्ववेद, संवर्तक नाम की अग्नि, उनचास मरुत् ही गण विराट् छन्द है। (इस चतुर्थ मात्रा विशिष्ट ३० कार के) एक ही ऋषि हैं (ब्रह्माजी)। अत्यन्त प्रकाशमयी यह मात्रा ब्रह्म स्वरूपा है। प्रणव की यह चतुर्थ मात्रा ही साम का चतुर्थ पाद है ॥ २ ॥

**अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुप्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमुपसंहतम् ॥ ३ ॥**

यह अनुष्टुप् मंत्र कुल बत्तीस अक्षरों का है। जिसमें प्रथम चरण आठ अक्षरों का एवं शेष तीनों चरण भी आठ-आठ अक्षरों के ही होते हैं। सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि का केन्द्र यह अनुष्टुप् मंत्र ही है। उसी से उत्पत्ति एवं उसी से संहार भी होता है ॥ ३ ॥

**तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्वत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन संयुज्यते द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्ता वा इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति ॥ ४ ॥**

पाँच अंगों वाला यह अनुष्टुप् मंत्र है। चारों चरणों के साथ पाँचवाँ प्रणव भी उसका एक अंग है। प्रणव के साथ ही यह मंत्र पूरा होता है। मानव शरीर के भी पाँच अंग बताये गये हैं—हृदय, सिर, शिखा, बाहुमूल और मस्तक। इस प्रकार हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, अस्त्राय फट् के साथ अनुष्टुप् के प्रत्येक अंगों का संयोग करना चाहिए। मंत्र के प्रथम भाग के साथ शरीर का प्रथम अंग का संयोग, द्वितीय के साथ द्वितीय, तृतीय के साथ तृतीय, चतुर्थ के साथ चतुर्थ एवं पंचम भाग के साथ पंचम अंग का संयोग करे। सम्पूर्ण लोक जिस प्रकार आपस में सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार से उक्त अंग भी परस्पर सम्बद्ध हैं ॥ ४ ॥

**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्पत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति । अक्षराणां न्यासमुप-दिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ५ ॥**

यह ओंकार सम्पूर्ण विश्व है। इसलिए इस अनुष्टुप् मंत्र के हर एक अक्षर के पहले और पीछे 'ॐकार' का सम्पुट लगाकर न्यास करना चाहिए। ब्रह्मवादी लोग इस प्रकार प्रत्येक अक्षर के साथ अंगन्यास करने के लिए कहते हैं ॥ ५ ॥

**तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशमं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥**

इस अनुष्टुप् का प्रथम पद 'उग्रम्' मंत्र का प्रथम स्थान है, यह जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। मंत्र में 'वीरम्' का द्वितीय स्थान है। 'महाविष्णुम्' पद का तृतीय स्थान है। 'ज्वलन्तम्' का चतुर्थ स्थान है। 'सर्वतोमुखम्' का पंचम स्थान है। 'नृसिंहम्' का षष्ठ स्थान है। 'भीषणम्' का सप्तम स्थान है। 'भद्रम्' का अष्टम स्थान है। 'मृत्युमृत्युम्' का नवम स्थान है। 'नमामि' का दशम स्थान है। 'अहम्' का एकादश स्थान है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥

[यहाँ दिये गये संकेतानुसार आनुष्टुभ मन्त्र इस प्रकार बनेगा- ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ॥]

एकादशपदा वा अनुष्टुभवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुपसंहतं तस्मात्सर्वा-  
नुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ७ ॥

ग्यारह पदों वाली यह अनुष्टुप् वृत्ति है। सारे विश्व की रचना इसके द्वारा ही हुई है तथा उपसंहार भी इसी के द्वारा होता है। यह अनुष्टुप् की ही महिमा है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति । स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्व-  
महिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युदगृह्णात्यजस्वं सृजति विसृजति  
वासयत्युदग्राह्यत उदग्राह्यते । स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्तुमुग्रम् । मृडा जरिते  
रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः तस्मादुच्यत उग्रमिति ॥ ८ ॥

प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी से देवताओं ने प्रश्न किया-'उग्रम्' विशेषण नृसिंह भगवान् के लिए क्यों कहा गया है। प्रजापति ने कहा-नृसिंह भगवान् अपनी महिमा से सभी लोकों, देवताओं, सब भूतों और सभी आत्माओं का निरन्तर उत्थान करते रहते हैं। सबकी सृष्टि करते, सबका विस्तार करते तथा संहार भी वे ही करते हैं। पूरी सृष्टि को अपने में लीन कर लेते हैं। वे ही संसार पर अनुग्रह करते तथा दूसरों से भी करते हैं, उनको इसीलिए उग्र कहा जाता है। ऋग्वेद में इस विषय में कहा गया है कि जिनकी प्रार्थना श्रुतियाँ करती हैं, उन्हीं परमात्मा की स्तुति करो। परमात्मा हृदय रूपी गुफा में नव तारुण्य रूप में शोभायमान हैं। वे भगवान् सिंहरूप धारण करने के बाद भी भक्तों के लिए विकराल नहीं हैं। वे सर्वत्र सबके पास पहुँचकर सब पर अनुग्रह करने वाले हैं। साधकों का कल्याण और दुष्टों का संहार करने के कारण उन्हें उग्र कहा जाता है। हे नृसिंह भगवन्! हम आपकी प्रार्थना करते हैं, आप हमारा कल्याण करें। हमारे ऊपर आपकी भयंकर सेना आक्रमण न करे, कहीं अन्यत्र चली जाये। इन्हीं कारणों से उन्हें 'उग्रम्' कहा गया है ॥ ८ ॥

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति । यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि  
भूतानि विरमति विरामयत्यजस्वं सृजति विसृजति वासयति । यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो  
युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति ॥ ९ ॥

देवताओं ने पुनः प्रश्न किया- प्रभो! 'वीरम्' विशेषण भगवान् नृसिंह को क्यों दिया गया है? ब्रह्माजी बोले- वे अपनी महिमा से सभी लोकों, सभी आत्माओं, सभी देवताओं और सभी भूतों के साथ अनेक प्रकार से क्रीड़ा करते हैं, क्रीड़ा (का आनन्द प्राप्त) कराते हैं, सतत सबको उत्पन्न करते, सभी का उपसंहार करते एवं सभी को स्थिरता प्रदान करते हैं। (ऋग्वेद की ऋचाओं में भी कहा गया है कि) भगवान् नृसिंह भक्तों पर अविलम्ब कृपा करने वाले हैं। वे वीर हैं, कर्मठ रूप होकर सोमयाग में पाषाण युक्त होकर अध्वर्यु आदि के रूप में सोम अभिषुत करने वाले हैं। देवताओं को उत्पन्न करने की कामना भी वही करते हैं। इस कारण उन्हें 'वीरम्' कहा जाता है ॥ ९ ॥

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति । यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः  
सर्वाणि भूतानि व्याप्रोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्यासं  
व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयते । यस्मात्र जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।  
प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतीर्षि सचते स षोडशीं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥ १० ॥

(देवताओं ने प्रश्न किया- भगवन्! यह बताने की कृपा करें कि भगवान् नृसिंह को) 'महाविष्णुम्' नाम से क्यों सम्बोधित करते हैं। (प्रजापति बोले) सभी भूतों, सभी देवों, सभी लोकों में भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से समान रूप से व्याप्त हैं। जिस प्रकार से मांस-पिण्ड में चिकनाई व्याप्त है, वैसे ही वे सभी अवयवों समेत पूरे शरीर में व्याप्त हैं। यह संसार उन्हीं से ओत-प्रोत होने के कारण प्रलयकाल में उन्हीं में लीन हो जाता है। (इनकी महिमा का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है-) जो प्रजापालक, प्रजा द्वारा उपासना किये जाने वाले, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त प्रजापालक हैं और जिनके समान कोई हुआ ही नहीं, वे भगवान् नृसिंह विविध ज्योतियों में सोलह कलाओं से युक्त होकर व्याप्त रहते हैं, इसी कारण उन्हें 'महाविष्णुम्' कहा गया है ॥ १० ॥

**अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वाल्यते ज्वालयते । सविता प्रसविता दीपो दीपयन्दीप्यमानः ज्वलज्ज्वलिता तपन्वितपन्तसंतपत्रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ॥ ११ ॥**

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया) कि भगवान् नृसिंह के लिए 'ज्वलंतम्' का प्रयोग क्यों होता है? (ब्रह्माजी बोले-) सभी भूतों, सभी देवों और सभी आत्माओं को भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से प्रकाशित करते एवं स्वयं प्रकाशित रहते हैं। समस्त ज्योतियाँ एवं सम्पूर्ण लोक उनके ही प्रकाश से प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करते हैं (भगवान् नृसिंह की महिमा का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखा है कि) वे ही सविता के रूप में प्रकाश फैलाने वाले एवं प्रसविता के रूप में उत्पादन करने वाले सदैव प्रकाशमान रहते हैं। स्वयं प्रकाशित होते हुए दूसरों को प्रकाश पहुँचाते हैं। स्वयं तपते हुए दूसरों को भी तपाते हैं। स्वयं कान्तियुक्त होकर दूसरों को भी कान्तिमान् बनाते हैं। स्वयं परम कल्याण स्वरूप होकर सुशोभित होते एवं सबको सुशोभित करते हैं। इसी कारण उन्हें 'ज्वलंतम्' कहा गया है ॥ ११ ॥

**अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति । यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वगतस्तिष्ठति । एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः । यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखमिति तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति ॥ १२ ॥**

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया-हे प्रजापति!) भगवान् नृसिंह के लिए 'सर्वतोमुखम्' का प्रयोग क्यों हुआ है? (ब्रह्माजी ने कहा-) वे अपनी महिमा से सभी भूतों, सभी आत्माओं, सभी देवताओं और सभी लोकों को, स्वयं इन्द्रियों से परे होने पर भी सबको सब ओर से देखते, सुनते, ग्रहण करते और सभी तरफ गमन करते हुए सभी स्थानों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। (ऋग्वेद में भी कहा गया है कि) सृष्टि के आदि में जो भगवान् स्वयं एक ही थे, वे ही इस विश्व के रूप में प्रकट हो गये। वे भगवान् ही विश्व के उत्पादक, पालक एवं संहारक हैं, ऐसे 'सर्वतोमुख' भगवान् को नमस्कार है। इसी कारण उन्हें 'सर्वतोमुखम्' कहा गया है ॥ १२ ॥

**अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति । यस्मात्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च । तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्वूपं यदक्षरं भद्रति । प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा । तस्मादुच्यते नृसिंहमिति ॥ १३ ॥**

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया-) 'नृसिंहम्' यह विशेषण क्यों दिया गया है? (ब्रह्माजी ने कहा-) सभी

जीवों में मनुष्य सबसे अधिक पराक्रमी और श्रेष्ठ है। सिंह को भी सबसे अधिक पराक्रमी कहा जाता है। इस कारण भगवान् को नर और सिंह दोनों विशेषताओं से युक्त कहा गया। भगवान् का यह स्वरूप विश्व के लिए कल्याणकारी, सनातन एवं अविनाशी है। (वेद भगवान् ने कहा है-) वे भगवान् विष्णु सिंह का रूप धारण कर अपने भक्तों द्वारा स्तुत्य होते हैं। अनेक प्रकार की शक्ति प्राप्त करने के लिए भक्तजन प्रार्थना करते हैं। अपने भक्तों के लिए सिंह रूप में होने पर भी वे भयंकर नहीं होते। भगवान् नृसिंह पृथ्वी और पर्वत पर सब जगह विचरण करते हैं। वे सभी रूपों में स्थित होते हैं। स्तोताओं की वाणी में भी वे ही निहित हैं। उनके तीन डगों में तीनों लोक समाहित हो जाते हैं। इन कारणों से उनको 'नृसिंहम्' कहते हैं ॥ १३ ॥

**अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति । यस्माद्द्रीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति । भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति तस्मादुच्यते भीषणमिति ॥ १४ ॥**

(देवताओं ने प्रश्न किया-) हे देव! यह बतायें कि इस मंत्र में भगवान् के लिए 'भीषणम्' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? (प्रजापति बोले कि) भगवान् के भीषण रूप से सभी लोक, सभी देवता एवं सभी भूत प्राणी भयभीत हो जाते हैं, भय से काँपते हुए इधर-उधर भागने लगते हैं; परन्तु स्वयं भगवान् किसी से नहीं डरते। (वेद में कहा गया है-) इन भगवान् के भय से वायु देवता प्रवहमान रहते हैं। समय पर भगवान् सूर्य प्रकाशित होते हैं। अग्निदेव और इन्द्र भी इनके ही भय से अपने कर्तव्य का पालन करते हैं तथा पाँचवें मृत्यु देवता इनके ही भय से सक्रिय रहते हैं। इस कारण भगवान् को 'भीषणम्' कहा गया है ॥ १४ ॥

**अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति । यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति । रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः । भद्रं कर्णोभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैररङ्गैस्तुष्टुवाः सस्तनूभिर्वशेम देवहितं यदायुः । तस्मादुच्यते भद्रमिति ॥ १५ ॥**

(देवताओं ने पूछा कि हे देव! यह बतायें कि) भगवान् नृसिंह को 'भद्रम्' क्यों कहा गया है? (प्रजापति ने कहा) कि भगवान् भद्र अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। स्वयं कान्तिमान् होकर दूसरों को भी कान्तिमान् बनाते एवं स्वयं सुशोभित होकर दूसरों को भी शोभायमान करते हैं। (वेद में कहा गया है-) याजकों के पोषक है देवताओ! हम सदैव कल्याणकारी वचनों को ही अपने कानों से सुनें, नेत्रों से सदैव कल्याणकारी दृश्य ही देखें। हे देव! परिपुष्ट अंगों से युक्त सुदृढ़ शरीर वाले हम आपकी वन्दना करते हुए पूर्ण आयु तक जीवित रहें। जिससे हम भगवान् का काम कर सकें। इसीलिए भगवान् को 'भद्रम्' कहा गया है ॥ १५ ॥

**अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति । यस्मात्स्वमहिमा स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति । य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य छायामृतं यो मृत्युमृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम । तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥ १६ ॥**

(उन देवताओं ने प्रश्न किया कि हे देव!) इस मंत्रराज में 'मृत्युमृत्युम्' पद क्यों आया है? (प्रजापति ने कहा-) भगवान् अपनी महिमा से अपने उपासकों द्वारा स्मरण किये जाने पर उपासकों की मृत्यु एवं अपमृत्यु प्रदान करने वाला है, जिसकी छत्र-छाया(आश्रय)में रहकर अमरत्व का सुख तथा जिससे विमुख होकर मृत्यु-जन्य दुःख प्राप्त होता है, सन्मार्गागामी सभी देवगण जिसकी उत्तम शिक्षाओं का पालन करते हैं। उस सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के लिए हम आहुतियाँ समर्पित करते हैं। इसी आधार पर उन्हें 'मृत्यु-मृत्युम्' कहते हैं ॥ १६ ॥

अथ कस्मादुच्यते नमामीति । यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च । प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मनं वदत्युक्ष्यम् । यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे । तस्मादुच्यते नमामीति ॥ १७ ॥

(देवताओं ने पूछा कि) इस आनुष्ठभ में 'नमामि' पद क्यों आया है? (प्रजापति ने कहा) भगवान् नृसिंह की स्तुति सभी देवता, ब्रह्मज्ञानी पुरुष एवं मुमुक्षु जन करते हैं, इससे वे सबके स्तुत्य हैं । (वेद भगवान् कहते हैं-) ब्रह्माजी जिन भगवान् के लिए स्तुति करते हैं, जो ब्रह्मा और वेदों के आश्रयभूत हैं, इन्द्र, वरुण, मित्र एवं अर्यमा आदि देवों ने जिनको अपना इष्ट बनाया है, उन भगवान् के प्रति नमस्कार है । इसी कारण 'नमामि' शब्द आया है ॥ १७ ॥

अथ कस्मादुच्यते ऽहमिति । अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः । यो मा ददाति स इदेवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमद्ग्निः । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीः । य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ १८ ॥

(देवता पुनः पूछने लगे-हे देव!) इस मंत्र में 'अहम्' पद क्यों आया है? (ब्रह्माजी ने कहा-) श्रुति का वचन है 'मैं इस सृष्टिरूपी सनातन यज्ञ से पहले उत्पन्न हुआ हूँ । अमृत की उत्पत्ति का स्थान मैं ही हूँ । अन्न मैं ही हूँ । मैं समस्त ज्योतियों एवं शक्तियों का प्रदाता हूँ । जो मुझे सत्पात्रों को प्रदान करते हैं, उससे सभी का कल्याण होता है । जो स्वयं ही अन्न का उपभोग करते हैं, मैं उन्हें खा जाता हूँ ।' सच्चे साधक वे हैं, जो इस प्रकार से जानते हैं । यही महान् उपनिषद् (सात्रिध्य या अनुभूति से प्राप्त महान् ज्ञान) है ॥ १८ ॥

## ॥ तृतीयोपनिषद् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्ठभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं नो ब्रूहि भगव इति ॥ १ ॥

एक समय देवगणों ने प्रजापति ब्रह्माजी से पूछा, हे देव! भगवान् नृसिंह के आनुष्ठभ मंत्र की 'शक्ति' और उसके 'बीज' के बारे में बताने की कृपा करें ॥ १ ॥

स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति । तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्रुते ॥ २ ॥

तब प्रजापति ने कहा-नृसिंह भगवान् की सनातनी शक्ति माया के द्वारा ही यह संसार रचा गया है, वे ही इसकी रक्षा करती हैं एवं उन्हीं के द्वारा सृष्टि का विनाश होता है । इस कारण भगवान् की यह माया ही मंत्रराज की शक्ति है । इस माया को जान लेने पर व्यक्ति पापों से मुक्त हो जाता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है । भवसागर से पार हो जाता है तथा इस लोक में समस्त प्रकार की समृद्धि प्राप्त करता है ॥ २ ॥

मीमांसने ब्रह्मवादिनो हस्त्वा दीर्घा प्लुता चेति । यदि हस्त्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति ॥ ३ ॥

ब्रह्मज्ञानी चिन्तन करते हैं कि नृसिंह भगवान् की मायारूपी शक्ति हस्त्वा, दीर्घा या प्लुत है? यदि यह माया शक्ति हस्त्वा है, तो उस साधक के माया रूप में जानने से उसके समस्त पापों का विनाश हो जाता है और अमृतत्व

प्राप्त कर लेता है। यदि साधक दीर्घ रूप में जानता है, तो वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। यदि प्लुत रूप में जानता है, तो इस रूप में जानने से साधक ज्ञानवान् होकर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

**तदेतदृषिणोक्तं निर्दर्शनं—स ई पाहि य ऋग्नीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपामिहायुषे शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥**

इस विषय में ऋषि कहते हैं—हे माया शक्ति रूप बिन्दुमय स्वर! मैं संसार सिंधु से पार होने के लिए सरल भावयुक्त, प्रयत्नशील होकर उपयोगी साधनों के साथ दीर्घयुष्म प्राप्त करने के लिए भगवान् की श्रीशक्ति (भगवती लक्ष्मी), शिवशक्ति (अम्बिका), ब्राह्मीशक्ति (सरस्वती), षष्ठीशक्ति (स्कन्दशक्ति) तथा इन्द्रसेना एवं ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली विद्याशक्ति की शरण में हूँ। आप सभी शक्तियों के साथ मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

**सर्वेषां वा एतद्वृत्तानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशां प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात् ॥ ५ ॥**

आकाश ही समस्त प्राणियों का आश्रयभूत है। समस्त प्राणि—समुदाय की उत्पत्ति आकाश से ही होती है। आकाश से उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और आकाश में ही विलीन हो जाते हैं, इसलिए प्राणियों का सृष्टि बीज आकाश ही है ॥ ५ ॥

**तदेतदृषिणोक्तं निर्दर्शनं—हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्बोता वेदिषदतिथिरुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् । य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ ६ ॥**

इस विषय में ऋषियों ने कहा है कि स्वयं प्रकाश पुरुषोत्तम भगवान् परमधाम में स्थित हैं। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले वसु वे ही हैं। अतिथि के रूप में वे ही घरों में उपस्थित होते हैं। यज्ञवेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि एवं आहुति देने वाले होता भी वे ही हैं। भूलोक में, इससे श्रेष्ठ स्वर्ग लोक में तथा सबसे श्रेष्ठ सत्यलोक में भी उन्हीं का निवास है। आकाश में उन्हीं का निवास है। सबसे महान् परम सत्य के रूप में पृथ्वी, जल, पर्वत तथा सत्कर्मों में वे ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार जानने से पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है ॥ ६ ॥

## ॥ चतुर्थोपनिषद् ॥

**देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्वान्नो ब्रूहि भगव इति ॥ १ ॥**

देवताओं ने प्रजापति ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया—हे देव! मंत्रराज आनुष्टुभ के अंगभूत मंत्रों को बताने की कृपा करें ॥ १ ॥

**स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ २ ॥**

तब ब्रह्माजी ने कहा— ३० कार(प्रणव), सावित्री(गायत्री), यजुर्लक्ष्मी तथा नृसिंह गायत्री को मंत्रराज का अंगभूत जानना चाहिए। जो इनको जानता है, वह भौतिक ऐश्वर्य के साथ अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्विष्वदिति सर्वमोक्तार एव यच्चान्यत्रिकालातीतं तदप्योक्तार एव। सर्वं होतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ३ ॥

३० अविनाशी है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् ओंकार की महिमा से ही चल रहा है। इस ओंकार से भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान सभी सम्बन्धित हैं। तीनों कालों से परे जो कुछ है, वह भी ओंकार ही है। यह सब ब्रह्ममय जगत् ओंकार रूप है। परमात्मा रूप भगवान् नृसिंह ब्रह्म ही हैं। सर्वात्मस्वरूप भगवान् नृसिंह के चार पाद हैं ॥ ३ ॥ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

जिसका निवास स्थान जाग्रत् अवस्था और उससे व्यास यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् है और बाह्य जगत् में जो अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं; भूः, भुवः आदि सातों लोक जिनके अंग के रूप में हैं; पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय ये उन्नीस जिनके मुख हैं; जो इस भौतिक जगत् के भोक्ता हैं; यह समस्त विश्व जिनका शरीर है तथा इसमें स्थित अंतर्यामी पुरुष होने के कारण जिनका नाम वैश्वानर है; वे वैश्वानर भगवान् पूर्णतम परमात्मा भगवान् नृसिंह के प्रथम पाद हैं ॥ ४ ॥

[ यहाँ सप्तांग का तात्पर्य-सप्त संख्यक द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथ्वी और आहवनीय अग्नि से है। उन्नीस मुख का तात्पर्य- ५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ प्राण तथा ४ अन्तःकरण से है । ]

**स्वप्रस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ५ ॥**

जिनका निवास स्थान स्वप्रावस्था और उससे व्यास यह सूक्ष्म जगत् है, जिनका ज्ञान आंतरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत् में पूर्णतया व्यास है, जिनके सातों अंग हैं, जिनके उन्नीस मुख हैं, जो सूक्ष्म जगत् में व्यास उसके भोक्ता एवं पालक हैं, वे प्रकाश पुरुष हिरण्यगर्भ भगवान् नृसिंह के द्वितीय पाद हैं ॥ ५ ॥

**यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकी-भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः । एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥**

जिस स्थिति में सोया व्यक्ति न कोई कामना करता है, न कोई स्वप्न देखता है, वह सुषुप्तावस्था है। उस सुषुप्ति अवस्था और उससे उपलक्षित समस्त विश्व की प्रलयावस्था जिनका स्थान है, एक रूप में ही जिनकी स्थिति है, सर्वांगपूर्ण विज्ञान ही जिनका रूप है, जो स्वयं आनन्दमय हैं और चिन्मय प्रकाश रूप मुख वाले हैं, जो अपने स्वरूपभूत आनन्द के भोगने वाले हैं; वे प्राज्ञ पुरुष(नृसिंह के) तीसरे पाद हैं। वे परमात्मा सब कुछ जानने वाले, सर्वांतर्यामी, समस्त जगत् के कारण, सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण वे प्रभु ही हैं ॥ ६ ॥

**नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम्-चिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥**

जिसको स्थूल का ज्ञान नहीं है, न सूक्ष्म का ही ज्ञान है तथा जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों का ज्ञाता नहीं है; जिसे ज्ञाता या अज्ञानी कुछ भी नहीं कहा जा सकता, जो प्रज्ञान का भी घनीभूत रूप नहीं है; जो दिखाई नहीं देता, जिसे न पकड़ा जा सकता, न व्यवहार में ही लाया जा सकता है तथा जो निराकार, अचिन्त्य अर्थात् अनुभूति रहित एवं अवर्णनीय है; जिसकी अनुभूति आत्मसत्ता के रूप में ही की जा सकती है, जो कल्याणकारी, प्रपञ्चरहित, सर्वथा शान्त, अद्वितीय तत्त्व है; वही भगवान् नृसिंह का चतुर्थ पाद है, ऐसा ज्ञानी पुरुष मानते हैं। वह आत्मा (परमात्मा) है, वह जानने योग्य है ॥ ७ ॥

**अथ सावित्री गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तथा सर्वमिदं व्यासं घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि । एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते ॥ ८ ॥**

अब सावित्री मंत्र के बारे में बताते हैं-यह सावित्री-मंत्र यजुर्मंत्र के रूप में गायत्री छंद से संयुक्त होकर कहा गया है। यह सारा विश्व उसी से ओत-प्रोत है। (घृणः सूर्यः आदित्यः मंत्र में) घृणः में दो अक्षर, सूर्यः (व्यूहन क्रिया से सूरयः) में तीन अक्षर और आदित्यः में तीन अक्षर हैं, इस प्रकार आठ अक्षरों वाला यह सावित्री मंत्र श्री(विभूति) से विभूषित है। इस मंत्र को इस तरह से जानने वाला लक्ष्मी के द्वारा विभूषित होता है ॥ ८ ॥

**तदेतदृचाभ्युक्तं—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति ॥ ९ ॥**

ऐसा ऋचा के द्वारा कहा गया है—ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वयं प्रकाशित परमाकाश रूप अविनाशी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। जहाँ पर सभी देवता निवास करते हैं। उन स्वप्रकाश परमात्मा को जो साधक नहीं जानते, वे वेद पाठ से क्या लाभ प्राप्त कर लेंगे? जो उपासक उस ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं, वे आनन्द पूर्वक परम धाम में निवास करते हैं ॥ ९ ॥

**न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति यः सावित्रं वेदेति ॥ १० ॥**

सावित्री मंत्र को जो इस तरह से जान लेता है, ऋग्, यजुः और सामवेद के मंत्रों की उसे आवश्यकता नहीं रहती ॥ १० ॥

**ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तत्रो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति ॥ ११ ॥**

जो सर्व ऐश्वर्यमयी देवी भूःलोक की लक्ष्मी, भुवः लोक की लक्ष्मी तथा स्वः लोक की लक्ष्मी हैं। जिनका नाम कालकर्णी है, वे महालक्ष्मी हमें श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करें। यह यजुर्वेदोक्त गायत्री महालक्ष्मी की गायत्री है, जो चौबीस अक्षरों वाली है ॥ ११ ॥

**गायत्री वा इदं सर्व यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्रुते ॥ १२ ॥**

यह जो कुछ भी दृश्य जगत् है, निश्चय ही गायत्रीस्वरूप है। इन महालक्ष्मी यजुर्वेदमयी महारूपिणी गायत्री को जो जान लेता है, वह महान् ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

**ॐ नृसिंहाय विद्धहे वज्रनखाय धीमहि । तत्रः सिंहः प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति य एवं वेद निदानवान्भवति ॥ १३ ॥**

हम नृसिंह भगवान् को (गुरु या शास्त्र से) जानते हैं, उन वज्र सदृश नख वाले (परमात्मा) को हम हृदय में धारण करते हैं, वे भगवान् नृसिंह हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करें। देवताओं और वेदों की कारणभूता यही नृसिंह गायत्री है। जो इस तरह जान लेता है, वह भगवान् को प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

**देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तत्रो ब्रूहि भगवन्निति ॥ १४ ॥**

प्रजापति ब्रह्माजी से देवताओं ने पूछा—हे प्रजापति! आप हमें यह बतायें कि भगवान् नृसिंह किन मंत्रों से प्रार्थना करने पर प्रसन्न होते हैं ॥ १४ ॥

**स होवाच प्रजापतिः ३० यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १ ॥ ( यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ ) ...यश्च विष्णुः ... ॥ २ ॥ ..... यश्च महेश्वरः ... ॥ ३ ॥ ..... यश्च पुरुषः ..... ॥ ४ ॥ ..... यश्चेश्वरः ॥ ५ ॥ ..... या सरस्वती ..... ॥ ६ ॥ ..... या श्रीः ..... ॥ ७ ॥ ..... या गौरी ..... ॥ ८ ॥ ..... या प्रकृतिः ..... ॥ ९ ॥ ..... या विद्या ..... ॥ १० ॥ ..... यश्चोक्तारः ..... ॥ ११ ॥ ..... याश्वतस्मोऽर्धमात्राः ..... ॥ १२ ॥ ..... ये वेदाः साङ्घाः सशाखाः सेतिहासाः ..... ॥ १३ ॥ ..... ये पञ्चाग्रयः ..... ॥ १४ ॥ ..... या: सप्त महाव्याहृतयः ..... ॥ १५ ॥ ..... ये चाष्टौ लोकपालाः ..... ॥ १६ ॥ ..... ये चाष्टौ वसवः ..... ॥ १७ ॥ ..... ये चैकादश रुद्राः ..... ॥ १८ ॥ ..... ये च द्वादशादित्याः ..... ॥ १९ ॥ ..... ये चाष्टौ ग्रहाः ..... ॥ २० ॥ ..... यानि च पञ्च महाभूतानि ..... ॥ २१ ॥ ..... ॥**

यश्च कालः ..... ॥ २२ ॥ ..... यश्च मनुः ..... ॥ २३ ॥ ..... यश्च मृत्युः ..... ॥ २४ ॥ ..... यश्च  
यमः ..... ॥ २५ ॥ ..... यश्चान्तकः ..... ॥ २६ ॥ ..... यश्च प्राणः ..... ॥ २७ ॥ ..... यश्च सूर्यः  
..... ॥ २८ ॥ ..... यश्च सोमः ..... ॥ २९ ॥ ..... यश्च विराट् पुरुषः ..... ॥ ३० ॥ ..... यश्च जीवः  
..... ॥ ३१ ॥ ..... यश्च सर्वम् ..... ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं  
देवं स्तुवध्वम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर प्रजापति ने कहा-मंत्रराज आनुष्टुभ मंत्र के प्रत्येक अक्षर-३२ अक्षर से एक स्तुति मंत्र प्रकट हुआ है, इन्हीं मंत्रों से स्तुति करनी चाहिए ॥ १५ ॥

[ यहाँ प्रजापति ने नृसिंह भगवान् की स्तुति के रूप में बत्तीस मन्त्र प्रकट किये हैं। नृसिंह भगवान् को अनुष्टुप्मय कहा गया है ( देखें-इसी उपनिषद् के १.२ की पाद टिप्पणी )। सृष्टि के उद्भव-विकास का उन्हें आधारभूत तत्त्व स्वीकारा गया है। यहाँ उन्हीं बत्तीस घटकों को आधार मानकर नृसिंह भगवान् की स्तुति की गई है। 'बत्तीस' मन्त्रों का विशेष प्रयोजन अनुष्टुप्छन्द के बत्तीस वर्ण होने से है। बत्तीस वर्णों वाले अनुष्टुप्छन्द के बत्तीस मन्त्रों द्वारा अनुष्टुप्मय नृसिंह भगवान् की स्तुति किया जाना और उनकी बत्तीस शक्ति धाराओं से तादात्म्य स्थापित करके लाभान्वित होना-समीचीन ही है । ]

ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं  
पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषद् ॥ १६ ॥

इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। इसलिए जो नित्य प्रति इन मंत्रों से स्तुति करता है, वह प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर उनके विराट् रूप को देख लेता है और अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस तरह जानने वाले को वही ( उक्त ) फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है ॥ १६ ॥

## ॥ पञ्चमोपनिषद् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि  
भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति ॥ १ ॥

एक घार देवताओं ने श्रद्धापूर्वक प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि हे भगवन्! मंत्रराज आनुष्टुभ का जो 'महाचक्र' नामक चक्र है, उसके बारे में बताने की कृपा करें। यह महाचक्र सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करता है तथा मुक्ति दाता है, ऐसा योगी लोग कहते हैं ॥ १ ॥

[ व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि को अनुशासित ढंग से संचालित करने के लिए जो व्यवस्था चक्र बनाया गया है, उसे परमपुरुष का महाचक्र कहना उचित है। नृसिंह षट्चक्रोपनिषद् में चक्रों के विभिन्न रूप वर्णित हैं । ]

स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्वडरं भवति षट्पत्रं चक्रं  
भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिः संमितं भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां वा एतेऽराः प्रतिष्ठिता  
मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥ २ ॥

प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने कहा- छः अक्षरों से युक्त यह सुदर्शन नामक महाचक्र है। छः ऋतुएँ इसमें छः अरों के समान हैं। यह अरे इसकी नाभि में प्रतिष्ठित होते हैं। मायारूप नेमि से यह सम्पूर्ण चक्र आवेष्टित है। आत्मा का स्पर्श माया नहीं करती है, इसलिए बाहर से ही वह षट्दल चक्र माया द्वारा घिरा हुआ है ॥ २ ॥

अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं  
भवति क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा संपद्यते ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् अष्टाक्षर युक्त अष्टदल चक्र आठ अरों वाला चक्र बनता है। गायत्री के एक पद में आठ अक्षर होते हैं, इसलिए इस चक्र के अरों की समता गायत्री के आठ अक्षरों से होती है। इसे भी माया ने बाहर से आवृत कर रखा है। यह माया हर क्षेत्र में व्याप्त रहती है ॥ ३ ॥

**अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै जगती जगत्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥ ४ ॥**

फिर द्वादशाक्षरी चक्र बनाते हैं, इस द्वादशाक्षरी चक्र की तुलना जगती छन्द से करते हैं, जिसका एक चरण द्वादश अक्षर का होता है। यह चक्र भी बाहर से ही माया द्वारा आवृत होता है ॥ ४ ॥

**अथ घोडशारं घोडशपत्रं चक्रं भवति घोडशकलो वै पुरुषः पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण संमितं भवति मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥ ५ ॥**

तत्पश्चात् घोडशार चक्र बनाते हैं, जिसमें सोलह दल होते हैं, ये घोडश कलायें भगवान् नृसिंह की सोलह कलाओं के रूप में होती हैं। भगवान् सोलह कलायुक्त हैं, इस कारण इस चक्र को साक्षात् भगवान् ही समझना चाहिए। यह चक्र भी माया द्वारा बाहर से ही आवेष्टित है ॥ ५ ॥

**अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुभवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥ ६ ॥**

तत्पश्चात् बत्तीस दलों वाला चक्र बत्तीस अरों के रूप में होता है। बत्तीस अक्षरों वाला अनुष्टुप् छन्द होता है। प्रत्येक अक्षर में एक अरे की भावना करनी चाहिए। माया के द्वारा यह भी बाहर से ही आवेष्टित होता है ॥

**अरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति वेदा वा एतेऽराः पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति छन्दांसि वै पत्राणि ॥ ७ ॥**

अरों के द्वारा यह भलीप्रकार आबद्ध होता है। इस चक्र के अरे वेद हैं, इसके पत्ते छन्द हैं, यह चक्र छंदरूपी पत्तों से ही सब तरफ घूमता है ॥ ७ ॥

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्वत्ति षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति। घोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सविन्दुकाः घोडश स्वरा भवन्ति। द्वात्रिंशत्पु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति। तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं महाचक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृद्भयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयमृतमयं भवति। तस्य पुरस्ताद्वस्व आसते रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद्विश्वेदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः ॥ ८ ॥

यह सुदर्शन नामक 'महाचक्र' बत्तीस दलों के कारण ही विख्यात है। उसके मध्य में स्थित नाभि स्थान में भगवान् नृसिंह से सम्बन्धित एकाक्षरी तारक मंत्र 'ॐ' का न्यास करना चाहिए। यह तारक मंत्र एकाक्षर का ही है। चक्र के छः पत्रों में 'सहस्रार हुं फट्' इस छः अक्षरों वाले सुदर्शन मंत्र का न्यास करना चाहिए। चक्र के अष्टदलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) का स्थान है (न्यास करें)। द्वादशाक्षर वासुदेव मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) की चक्र के द्वादश दलों में स्थापना करनी चाहिए। घोडश दलों में वर्णमाला के प्रारम्भ के स्वर और बिन्दु सहित सोलह अक्षरों का न्यास करना चाहिए। चक्र के बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षर वाले मन्त्रराज आनुष्टुभ का न्यास करें। यह सुदर्शन नामक महाचक्र समस्त मनोभिलषित कार्य पूरे करने वाला,

मुक्ति का द्वार, ऋक्, यजुः, साम वेदरूप, साक्षात् परब्रह्म और अमृतमय है। अष्टवसु इसके पूर्व भाग में, एकादश रुद्र दक्षिण भाग में, द्वादश आदित्य पश्चिम में, विश्वेदेवा उत्तर में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर नाभि में तथा सूर्य और चन्द्रमा पार्श्व भाग में स्थित होते हैं ॥ ८ ॥

[ यहाँ जिस सुदर्शन महाचक्र के निर्माण की प्रक्रिया वर्णित है, उसका रेखा चित्र-यन्त्र भी बनता है। साधना-अनुष्ठान के अन्तर्गत मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र का उल्लेख मिलता है। इन यन्त्रों को धारण करने का विशेष लाभ बताया गया है। ]

**तदेतदृचाभ्युक्तं—** ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः । यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समाप्त इति ॥ ९ ॥

वेद की ऋचा कहती है— परमाकाश रूप अविनाशी ( भगवान् नृसिंह ) में सभी वेद स्थित हैं। सभी देवता भी उन्हीं में स्थित हैं। उन परमेश्वर ( भगवान् नृसिंह एवं उनके महाचक्र सुदर्शन ) को जो नहीं जानता, उसे ऋग्वेदादि वेदाध्ययन से कोई लाभ नहीं। ( भगवान् नृसिंह एवं उनके चक्र को ) जानने वाला साधक श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

**तदेतसुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोद्घं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बधीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छृङ्खल्या यां कांचिद्ग्रां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥ १० ॥**

यदि कोई बालक अथवा युवा इस सुदर्शन नामक महाचक्र की जानकारी प्राप्त कर लेता है, वह महानता प्राप्त कर सबका गुरु हो जाता है। वह सभी मन्त्रों का उपदेष्टा बन जाता है। इस यंत्र का पूजन और हवन, मंत्रराज आनुष्टुभ के द्वारा होता है। इस सुदर्शन नामक यन्त्र को राक्षसों के भय से मुक्त करने वाला तथा मृत्यु से तार देने वाला कहा गया है। गुरु द्वारा प्राप्त इस यंत्र को कण्ठ, बाँह या शिखा में धारण करे। सप्तद्वीपा पृथ्वी भी यदि दक्षिणा में इसके उपदेशक गुरु को दी जाये, तो कम है। इसलिए जितना बन पड़े, उतना श्रद्धायुक्त भूदान करना चाहिए ॥ १० ॥

**देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति ॥ ११ ॥**

देवताओं ने प्रजापति से पूछा— भगवन्! मंत्रराज आनुष्टुभ का क्या फल है? हमें यह बताने की कृपा करें।

**स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स भूरेषुपूतो भवति ॥ १२ ॥**

प्रजापति ने कहा—नियमित रूप से इस मंत्रराज का अध्ययन जप करने वाला अग्नितस्त स्वर्ण की तरह हो जाता है। सूर्य, चन्द्र एवं वायु के द्वारा भी वह पवित्र कर दिया जाता है। सत्य के द्वारा पवित्र होकर लोक एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र सहित सभी देवों द्वारा वह पवित्र हो जाता है। वह सभी के द्वारा पवित्र हो जाता है ॥ १२ ॥

**य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भूरेषुपूतो भवति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति ॥ १३ ॥**

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

वह पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या तथा वीर (भ्रातृ) हत्या से मुक्त हो जाता है। वह समस्त प्रकार की हत्याओं से मुक्त हो जाता है। वह संसार-सागर से पार हो जाता है। वह सबको पार कर देता है ॥१३॥

**य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवांस्तम्भयति स सर्वान्ग्रहांस्तम्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥ १४ ॥**

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और जल के प्रवाह की गति को अवरुद्ध कर देता है। वह देवताओं को स्तम्भित कर सकता है। वह सभी ग्रहों की गति को अवरुद्ध कर सकता है तथा विष भी स्तम्भित कर सकता है ॥१४॥

**य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स देवानाकर्षयति स यक्षानाकर्षयति स नागाना-कर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स मनुष्यानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति ॥ १५ ॥**

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह देवताओं, यक्षों, नागों, ग्रहों तथा सभी मनुष्यों को अपने समीप आकर्षित कर लेता है, वह सबको आकर्षित कर सकता है ॥१५॥

**य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूलोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वलोकं जयति स महलोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वाल्लोकाञ्जयति स सर्वाल्लोकाञ्जयति ॥ १६ ॥**

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह भूलोक, भुवः लोक, स्वः लोक, महः लोक, जनः लोक, तपः लोक और सत्यलोक को जीत लेता है। वह समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

**य एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्ष्येन यजते स घोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण यजते सोऽसोर्यामेण यजते सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥ १७ ॥**

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञ, उक्ष्य याग, घोडशी याग, वाजपेय यज्ञ, अतिरात्र यज्ञ, अप्तोर्याम याग और अश्वमेध यज्ञों का यजन कर लेता है अर्थात् सभी यज्ञों का फल प्राप्त कर लेता है। वह सभी क्रतुओं से यजन कर लेता है ॥१७॥

**य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गाथामधीते स नाराशंसीरधीते स प्रणवमधीते यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते स सर्वमधीते ॥ १८ ॥**

जो इस आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, उसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद के स्वाध्याय का फल प्राप्त होता है। उसे वेद के आंगिरस भाग के स्वाध्याय का फल मिलता है। उसे पुराण, कल्प गाथाओं, नाराशंसी और प्रणव के अध्ययन का फल प्राप्त होता है। जप करने वाला मानो सबका अध्ययन कर लेता है ॥१८॥

**अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थश-तमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमे-केन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वशिरः शिखाध्यापकेन तत्सममर्थर्वशिरः शिखाध्यापकशतमेकमेकेन तापनीयोपनिषदध्यापकेन तत्समं तापनीयोपनिषदध्यापकशत-मेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्समम् ॥ १९ ॥**

एक यज्ञोपवीतधारी सौ बिना यज्ञोपवीतधारी बालकों के समान होता है। एक वेदपाठी सदगृहस्थ ऐसे सौ ब्रह्मचारियों के समान होता है। एक वानप्रस्थ ऐसे सौ गृहस्थों के समान होता है। एक संन्यासी ऐसे सौ वानप्रस्थियों के समान होता है। एक रुद्रजापक ऐसे सौ संन्यासियों के समान होता है। एक अर्थर्वशिरस् एवं अर्थर्वशिख उपनिषद् का स्वाध्याय करने वाला ऐसे सौ रुद्रजापकों के तुल्य है। ऐसे सौ अर्थर्वशिरस् के पाठ करने वाले एक नारसिंह मंत्र का जप करने वाले के बराबर होते हैं ॥ १९ ॥

तद्वा एतत्परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥ २० ॥

भगवान् नारसिंह के मंत्रराज का साधक उस परमधाम को प्राप्त करता है, जहाँ पर वायु गमन नहीं करती, जहाँ पर सूर्य का ताप नहीं होता, जहाँ न चन्द्रमा का प्रकाश होता है, न तारे चमकते हैं; जिस स्थान पर अग्नि प्रज्वलित नहीं होती तथा जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं होता, जो दुःख रहित स्थान है, जो सदैव आनन्ददायी, परम आनन्ददायक, शान्त, शाश्वत, परम कल्याणकारी, ब्रह्मादि देवों द्वारा वन्दित, योगियों का परमलक्ष्य, परमपद है; जहाँ जाकर साधक इस संसार से मुक्त हो जाते हैं ॥ २० ॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्— तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्थते । विष्णोर्यत्परमं पदम् । तदेतन्निष्कामस्य भवति तदेतन्निष्कामस्य भवति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ २१ ॥

ऋग्वेद की ऋचा में भी कहा गया है— जिस प्रकार सामान्य नेत्रों से आकाश में स्थित सूर्यदेव को सहजता से देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वज्जन अपने ज्ञान चक्षुओं से विष्णुदेव के (देवत्व के परमपद को) श्रेष्ठ स्थान को देखते (प्राप्त करते) हैं। जागरूक विद्वान् स्तोतागण विष्णुदेव के उस परम पद को प्रकाशित करते हैं (अर्थात् जन सामान्य के लिए प्रकट करते हैं); जो ऐसा जानता है, ऐसे कामना रहित साधक को वह दिव्य पद प्राप्त होता है; यही महोपनिषद् है ॥ २१ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषद् ॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। यह उपनिषद् देवताओं और प्रजापति के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से प्रकट हुई है। एक बार देवों ने प्रजापति से 'नारसिंह चक्र' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, जिसका समाधान प्रजापति ने प्रदान किया। प्रजापति ने नारसिंह चक्र की संख्या 'छह' बताई। इसी आधार पर इस उपनिषद् की 'नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्' संज्ञा हुई। छहों चक्रों का नाम बताते हुए प्रजापति ने कहा- प्रथम आचक्र, द्वितीय सुचक्र, तृतीय महाचक्र, चतुर्थ सकललोक रक्षणचक्र, पंचम द्यूत चक्र और षष्ठ असुरान्तक चक्र है। तत्पश्चात् देवों ने तीन वलय और उनके भेदों-प्रभेदों की बात पूछी है, जिसे प्रजापति ने बड़ी स्पष्टता से उत्तर दिया है। पुनः देवों ने इन चक्रों को धारण करने के स्थान के विषय में प्रश्न पूछा, तब प्रजापति ने इनके धारण करने के स्थान तथा धारण करने के लाभ भी बताए हैं। अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

ॐ देवा ह वै सत्यं लोकमायंसं प्रजापतिमपृच्छन्नारसिंहचक्रनो ब्रूहीति । तान्प्रजापति-  
नारसिंहचक्रमवोचत् । षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति । यत्प्रथमं तच्चतुरं यद्द्वितीयं तच्चतुरं  
यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत्पञ्चष्ठं तदष्टारं तदेताति षडेव नारसिंहानि  
चक्राणि भवन्ति ॥ १ ॥

एक बार देवताओं ने सत्यलोक में पहुँचकर प्रजापति (ब्रह्माजी) से कहा-आप हमें नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। तदुपरान्त प्रजापति ने उन समस्त देवों को नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान किया, जो इस प्रकार है-नारसिंह चक्र की संख्या छः होती है। प्रथम चक्र चार 'अर' वाला, द्वितीय भी चार 'अर' वाला, तृतीय आठ 'अर' वाला, चतुर्थ पाँच 'अर' वाला, पंचम भी पाँच 'अर' वाला तथा छठवाँ आठ 'अर' वाला है। इस तरह से ये छः नारसिंह चक्र कहलाते हैं ॥ १ ॥

अथ कानि नामानि भवन्ति । यत्प्रथमं तदाचक्रं यद्द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं  
यच्चतुर्थं तत्सकललोकरक्षणचक्रं यत्पञ्चमं तदद्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि  
षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति ॥ २ ॥

देवों के द्वारा यह पूछने पर कि उनके क्या-क्या नाम हैं? यह सुनकर प्रजापति ने कहा कि प्रथम आचक्र, दूसरा सुचक्र, तीसरा महाचक्र, चौथा सकललोक रक्षणचक्र, पाँचवाँ द्यूतचक्र एवं छठवाँ असुरान्तक चक्र के नाम से प्रख्यात हैं। ये ही छः नारसिंह चक्रों के नाम हैं ॥ २ ॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति । यत्प्रथमं तदान्तरवलयं भवति । यद्द्वितीयं तन्मध्यमं  
वलयं भवति । यत्तृतीयं तद्वाह्यं वलयं भवति । तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति । यदा  
तद्वैतद्वैजं यन्मध्यमं तां नारसिंहगायत्रीं यद्वाह्यं तन्मन्त्रः ॥ ३ ॥

तदनन्तर देवों द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसके तीन वलय कौन-कौन से होते हैं? प्रजापति ने बताया कि प्रथम आन्तर, द्वितीय मध्यम और तृतीय बाह्य है। ये ही तीन वलय कहलाते हैं। इनमें से जो मध्यम बीज है, वह नारसिंह गायत्री और जो बाह्य है, वही मन्त्र है ॥ ३ ॥

अथ किमान्तरं वलयम् । षड्वान्तरराणि वलयानि भवन्ति । यन्नारसिंहं तत्प्रथमस्य  
यन्महालक्ष्म्यं तद्वितीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत्प्रणवं

तत्पञ्चमस्य यत्क्रोधदैवतं तत्पष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडान्तराणि वलयानि भवन्ति ॥ ४ ॥

आन्तर वलय कितने हैं ? देवों द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा कि आन्तर वलयों की संख्या छः है । नारसिंहम् पहले का है, महालक्ष्म्यं दूसरे का सारस्वत तीसरे का है, जिन लोगों का जो इष्टदेव हो, वह चौथे का है, ओंकार पाँचवें का और क्रोध दैवत छठे का नाम है । अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हैं ॥ ४ ॥

अथ किं मध्यमं वलयम् । षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति । यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्विहे तद्विद्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्वीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तत्रस्तत्पञ्चमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत्पष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षण्मध्यमानि वलयानि भवन्ति ॥ ५ ॥

देवों ने जब यह पूछा कि मध्यम वलयों की संख्या कितनी है ? तो प्रजापति जी ने उत्तर दिया कि मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है । 'नारसिंहाय' प्रथम का है, 'विद्महे' दूसरे का, 'वज्रनखाय' तीसरे का है, 'धीमहि' चौथे का, 'तत्रः' पाँचवें का, 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है । अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः मध्यम वलय होते हैं ॥ ५ ॥

अथ किं बाह्यं वलयम् । षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति । यदाचक्रं यदात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्विद्वितीयस्य यम्हाचक्रं यज्योतिरात्मा तत्तृथीयस्य यत्सकललोकरक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पञ्चमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत्पष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति ॥ ६ ॥

देवों ने पुनः पूछा कि बाह्य वलय कितने और कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए प्रजापति ने कहा कि बाह्य वलय भी छः होते हैं । जो आचक्र एवं आत्मा है, वह पहले का है; जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है, वह दूसरे का है; जो महाचक्र एवं ज्योतिरात्मा है, वह तीसरे का है; जो सम्पूर्ण लोकों का रक्षण चक्र एवं मायात्मा है, वह चौथे का है; जो आचक्र एवं योगात्मा है, वह पाँचवें का है; जो असुरान्तक चक्र एवं सत्यात्मा है, वह छठे का नाम है । अतः ये ही छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय हैं ॥ ६ ॥

[ यहाँ प्रथम बाह्य वलय में 'आचक्र' का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें वलय के रूप में पुनः इसी 'आचक्र' को उद्धृत किया गया है, जबकि इसके पूर्व पाँचवें वलय के रूप में 'द्यूतचक्र' को स्वीकारा गया है, यह परिवर्तन विचारणीय है । ]

कैतानि न्यस्यानि । यत्प्रथमं तद्वद्ये यद्विद्वितीयं तच्छरसि यत्तृतीयं तच्छखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वद्वेषु यत्पञ्चमं तत्सर्वेषु ( ? ) यत्पष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु । य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वद्वेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिद्ध्यति । तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति । तस्य कैवल्यं सिद्ध्यति । तस्य सर्वे लोकाः सिद्ध्यन्ति । तस्य सर्वे जनाः सिद्ध्यन्ति । तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्येषु न्यस्यानि भवन्ति । पवित्रं च एतत्स्य न्यसनम् । न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति । कर्मण्यो भवति । ब्रह्मण्यो भवति । अन्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति । न कर्मण्यो भवति । तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम् ॥ ७ ॥

इनका न्यास कहाँ करना चाहिए? अर्थात् कहाँ धारण करना चाहिए? देवताओं के द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ने कहा कि जो प्रथम है उसे हृदय में, जो द्वितीय है उसे सिर में, जो तृतीय है उसे शिखा में, जो चतुर्थ है उसे समस्त अंगों में, जो पञ्चम है उसे सभी में तथा जो षष्ठ है उसे सम्पूर्ण देशों (पूरे शरीर) में धारण करना चाहिए। जो मनुष्य इन नारसिंह चक्रों को अपने समस्त अङ्गों में धारण करता है, उसे अनुष्टुप् की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस पर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। उसके समस्त लोक सिद्ध हो जाते हैं। वह समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है। उसे सभी लोग (समस्त परिजन) सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उसके अनुयायी वशानुवर्ती हो जाते हैं। ये ही छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यधिक शुद्ध है। इनके न्यास द्वारा मनुष्य नृसिंह को आनन्द प्रदान करने वाला हो जाता है। वह कर्मण्य (श्रेष्ठ कर्म) का ज्ञाता हो जाता है, वह ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इस न्यास के बिना नृसिंह प्रसन्न नहीं होते और न ही मनुष्य कर्मण्य हो सकता है। अतः यही अत्यन्त पवित्र है, इसका न्यास ही अत्यन्त शुद्ध-पवित्र है ॥ ७ ॥

[ यहाँ न्यास के प्रकरण में चतुर्थ न्यास में सभी अंगों तथा छठे न्यास में सभी स्थानों का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें न्यास में सभी शब्द के साथ किसी स्थान का उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह विचारणीय है । ]

यो वा एतं नारसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवंताकनाशको भवति। स निर्भयो भवति। तदेतन्नाश्रद्धानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्धानाय प्रब्रूयादिति ॥ ८ ॥

जो मनुष्य इस नारसिंह चक्र उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह सम्पूर्ण वेदों का भी अध्ययन करने वाला हो जाता है। वह समस्त यज्ञों का कर्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर लेने वाला माना जाता है। उसने समस्त तीर्थों में स्नान भी कर लिया है, ऐसा जानना चाहिए। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं। वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। वह सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। वह भूत, पिशाच, शाकिनी, प्रेत एवं वंताक आदि भय प्रदान करने वाली योनियों का नाश करने वाला भी होता है अर्थात् उसके पास ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व फटक नहीं सकते। वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन के समक्ष किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

॥ इति नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्ता ॥



## ॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें वालखिल्य ऋषि एवं स्वयंभू ब्रह्माजी के बीच हुए 'हंस सूत्र' विषयक प्रश्नोत्तर का वर्णन है। यह उपनिषद् दो काण्डों (पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड) में प्रविभक्त है।

पूर्वकाण्ड में सर्वप्रथम जगत्-नियन्ता के विषय में सात प्रश्न किए गये हैं, जिनका क्रमशः उत्तर दिया गया है। तत्पश्चात् सृष्टियज्ञ में कर्ता का निरूपण, नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का 'हंस' रूप, यज्ञसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र में साम्य, प्रणव हंस का यज्ञत्व, ब्रह्मसन्ध्या का क्रियारूप मानसिक यज्ञ, हंस और प्रणव का अभेदानुसन्धान, १६ हंस सूत्र हंसात्मविद्या से मुक्ति, बाह्य यज्ञ की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ की श्रेष्ठता, ज्ञान यज्ञरूप अश्वमेध तथा तारकहंस ज्योति का वर्णन है।

उत्तरकाण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मसम्पत्ति का तत्पश्चात् परमात्मा में जगत् का आविर्भाव मायाजन्य, हंसार्कप्रणव ध्यान की विधि, शिव द्वारा मन तथा इन्द्रियों की प्रेरकता, आत्मा में अन्य की अनुभूति माया जन्य, आत्मज्ञानी की ब्रह्मात्मता, सत्यादि श्रेष्ठविद्या का साधनत्व, आत्मज्ञानी की आवागमन से मुक्ति, ब्रह्मज्ञानी के लिए भक्ष्याभक्ष्य विवेक की अनुपयोगिता और अन्त में ज्ञानी द्वारा अपने में सभी के दर्शन करने की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक गूढ़ सिद्धान्तों का बहुत विशद वर्णन इस उपनिषद् में किया गया है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

### ॥ पूर्वकाण्डः ॥

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥

एक बार स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी के मन में यह आकांक्षा प्रादुर्भूत हुई कि "मैं प्रजा का सृजन करूँ"। उसी सृष्टि क्रम में कामेश्वर (रुद्र) एवं वैश्रवण की उत्पत्ति हुई ॥ १ ॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

तदुपरात्त ब्रह्मपुत्र वैश्रवण वालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू ब्रह्माजी से प्रश्न किया- हे भगवन्! यह जगत् विद्या क्या है? जाग्रत् और तुरीयावस्था के देवता कौन हैं? यह जगत् किसके वश में है? काल का क्या प्रमाण है? सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रह किसकी आज्ञा से प्रतिभासित (प्रकाशित) होते हैं? किसकी महिमा गगन के सदृश विशाल है? हम इन सभी प्रश्नों के उत्तर आपसे सुनना चाहते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य और कोई इन प्रश्नों का ज्ञाता नहीं है, अतः हे ब्रह्मन्! आप कृपा करके इन प्रश्नों को बताने का अनुग्रह करें ॥ ३ ॥

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या ॥ ३ ॥

स्वयंभू (ब्रह्माजी) ने कहा-सम्पूर्ण जगत् (उत्पन्न) करने वाली मातृका विद्या (अक्षर विद्या) है ॥ ३ ॥ द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता । चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥ ४ ॥

वह दो वर्ण (हंस) से युक्त तथा तीन वर्ण (प्रणव) वाली है। दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण के सहित (प्रणव) ही है। चार मात्राओं से युक्त औंकार मेरा प्राण रूप देवता है॥ ४ ॥

**अहमेव जगत्लयस्यैकः पतिः ॥ ५ ॥**

मैं ही एकमात्र तीनों लोकों का पति (भरण-पोषण करने वाला) हूँ॥ ५ ॥

**मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि ॥ ६ ॥**

समस्त युग मेरे ही वश (नियंत्रण) में रहते हैं॥ ६ ॥

**अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः ॥ ७ ॥**

मेरे द्वारा ही अहोरात्र अर्थात् दिन-रात्रि आदि काल संवर्द्धित (प्रादुर्भूत) हुए हैं॥ ७ ॥

**मम रूपा रवेस्तेजश्चनक्षत्रग्रहतेजांसि च ॥ ८ ॥**

रवि, चन्द्रमा, समस्त नक्षत्रों एवं ग्रह आदि में जो तेज विद्यमान है, वह मेरा ही स्वरूप है॥ ८ ॥

**गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति ॥ ९ ॥**

यह आकाश त्रिशक्ति युक्त (सत, रज, तम) मायारूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवाय अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ९ ॥

**तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णु राजसमायात्मको ब्रह्मा । इन्द्रादयस्ताम-सराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि । अघोरः सर्वसाधारणस्वरूपः ॥ १० ॥**

तमोगुणी मायारूप- रुद्र हैं, विष्णु सतोगुणी मायारूप हैं और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं। इन्द्रादि देवता रजोगुण एवं तमोगुण से ओत-प्रोत हैं। इनमें से कोई भी देव सात्त्विक नहीं हैं। एक मात्र केवल अघोर (शिव) ही सर्वसाधारण सामान्य रूप वाले हैं॥ १० ॥

**समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता । रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म ॥ ११ ॥**

समस्त यज्ञों के कर्ता-पशुपति रुद्र भगवान् हैं, भगवान् विष्णु यज्ञ के अध्वर्यु हैं तथा इन्द्रदेव होता (मंत्र बोलने वाले) हैं। महेश्वर-ब्रह्म के मानस रूप ब्रह्म ही इस यज्ञ के भोक्ता हैं॥ ११ ॥

**मानसो हंसः सोऽहं हंस इति । तन्मययज्ञो नादानुसंधानम् । तन्मयविकारो जीवः ॥ १२ ॥**  
उस मानस ब्रह्म का रूप ही “हंसः-सोऽहं” है। इस तन्मयता की प्राप्ति हेतु जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, वही नाद-अनुसंधान है। तन्मय (उस चैतन्यमयता) का विकार ही जीव है॥ १२ ॥

[ हंस साधना और सोऽहं साधना एक ही कही गई है। एक और से हंसः यही नाद दूसरी ओर से सोऽहं भाषित होता है। भाव रूप में मैं वह ही हूँ (हं-सः) तथा वह मैं ही हूँ (सोऽहं) यह दोनों भाव तत्त्वतः जीव और ब्रह्म के एकत्र के ही बोधक हैं। ]

**परमात्मस्वरूपो हंसः । अन्तर्बहिश्वरति हंसः । अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥ १३ ॥**

(वह) ‘हंस’ परमात्मा का स्वरूप है। (वह) हंस बाह्य एवं अन्तः में विचरण करता रहता है। अन्तः के अनवकाश वाले स्थल में यह हंस सुपर्णमय (ईश्वर-परब्रह्म) रूप में विद्यमान रहता है॥ १३ ॥

**षण्णवतितत्त्वतन्तुवदव्यक्तं चित्पूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिदग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः ॥ १४ ॥**

यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

छियानवे तत्त्व तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों (सत्, चित्, आनन्द) से चिन्मय लक्षणों वाला त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) से युक्त यज्ञ के सामान्य अंग-रूप में बाह्य एवं अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत, ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हंस रूप है ॥ १४-१५ ॥

[ यहाँ यज्ञोपवीत की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के रूप में की गई है। स्थूल यज्ञोपवीत का निर्माण जिन चेतन तत्त्वों के आधार पर किया जाता है, यहाँ उनका उल्लेख ऋषि कर रहे हैं। यज्ञोपवीत बनाने में चार अंगुलों अथवा उस माप को किसी वस्तु पर कच्चे सूत्र के तीन तारों को ९६ बार लपेटा जाता है। उसे बटकर तिहरन करके पुनः बटते हैं। इस प्रकार एक लड्डा में ९ तार हो जाते हैं। इसे तीन लड्डों वाले यज्ञोपवीत रूप में ग्रथित किया जाता है। प्रारंभिक ग्रन्थियों के बाद अंत में ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है। इन्हीं का विश्लेषण-ऋषि ने किया है। अन्य बातें तो मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं, केवल ९६ तत्त्वों का उल्लेख नहीं है। इसका स्पष्टीकरण सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में इस प्रकार दिया गया है-'तिथिवारज्ञ नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्। कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्' अर्थात् तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३ तथा मास १२ इस प्रकार कुल ९६ तत्त्व वाला ब्रह्मसूत्र है। ]

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मग्य यज्ञः । ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम् । तद्ब्रह्मसूत्रम् । यज्ञसूत्र-संबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञ-रूप है अर्थात् यह ब्रह्म का प्रतीक रूप है। ब्रह्म के लक्षणों से युक्त यह यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) है, वही ब्रह्मसूत्र है। अतः यज्ञोपवीत एवं ब्रह्मयज्ञ दोनों एक दूसरे के स्वरूप ही हैं ॥ १६ ॥

अङ्गानि मात्राणि । मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम् । प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम् । प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम् । तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम् ॥ १७ ॥

इसके अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्तःवर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधन रूप ही है ॥ १७ ॥

[ बाहर ब्रह्मसूत्र धारण करने का वास्तविक उद्देश्य अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र को जाग्रत्-जीवन्त बनाना होता है। जब अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तो ब्रह्मसूत्र को त्यागकर 'संन्यास' में प्रवेश किया जाता है। ]

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः । संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मसंध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है, संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है ॥ १८ ॥

[ जो लोग ब्रह्मसंध्या को स्थूल कर्मकाण्ड के रूप में ही दुहरा कर अपना दायित्व पूरा मान लेते हैं, मानसिक यज्ञ के रूप में उसे जाग्रत्-विकसित नहीं करते, उन्हें सन्ध्यावन्दन का शास्त्रोक्त लाभ प्राप्त नहीं होता। ]

यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः । ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः । हंससूत्रचर्या यज्ञाः । हंसप्रणवयोरभेदः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य यज्ञोपवीत, प्रणव एवं ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से सम्पन्न हैं, वही ब्राह्मण हैं। ब्रह्मचर्य में ही देवता विचरण करते हैं। सूत्ररूप हंस एवं प्रणव दोनों एक ही हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है ॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः । त्रिकालास्त्रिवर्णाः । त्रेताग्न्यनुसंधानो चागः । त्रेताग्न्यात्मा-कृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः ॥ २० ॥

हंस की प्रार्थना त्रिकाल अर्थात् तीन समय में सम्पन्न की जाती है। तीन काल, तीन वर्ण (अकार, उकार,

मकार) होते हैं। यह यज्ञ तीन अग्नियों के अनुसंधान द्वारा सम्पन्न करने का है। तीन अग्नि रूप आत्मा की आकृति एवं वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का अनुसंधान ही अन्तः का यज्ञ है ॥ २० ॥

**चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम् । अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः ॥ २१ ॥**

चित् स्वरूप में तन्मय (तल्लीन) होना ही तुरीयावस्था का स्वरूप है। अन्तः के आदित्य में हंस ही ज्योति रूप में अवस्थित है ॥ २१ ॥

**यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः । ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति ॥ २२ ॥**

यज्ञाङ्ग ही ब्रह्म-सम्पत्ति है। अतः ब्रह्म-प्राप्ति के निमित्त प्रणवरूप हंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए ॥ २२ ॥

**प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः । हंससूत्राणि कृतिसंख्यानि क्रियद्वा प्रमाणम् ॥ २३ ॥**

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने पुनः स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा-हे भगवन् ! 'हंससूत्रों की संख्या कितनी है तथा उनके प्रमाण कितने हैं ? आप तो सभी कुछ जानने में समर्थ हैं, कृपा करके बताने का अनुग्रह करे' ॥ २३ ॥

**हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः । चित्सूत्रध्याणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षड्ङुलदशाशीतिः ॥ २४ ॥**

तदनन्तर स्वयंभू ब्रह्माजी ने उत्तर दिया- 'हृदय- आदित्य की छियानवे रश्मियाँ हैं। चित्-सूत्र घ्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अंगुल होती है' ॥ २४ ॥

**वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः ॥ २५ ॥**

बायाँ भुजा (कंधा) और दक्षिण कट्यन्त (दाहिनी ओर कटि के छोर पर) के मध्य (हृदय क्षेत्र) में परमात्मा हंस का निवास है; किन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को नहीं हो पाती है ॥ २५ ॥  
जानन्ति तेऽमृतफलकाः । सर्वकालं हंसं प्रकाशकम् । प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विनान्मुक्तिः ॥

जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो गई है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं। प्रणवरूपी हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥ २६ ॥

**नवसूत्रान्यरिच्चितान् । तेऽपि यद्वह्न चरन्ति । अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम् ॥ २७ ॥**

जो मनुष्य रँगे हुए इस नौ सूत्र वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं। वे भी इसकी उपासना ब्रह्ममय मान कर ही करते हैं; किन्तु इन मनुष्यों को अन्तः में स्थित आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान(आत्मबोध) नहीं होता ॥ २७ ॥

**जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति ॥ २८ ॥**  
आदित्य जगत् को प्रकाशित करता है, यह जानकर वे बुद्धिमान् मनुष्य पवित्रता एवं ज्ञान के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं ॥ २८ ॥

**वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः ॥ २९ ॥**

वाजपेय यज्ञ (विशिष्ट ज्ञानयज्ञ) पशुहर्ता (पशुत्वभाव-अज्ञान भाव का हरण करने वाला) है। इस यज्ञ के अध्वर्यु एवं देवता इन्द्र (परमेश्वर) हैं। यह अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मोक्षयज्ञ) है, इसके अध्वर्यु परमहंस तथा देवता पशुपति परमात्मा हैं ॥ २९ ॥

**ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म । स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति ॥ ३० ॥**

वेद एवं उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी (परमात्मतत्त्व) की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं ॥ ३० ॥

**अश्वमेधो महायज्ञकथा । तद्राजा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति । सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति ॥ ३१ ॥**

इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेध यज्ञ है। इसके आश्रय से ही वे (ज्ञानीजन) ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं। पूर्व में वर्णित समस्त ब्रह्मयज्ञ-कर्म ही मुक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं ॥ ३१ ॥

**ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच । उदितो हंस ऋषिः । स्वयंभूस्तिरोदधे । रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद ॥ ३२ ॥**

ब्रह्मपुत्र ने पुनः कहा—‘हंस से सम्बन्धित ज्ञान का प्राकट्य हो गया है।’ ऐसा श्रवण कर स्वयंभूतिरोहित हो गये। इस उपनिषद् में जिस हंस ज्योति का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव (ओंकार) ही पशुपति (ब्रह्म) है, उसे ऐसा जानो ॥ ३२ ॥

## ॥ उत्तरकाण्डः ॥

**हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता । परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी ॥ १ ॥**

‘हंस’ का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म-प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह ब्रह्म ही परमात्मा एवं पुरुष है। यह ब्रह्म सम्पत्ति से युक्त होता है ॥ १ ॥

**अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा । ब्रह्मज्ञानप्रभासस्या कालो गच्छति धीमताम् । हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजः कथम् ॥ २ ॥**

जो मनुष्य अपने आत्मिक ज्ञान से ब्रह्म के समान हो गया हो, फिर उसके संदर्भ में कहने के लिए क्या शेष रह जाता है? ज्ञानी मनुष्य अपना सम्पूर्ण समय ब्रह्मचर्चा एवं उपासना में ही व्यतीत करते हैं। जब हंस एवं आत्मा में एकात्मता स्थापित हो जाती है, तो फिर प्रजा कहाँ हो सकती है? ॥ २ ॥

**अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः । अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम् ॥ ३ ॥**

अन्तःकरण से निःसृत होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस ज्ञात होता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान का बोध करने वाला है। अन्तः में अनुभवगम्य गूढ़ ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

**शिवशक्तयात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम् । नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम् ॥ ४ ॥**

शिव-शक्तिमयात्मकरूप चिन्मय आनन्द से ज्ञात होने वाला है। नाद, बिन्दु एवं कला इन तीनों नेत्रों (जागृति) से ही यह जगत् चेष्टायुक्त है ॥ ४ ॥

**त्रियंगानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः । अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्विर्गतं बहिः ॥ ५ ॥**

तीन अंग, तीन शिखा एवं दो या तीन मात्राओं में उसकी संख्या (आकृति) ज्ञात होती है। जब इस प्रकार से वह अन्तर्धान हो जाता है, तब इस गूढ़ आत्मा का ज्ञान बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में प्रकट होता है ॥ ५ ॥

**ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मयं विध्युक्तलक्षणम् । हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे ॥ ६ ॥**

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके स्वयमेव ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए तथा निरन्तर हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करते रहना चाहिए, यही ज्ञानीजनों का उपदेश है ॥ ६ ॥

**एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः । स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥ ७ ॥**

इस प्रकार से विशेष ज्ञान-प्राप्ति होने के पश्चात् ही ज्ञान-सागर के पार पहुँचा जा सकता है। स्वयं भगवान् शिवरूप पशुपति-ब्रह्म ही सर्वदा (इसके) साक्ष्य रूप हैं ॥७॥

[अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन दोनों प्रकार के ज्ञान के अतिवाद को उचित नहीं माना गया है, जैसा कि ईशोपनिषद् (९) में 'अन्थं तमः प्रविशन्ति' ..... इत्यादि मन्त्र में 'केवल विद्या की उपासना करने वालों' को भी अन्धकार में फँस जाने की बात कही गई है। यहाँ 'ज्ञान' को दुबाने वाला सागर तथा उससे पार जाने की बात उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही कही गयी प्रतीत होती है।]

**सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु । विषये गच्छति प्राणश्वेष्टते वाग्वदत्यपि ॥८॥**

यही भगवान् शिव सभी लोगों के मन को प्रेरित एवं संतुलित-नियमित करने वाले हैं, जिसके प्रभाव से मन विषयों में गतिशील होता है। प्राण चेष्टा-रत रहते हैं तथा वाणी उच्चारण का कार्य करती है ॥८॥

**चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि । अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥९॥**  
**स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम् । प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥१०॥**

उन्हीं भगवान् की प्रेरणा से चक्षु रूपों-दृश्यों को देखते हैं, कान श्रवण करते हैं तथा अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रेरित हो रही हैं। वे निरन्तर अपने-अपने विषयों के उद्देश्य में प्रवृत्त होती रहती हैं। यह विषयों में प्रवृत्त होना ही मायारूप है, यह स्वभाववश नहीं होता, माया द्वारा ही होता है ॥९-१०॥

**श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान् । अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥११॥**

श्रोत्र आत्मा के आश्रित हैं तथा स्वयं पशुपति ब्रह्म श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उन शिव को श्रवण शक्ति देते हैं ॥११॥

**मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः । मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥१२॥**

मन भी अपनी अन्तरात्मा में अभ्यस्त है एवं परब्रह्म परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, उस सत्त्व में स्थित होते हुए उसे नियम में रखते हैं और मनस्विता प्रदान करते हैं ॥१२॥

**स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि । अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥१३॥**  
**तत्तद्वूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु । ततश्चक्षुश्च वाङ्मैव मनश्चान्यानि खानि च ॥१४॥**  
**न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि । अकर्तृविषयप्रत्यक्षकाशं स्वात्मनैव तु ॥१५॥**  
**विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः । प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥१६॥**

ऐसे ही वे परम ईश्वर समस्त इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, परन्तु लोग उन ब्रह्म को जैसा बताते हैं अथवा कल्पना करते हैं, उससे वे महेश्वर सर्वथा भिन्न हैं। परब्रह्म परमेश्वर ही इन समस्त इन्द्रियों को अपने अनुकूल रूप प्रदान करते हैं एवं उनका नियमन भी करते हैं। इस कारण ये चक्षु, मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ परमपिता परमात्मा के स्वयं प्रकाशतत्त्व (रूप) को प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् उनके ज्ञानरूपी प्रकाश को जानने में समर्थ नहीं हो सकतीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है कि परमात्मा अन्तः के विषयों से भिन्न (अलग) है, वह तर्क एवं प्रमाण के बिना ही उसे अपनी अन्तरात्मा द्वारा जानने का निरन्तर प्रयास करे, उसे यथार्थ रूप में परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा ही परम प्रकाश स्वरूप है, जबकि वह माया महा अन्धकाररूप है ॥१३-१६॥

**तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि । तस्मात्कर्प्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥१७॥**  
**स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि । व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा ॥१८॥**

इसलिए प्रत्यगात्मा एवं माया की एकता किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। उसके तर्कों, प्रमाणों एवं

अनुभव से ज्ञात होता है कि चैतन्यमय स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा में माया नहीं है। विद्या एवं अविद्या के विषय व्यावहारिक हैं, परमात्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ १७-१८॥

**तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् । व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः ॥ १९ ॥**  
**प्रकाश एव सततं तस्माद्दैत एव हि । अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः ॥ २० ॥**

तत्त्विक दृष्टि से यह सभी कुछ मिथ्या ही है। केवल एक तत्त्व ही वास्तविक सत्य है। व्यावहारिक-दृष्टि से जो भी कुछ जान पड़ता है, वह भी वैसे ही आभासित होता है। प्रकाश ही निरन्तर विद्यमान है। इस प्रकार यह अद्वैत ही है, अद्वैत ही इस प्रकार के प्रकाश के अभेद से कहा जाता है॥ १९-२०॥

**प्रकाश एव सततं तस्मान्मोनं हि युज्यते । अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः ॥ २१ ॥**  
**न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किंचन । न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च ॥ २२ ॥**  
**न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च । यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु ॥ २३ ॥**  
**तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते । जगज्जीवादिस्त्रपेण पश्यन्नपि परात्मवित् ॥ २४ ॥**  
**न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति । धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥ २५ ॥**

इस प्रकार से सर्वत्र सतत एक प्रकाश स्थित है। इसके सन्दर्भ में और अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन ही उत्तम है। जिस मनुष्य को यह महान् ज्ञान स्वयमेव ज्ञात हो गया है, वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न ही कुछ और है। उसका न कोई 'वर्ण' है तथा वह आश्रम भी नहीं है। वह धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है, निषेध एवं विधि भी वह नहीं है। जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होता है, तब उसे इस दुःखादि भेद का आभास बिल्कुल नहीं जान पड़ता। परब्रह्म परमात्मा का इस प्रकार से ज्ञान रखने वाला इस जीवादि स्वरूप वाले विश्व को देखते हुए भी नहीं देखता। वह एकमात्र चिद्रूप ब्रह्म का ही निरन्तर दर्शन करता है। धर्म एवं धर्मों के विषय-भेद के रहते हुए भिन्न ही प्रतीत होते हैं॥ २१-२५॥

**भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः । नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥ २६ ॥**

एक मात्र वह परमात्म चेतना ही है, जो हमेशा से अपने वर्तमान स्वरूप में है और दूसरे अन्य सभी भेद आदि एवं समस्त भेद-अभेद उस (परमात्मा) में ही संव्याप्त हैं॥ २६॥

**ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च । तथैव ब्रह्मविज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥ २७ ॥**

वस्तु अथवा अवस्तु जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ साक्षात् परब्रह्ममय ही है। ऐसी दशा में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी को स्वीकार अथवा परित्याग कैसे कर सकता है?॥ २७॥

**अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥ २८ ॥**  
**अचक्षुः श्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥ २९ ॥**  
**ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात् । ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च ॥ ३० ॥**

जो परब्रह्म उपमा-विहीन, वाणी एवं मन से अगोचर, दृष्टि से परिलक्षित न होने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, गोत्र-रहित, रूप-विहीन है; जो (ब्रह्म) आँख, कान, हाथ-पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय एवं मृत्यु से रहित है, सबका अधिष्ठाता अथवा आधार रूप है; वह (ब्रह्म उस साधक के) आगे-पीछे, उत्तर एवं दक्षिण सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ वेदामृत (वेदज्ञानामृत) स्वरूप ब्रह्मानन्द रूप में विद्यमान है और वह परब्रह्म आनन्दमय रूप में दायें-बायें भी प्रतिष्ठित है॥ २८-३०॥

**स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः । तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता ॥३१ ॥**

इस प्रकार वह श्रेष्ठ साधक सभी को निरन्तर अपनी अन्तरात्मा में निर्भय होकर देखता रहता है। ऐसा भाव रखने वाला साधक ज्ञानी ही नहीं, वरन् अज्ञानी होने पर भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

**एवंस्तु परा विद्या सत्येन तपसापि च । ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥ ३२ ॥**

इस प्रकार परा विद्या, सत्य, तप और ब्रह्मचर्यादि धर्म की प्राप्ति भी वेदान्त मार्ग के द्वारा ही होती है ॥ ३२ ॥

**स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम् । क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽवृताः ॥ ३३ ॥**

जिनका अन्तःकरण पूर्णस्तुतुपेण पवित्र है, समस्त दोषादि विकार क्षीण हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी साधक स्वयं प्रकाशस्तुतुरूप परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं, माया द्वारा आवृत लोग उन परमप्रभु का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

**एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः । कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णस्तुपिणः ॥ ३४ ॥**

जो योगी साधक अपने स्वरूप को इस तरह से समझ लेता है, वह उस पूर्णता को प्राप्त करके पुनः आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता ॥ ३४ ॥

**आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्नं हि गच्छति । तद्बद्धह्यात्मविच्छेष्टः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥ ३५ ॥**

जिस प्रकार एकमात्र आकाश सर्वत्र उपस्थित रहता है। वह इधर-उधर कहीं गमनागमन नहीं करता, उसी प्रकार जिस योगी साधक ने अपने को ब्रह्ममय जान लिया है, वह कहीं आ-जा नहीं सकता ॥ ३५ ॥

**अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् । आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥ ३६ ॥**

आहार के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षण का परित्याग कर देने पर चित्त पूर्णतया पवित्र हो जाता है। जब आहार की शुद्धि हो जाती है, तब चित्त की शुद्धि स्वयं ही हो जाती है ॥ ३६ ॥

**चित्तशुद्धौ क्रमाज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम् । अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः ॥ ३७ ॥**

जब चित्त पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है, तब क्रमशः ज्ञान प्रवर्द्धित होता चला जाता है तथा अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का विचार मात्र उसके लिए आवश्यक है, जिसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अभी नहीं हुई है ॥ ३७ ॥

**न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्तुरूपं सकलं खलु । अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥ ३८ ॥**

इसका कारण यह है कि सम्यक् रूप से ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के सदृश भेद-ज्ञानयुक्त नहीं होता। ज्ञानी यह समझता है कि भक्षण करने वाला मैं 'ब्रह्म' हूँ तथा अन्न भी मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

**ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु । ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा ॥ ३९ ॥**

जो साधक योगी-ब्रह्मज्ञानी होता है, वह प्राणि-मात्र को ब्रह्म के रूप में देखता है। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भावना भी उसके लिए भोज्य (ग्राह्य-पाच्य) है ॥ ३९ ॥

**यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु । ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाजगद्वोज्यं भवेत्खलु ॥ ४० ॥**

मृत्यु ही जिस ब्रह्म का अन्न (भोज्य पदार्थ) है, ऐसे ब्रह्म को जानने वाला साधक भी तदनुरूप ही हो जाता है तथा यह सम्पूर्ण जगत् ही उसके लिए भोज्य (ग्राह्य) हो जाता है ॥ ४० ॥

**जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा । ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा ॥ ४१ ॥**

जब इस विश्व की, आत्मा के रूप में अनुभूति की जाती है, तो वह भोज्य रूप हो जाता है तथा आत्मा रूप से अविनाशी ब्रह्म सतत उसका भक्षण करता रहता है ॥ ४१ ॥

यदाभानेन रूपेण जगदभोज्यं भवेत्तु तत् । मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥४२ ॥

जिसका आभास हो जाने से यह विश्व भोज्य पदार्थरूप हो जाता है तथा वह जब आत्मस्वरूप ज्ञात हो जाता है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म के द्वारा भक्षित होता है ॥ ४२ ॥

स्वस्वरूपं स्वयं भुद्भक्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः । अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥ ४३ ॥

इस तरह से ब्रह्म स्वयं ही अपने स्वरूप का भक्षण करता है, इसका कारण यह है कि उससे (ब्रह्म से) भोज्य पदार्थ अलग ही नहीं है। जो अस्तिता का रूप है, वही ब्रह्म के अस्तित्व का लक्षण-रूप है ॥ ४३ ॥

अस्तित्वलक्षणं सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा । नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥४४

सत्ता का लक्षण ही अस्तित्व माना जाता है तथा ब्रह्म से सत्ता पृथक् नहीं होती। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं और न माया कोई वास्तविक वस्तु ही होती है ॥ ४४ ॥

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता । साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता ॥४५ ॥

योगी साधकगण माया की कल्पना अपनी अन्तरात्मा से ही करते हैं। वह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती हुई उन (साधक गणों) को साक्षीरूप में प्रतिभासित होती है ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत् । पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥ ४६ ॥  
इत्युपनिषत् ॥

इस प्रकार से जिस ज्ञानी साधक को ब्रह्म के ज्ञान-विज्ञान की सम्पन्नता की अनुभूति हो गई है, वह चाहे इस सम्पूर्ण विश्व का अपने समक्ष दर्शन करता रहे; किन्तु वह उसे अपने से अलग कभी नहीं मानता। ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है ॥ ४६ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ प्राणग्रिहोत्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् का मूल प्रयोजन 'चित्त शुद्धि' है, जिसके द्वारा 'ब्रह्मज्ञान' सहज प्राप्य है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम 'शारीर यज्ञ' के विषय में स्पष्टीकरण देने की ओषणा तथा उसका प्रतिफल (सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है) वर्णित है। तत्पश्चात् बाह्य प्राणग्रिहोत्र का प्रयोग स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त शारीरग्रिदर्शन नामक अपर-ब्रह्मविद्या का स्वरूप विवेचित हुआ है। शारीरग्रिविद्या द्वारा 'शारीर यज्ञ' का निरूपण अगले क्रम में है। अन्त में इस 'प्राणग्रिहोत्र' विद्या के पठन-पाठन की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस उपनिषद् का अध्येता एक ही जन्म में चित्त शुद्धि तथा (परिणाम स्वरूप) मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इसी के साथ उपनिषद् पूर्ण हो गई है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अक्ष्युपनिषद्)

**अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीरयज्ञं व्याख्यास्यामः । यस्मिन्नेव पुरुषः शरीरे विनाप्यग्रिहोत्रेण विनाप्य सांख्ययोगेन संसारविमुक्तिर्भवति ॥ १ ॥**

अब समस्त उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से परे (प्राणग्रिहोत्रोपनिषद् के अन्तर्गत) अन्नसूक्त एवं शारीर यज्ञ की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। जिस पुरुष-शरीर की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् अग्रिहोत्र के बिना और सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना ही संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ॥ १ ॥  
**स्वेन विधिनान्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधीः सोमराज्ञीरिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामनुमन्त्रयते ॥**

अपनी विधि के अनुसार पृथ्वी पर (निर्मित की गई वेदिका पर) अन्न को रखकर तत्पश्चात् नीचे लिखे (या ओषधयः ..... । या फलिनीर्या: ..... । जीवला नघारिषां ..... ।) इन तीन मंत्रों तथा ('अन्नपतेऽन्नस्य .... । यदन्नमग्निर्बहुधा ..... ।') इन दो ऋचाओं से अभिमंत्रित करना चाहिए ॥ २ ॥

अब उपर्युक्त वर्णित तीन व दो ऋचाओं का क्रमानुसार अर्थ लिखते हैं-

**या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥**

जो ओषधियों के अधिष्ठाता देव सोम हैं। वे प्रधान शतवीर्य, बहुशाखा वाले सैकड़ों रोगों को विभिन्न तरह से विनष्ट करने में सक्षम हैं। ये विशिष्ट गुणों से युक्त ओषधियाँ बृहस्पति (देवों के आचार्य) द्वारा तैयार (उत्पन्न) की गई हैं। ये ओषधियाँ हमें पापों-रोगों से मुक्ति प्रदान करें ॥ ३ ॥

**या: फलिनीर्या अफला अपुष्या याश्च पुष्पिणीः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥**

जो फलों से युक्त, फलों से रहित, पुष्य युक्त एवं पुष्य रहित ऐसी ये समस्त ओषधियाँ बृहस्पति-प्रसूत (विशेषज्ञ वैद्य द्वारा प्रादुर्भूत) हैं, ये ओषधियाँ हमें रोगों-पापों से मुक्ति प्रदान करें ॥ ४ ॥

**जीवला नघारिषां मा ते बधाम्योषधिम् । यातयायुरुपाहरादप रक्षांसि चातयात् ॥ ५ ॥**

सतत हरी-भरी बनी रहने वाली ओषधि मेरे द्वारा भाँधी जा रही है अर्थात् ग्रहण की जा रही है। आयुक्षीण करने वाले तत्त्वों से वह हमें संरक्षण प्रदान करें ॥ ५ ॥

**अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्रप्रदातारं तारिष ऊर्ज नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ६ ॥**

हे अन्न के पति अग्निदेव ! आप हम सभी के लिए आरोग्य-प्रद एवं पोषण युक्त अन्न की व्यवस्था करें। दानी मनुष्यों को भली-भाँति पोषित करें। हमारे पुत्र-पौत्रादि एवं पशुओं के लिए भी अन्न प्रदान करें ॥ ६ ॥

**यदन्नमग्निर्बहुधा विराद्धि रुद्रैः प्रजाग्धं यदि वा पिशाचैः । सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहा ॥ ७ ॥**

जो अन्न अग्नि के द्वारा प्रजा के निमित्त रुद्रों अथवा पिशाचों से प्रायः बचाकर रखा जाता है, उस कल्याणकारी अन्न को ईशानदेव दोषमुक्त बनाएँ, उन ईशानदेव भगवान् शिव को यह आहुति समर्पित है ॥ ७ ॥

मंत्र सं० २ से ७ तक के मन्त्रों द्वारा अन्न का स्पर्श करके उसे अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर हाथ में जल लेकर मंत्र क्र० ८ व ९ क्रमशः 'अन्तश्शरसि .... एवं 'आपः पुनन्तु' ..... इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करें -

अन्तश्शरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः । त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्मा भूर्भुवः सुवरो नमः ॥ ८ ॥

प्राणियों के हृदय में सर्वत्र व्यास होकर स्थित रहते हुए निरन्तर भ्रमण करने वाले तुम ही यज्ञ, ब्रह्मा, विष्णु, वषट्कार, आपः, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः एवं स्वः स्वरूप हो, तुम्हें नमन है ॥ ८ ॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवीं पूता पुनातु माम् । पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् । यदुच्छिष्ठमधोज्यं यद्वा दुश्शरितं मम । सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा ॥ ९ ॥

हे आपः (जल) ! आप पृथ्वी को पवित्र करें तथा शुद्ध हुई जो पृथ्वी है, वह मुझे पवित्रता प्रदान करे। ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्रता प्रदान करे। जो उच्छिष्ठ, अभक्ष्य अथवा दुश्शरिता मेरे में सत्रिहित हो, उन सबको हटाकर जल देवता हमें पवित्र बना दें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है ॥ ९ ॥

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि । ॐ प्राणाय स्वाहा । ॐ अपानाय स्वाहा । ॐ व्यानाय स्वाहा । ॐ उदानाय स्वाहा । ॐ समानाय स्वाहा । ॐ ब्रह्मणे स्वाहा । ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १० ॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से प्रोक्षण करके दो बार जलाभिषेक करने के बाद बायें हाथ से वेदिका का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ में ग्रहण कर) 'अमृतमस्यमृतोपस्तरणमसि'(हे जल ! तुम अमृत स्वरूप हो, तुम अमृत स्वरूप आच्छादन हो) यह कहते हुए उसे पीकर 'अमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि'(अमृतोपम होम करने के योग्य पदार्थ का आस्वादन प्राप्त कर लिया गया है।) यह कहकर अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हुए प्राण में आहुतियाँ समर्पित करे। प्राण के लिए आहुति समर्पित है। अपान, व्यान, उदान, समान के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्म के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का रसास्वादन प्राप्त करे ॥ १० ॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोति अनामिकयापाने मध्यमया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने ॥ ११ ॥

कनिष्ठिका अँगुली और अँगूठे के द्वारा प्राण में, अनामिका से अपान में, मध्यमा से व्यान में तथा सभी अँगुलियों के द्वारा समान में आहुति डालनी चाहिए ॥ ११ ॥

[काया में सक्रिय पाँचों प्राणों का हाथ की विभिन्न अँगुलियों से सम्बन्ध होने का संकेत है। विभिन्न अँगुलियों के माध्यम से पाँचों प्राणों का संवर्धन कैसे संभव है, यह शोध का विषय है।]

तूष्णीपेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्रौ एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये ॥ १२ ॥

मौन रहते हुए एक आहुति (प्राणाय स्वाहा से) करे। (अपानाय स्वाहा से) दो आहुतियाँ आहवनीय में, एक (आहुति) दक्षिणाग्रि में, एक गार्हपत्य में एवं एक सर्वप्रायश्चित्तीय अग्नि में समर्पित करे ॥ १२ ॥

अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनरुपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

(इस प्रकार पाँच आहुतियाँ समर्पित करके यथा-नियम ग्रहण कर अर्थात् अन्न सेवन कर 'अथ पुरस्तात् चोपरिष्टाच्च अद्धिः परिदधाति', इस श्रुति के अनुरोध से) अपिधान (अनावृत) स्वरूप को अमृतत्व के लिए स्पर्श करके फिर ग्रहण कर पुनः स्पर्श करे ॥ १३ ॥

सव्ये प्राणावाऽपो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्। प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरा-  
वृतः। अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन॥ १४॥

बायें हाथ में जल लेकर हृदयालम्भन कर अर्थात् हृदय के समीप में हाथ रखकर जप करे। मुख्य प्राण पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) से घिरा हुआ परमात्मा स्वरूप है। वह मुझे समस्त प्राणियों से भय-रहित करे, मैं उनसे कभी भयभीत न होऊँ॥ १४॥

**विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वस्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम्। विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि॥**

हे मुक्तप्राण! आप विश्वस्वरूप हैं। आप ही विश्व में वैश्वानर रूप में विराट् होकर समस्त विश्व को अपने स्वरूप में धारण करते हैं। वह वैश्वानर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की देह में स्थित है। आप ब्रह्मामृत स्वरूप हैं, आपसे प्रादुर्भूत होने वाला यह विश्व तुरीयाग्नि में सभी आहुतियों के रूप में विलीन हो जाता है॥ १५॥

**महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः। तमद्दिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च॥ १६॥**

जो प्राणरूप से पैर के दोनों अँगूठों के अग्रभाग में प्रतिष्ठित है, वहाँ पर तुम प्रतिक्षण अभिनव पुरुष के रूप में स्थित रहते हो। इस भोजन के अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति हेतु तुम्हें सब ओर से सिंचित(तुष्ट)करता हूँ॥

**अनावित्येष बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोमीति। सर्वेषामेव सूनुर्भवति। अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति॥ १७॥**

वे (प्राणरूप पुरुष) विशिष्ट चेष्टासम्पन्न हैं, अतः बाह्यात्मा इनका चिन्तन करे। यह पुरुष (प्रत्येक दिन प्राण-रूपी) अग्निहोत्र करता है। [क्योंकि तुम्हारा परमात्मा (अग्नि रूप का) पुत्रवत् पोषण करते हैं।] अतः तुम सभी के पुत्र भी होते हो, इस यज्ञीय भाव से परिवृत होकर तुम आहुतियों का होम करते हो॥ १७॥

**स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्न्यस्ते किं नारमधीयाः॥ १८॥**

अपने शरीर में यज्ञ को परिवर्तित करता हूँ। इस शरीर में अग्नियों की संख्या चार मानी गई है, जो अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। ये सभी अर्धमात्रिक मात्र हैं॥ १८॥

**तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्ररश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति। तत्र कोष्ठाग्निरिति-कोष्ठाग्निर्नामा-शितपीतलीढस्वादितं सम्यग् व्यष्ट्यं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति॥ १९॥**

इन चार अग्नियों में से 'सूर्याग्नि' नामक अग्नि, सूर्य मण्डलाकृति के अनुरूप है। यह अत्यधिक तेजोमयी सहस्र (असंख्य) रश्मियों से सम्पन्न व्यापकरूप में होकर मूर्धा भाग में प्रतिष्ठित रहती है। (जैसा कि प्रसिद्ध है- 'तुरीयं' मूर्धनि संस्थितम्)। चौंकि यह जीवात्मा सर्वत्र ईश्वररूप में दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण यह दर्शनाग्नि कहा गया है। यह विराट् आदि चार आकृतियों से युक्त आहवनीय बनकर मुख में स्थित रहता है। स्थूल शरीर को जलाने वाली शारीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीर के आस्रित जरादि अवस्था के द्वारा कमजोर किया जाता है, स्थूल प्रपञ्च रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-है, स्थूल प्रपञ्च रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-है, स्थूल प्रपञ्च रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-है, स्थूल प्रपञ्च रूप हवि को ग्रसित करता है। (चौथी) 'कोष्ठाग्नि' नामक अग्नि है। जो खायी, पी-हुई, चाटी हुई एवं प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है। आस्वादित वस्तु को अच्छी तरह से पकाकर गार्हपत्याग्नि के रूप में नाभिस्थल में प्रतिष्ठित रहती है॥ १९॥

**प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ २०॥**

इस प्रकार प्रायश्चित्त वृत्तियाँ (चित्त की वृत्तियाँ) अथः (नीचे) प्रतिष्ठित हैं, तिर्यक् (वक्र वृत्तियाँ) तथा तीन (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) अवस्थाओं के प्रकाशक हिमांशु (अर्थात् चिद्रूप चन्द्र) सभी तरह से समर्थ प्रभु हैं। सभी कुछ प्रकाशमय कर देने वाले हैं॥ २०॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्या: कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रतिप्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क कुद्राता का धारा कः पोता के दर्भः कः सुवः काज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ केऽत्र याजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः काऽहिंसा के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति ॥२१ ॥

इस शारीर यज्ञ का, जो कि यूप (खम्भे) एवं रसना (रस्सी) से अशोभित (यूप और रसना से रहित) है, उसका यजमान कौन है? पत्नी, ऋत्विज एवं सदस्य कौन हैं? यज्ञ-पात्र, हवि, वेदि, अन्तर्वेदिका, द्रोणकलश, रथ, पशु (बलिपशु), अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, उद्गाता, धारा (हवा करने वाला), पोता, दर्भ (कुश), सुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र), आघार, आज्यभाग, याज, अनुयाज, इडा, सूक्तवाक्, शंयोर्वाक्, अहिंसा, पत्नी संयाज, यूप (खम्भा), रशना, इष्ट, दक्षिणा एवं यज्ञ के समापन पर किया जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन-कौन हैं? (अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुएँ-पदार्थ अपेक्षित हैं, वैसे ही इस शारीर यज्ञ के लिए भी ये सभी वस्तुएँ आवश्यक हैं, किन्तु ये सब कहाँ और कौन हैं?) ॥ २१ ॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः अहंकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्राता समानो मैत्रावरुणः शारीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः सुवः सव्यहस्त आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः भूतानि गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भः बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः ॥ २२ ॥

इस शारीर यज्ञ का जो कि यूप(खम्भे)एवं रसना से अशोभित(रहित)है, इस शारीर यज्ञ की आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज् हैं, अहंकार ही अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, व्यान प्रस्तोता है, उदान उद्गाता, समान मैत्रावरुण, शारीर वेदिका, नासिका अन्तःवेदि, मूर्धा (सिर)द्रोणकलश, पैर ही रथ है, दाहिना हाथ सुवा है, बायाँ हाथ घृतपात्र है, कान ही आघार हैं, नेत्र ही आज्य भाग हैं, ग्रीवा(गर्दन)ही धारा—पोता हैं, तन्मात्राएँ सदस्य हैं, पञ्च महाभूत प्रयाज, अन्यभूत(प्राणी)गुण और अनुयाज हैं, जिह्वा इडा है, दाँत-ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक्, स्मृति, दया, शान्ति ही अहिंसा और पत्नीसंयाज हैं, ॐ कार खम्भा है, आशा रशना है, मन रथ है, काम ही पशु है, केश ही कुशाएँ हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं, अहिंसा इष्टकायें, त्याग ही दक्षिणा है, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है। ऐसा समझकर जब यज्ञ किया जाता है, तभी यह यज्ञ पूर्ण फलदायक होता है और तभी समस्त देवगण इस शारीर में समाहित होते हैं ॥ २२ ॥

वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्राह्मणः पठेत्। एकेन जन्मना जन्तुमोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत् ॥ २३ ॥

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा फिर कोई ब्राह्मण इसे (उपनिषद् को) पढ़े, तो एक ही जन्म में चित्त शुद्धि करने वाला ज्ञान एवं मोक्ष को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है, यही उपनिषद् है ॥ २३ ॥

॥ इति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् समाप्ता ॥

## ॥ बह्वृचोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जगत् की कारण स्वरूपा 'आदिशक्ति' का स्वरूप विवेचित करती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्शक्ति' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसी 'चित् शक्ति' से 'ब्रह्मा' से लेकर स्थावर (जड़) तक सभी प्रकट हुए हैं। 'चित् शक्ति' से ही शब्द, अर्थ और रूप आदि का प्राकट्य हुआ। 'चित् शक्ति' अद्वितीय है। अन्तः और बाह्य में विद्यमान चैतन्य शक्ति एक ही है। वही शक्ति 'अम्बा' आदि के रूप में विद्यमान है। वही परब्रह्मस्वरूप है। जो इस ब्रह्मस्वरूपा 'चित् शक्ति' को भली प्रकार जान लेते हैं, वे उस परमाकाश में सदा-सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं सब तथ्यों के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाऽमे मनसि ..... इति शान्तिः ॥ ( द्वृष्ट्य-अक्षमालिकोपनिषद् )

देवी ह्येकाग्र आसीत् । सैव जगदण्डमसृजत् । कामकलेति विज्ञायते । शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥१

सृष्टि रचना के पहले एक मात्र देवी ही विद्यमान थीं। उन्हीं के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि-संरचना सम्पन्न हुई। वे देवी कामकला और शृंगारकला के नाम से प्रख्यात हैं ॥ १ ॥

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत् । विष्णुरजीजनत् । रुद्रोऽजीजनत् । सर्वे मरुदूणा अजीजनन् । गन्धर्वा-प्सरसः किंनरा वादित्रवादिनः समन्नादजीजनत् । भोग्यमजीजनत् । सर्वमजीजनत् । सर्वशाक्तम-जीजनत् । अण्डजं स्वेदजमुद्दिङ्गं जरायुजं यत्क्लैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत् ॥२

उन देवी के द्वारा ही ब्रह्मा, भगवान् विष्णु एवं रुद्र प्रकट हुए। उन्हीं से सभी मरुदग्ण तथा गायन करने वाले गन्धर्व, नर्तन करने वाली अप्सराएँ एवं वाद्ययन्त्रों को झंकृत करने वाले किन्त्र प्रकट हुए। उन्हीं से उपभोग की सामग्री भी उत्पन्न हुई, सभी कुछ उन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज एवं जरायुज आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उनकी एवं मनुष्य की सृष्टि भी उन्हीं जगन्मयी देवी से हुई है ॥ २ ॥

**सैषाऽपरा शक्तिः । सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम् । ओमों वाचि प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥**

वे (देवी) ही अपरा शक्ति कहलाती हैं। वे ही शांभवीविद्या, कादिविद्या, हादिविद्या एवं सादिविद्या कहलाती हैं। वे (देवी) रहस्यमयी हैं। वे ही प्रणववाची अक्षर तत्त्वरूपा हैं। ॐ अर्थात् सत्-चित् आनन्दमयी वे देवी समस्त प्राणियों की वागिन्द्रिय में अवस्थित हैं ॥ ३ ॥

[ शाक्त तत्र के विविध प्रयोगों द्वारा भी आत्म-परमात्मतत्त्व की एकरूपता का बोध होता है, उसे ही यहाँ विद्या की संज्ञा प्रदान की गई है, जैसे- शांभवी विद्या-जिसके द्वारा परम कल्याणकारी (ईश्वर) का साक्षात्कार हो। कादिविद्या- 'क' आदि (क, ए, ई, ल, हीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या। हादिविद्या- 'ह' आदि (ह, स, क, ह, ल, हीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या तथा सादिविद्या- 'स' आदि (स, क, ल, हीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या। ]

**सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥ ४ ॥**

वे (देवी) ही इन तीनों (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) पुरों और इन तीनों प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) शरीरों को विस्तीर्ण करके बाह्य एवं अन्तः में आलोक फैला रही हैं। वे महात्रिपुर सुन्दरी प्रत्यक् चेतना के रूप में देश, काल एवं पात्र के अन्दर संगरहित होकर निवास करती हैं ॥ ४ ॥

**सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा । अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव**

विभाति । यदस्ति सन्मात्रम् । यद्विभाति चिन्मात्रम् । यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी । त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता । इतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी । सत्यमेकं ललिताख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म ॥ ५ ॥

वे (देवी) ही आत्मस्वरूपा हैं, उनके अतिरिक्त और सभी कुछ सत्यरहित, आत्मविहीन हैं । ये ब्रह्मविद्या रूपा हैं, भाव एवं अभाव आदि कला से विनिर्मुक्त चिन्मयीरूपा विद्या शक्ति हैं तथा वे ही अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली हैं । वे सच्चिदानन्दरूपी लहरों (तरंग) वाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाह्य एवं अन्तः में प्रविष्ट होकर स्वयमेव अकेली ही सुशोभित हो रही हैं । (उन देवी के अस्ति, भाति एवं प्रिय इन तीनों रूपों में) जो अस्ति है—वह सन्मात्र का बोध कराने वाला है, जो भाति है—वह चिन्मात्र का बोध कराने वाला है तथा जो प्रिय (आत्मीय) है—वही आनन्दमय है । इस तरह से समस्त आकारों में श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विद्यमान हैं । तुम और मैं, यह सारा जगत् एवं समस्त देवगण और अन्य सभी कुछ श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही हैं । ‘ललिता’ नामक एक मात्र वस्तु (शक्ति) ही शाश्वत सत्य है । वही अद्वितीय, अखण्ड, अविनाशी परमात्म तत्त्व है ॥ ५ ॥

**पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः । अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति ॥६ ॥**

(उन देवी के) पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप के परित्याग कर देने से एवं अपने स्वरूप के त्याग न करने से अधिष्ठान स्वरूप जो एक सत्ता शेष रह जाती है, वही परम अविनाशी तत्त्व है ॥ ६ ॥

**प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते । तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते । अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा ॥ ७ ॥**

उसी परमात्म तत्त्व को ‘प्रज्ञान ब्रह्म’ है या ‘मैं ब्रह्म हूँ’, ‘वह तू है’, ‘यह आत्मा ब्रह्म है’ या ‘मैं ही ब्रह्म हूँ’ या ‘ब्रह्म ही मैं हूँ’ आदि वाक्यों से अभिव्यक्त किया जाता है ॥ ७ ॥

**योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति ॥ ८ ॥**

‘जो मैं हूँ’ ‘वह मैं हूँ’ ‘जो वह है’ ‘सो भी मैं हूँ’ इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे ही यही षोडशी श्रीविद्या हैं । वही पञ्चदशाक्षर मंत्र से युक्त श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी, बाला, अम्बिका, बगला, मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, तिरस्करिणी, राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, गायत्री, ब्रह्मानन्दकला आदि नामों के द्वारा जानी जाती हैं ॥ ८ ॥

**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् । यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति । य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ इत्युपनिषत् ॥ ९ ॥**

ऋचाएँ, अक्षर-अविनाशी परमाकाश में स्थित रहती हैं, उसी में समस्त देवगण सम्यक् रूप से निवास करते हैं । उस (श्रेष्ठ-शाश्वत ज्ञान) को जानने का प्रयास जिसने नहीं किया, ऐसा वह (मनुष्य) ऋचाओं के पठन-मात्र से क्या प्राप्त कर सकता है? जो पुरुष उस परम आकाश को पूर्ण दृढ़निश्चयी होकर जान लेते हैं, वे ही पुरुष उस परमाकाश में हमेशा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं । इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

**॥ इति बहवृचोपनिषत्समाप्ता ॥**



## ॥ भावनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अर्थवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें परम्बा त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र पर आसीन होकर सर्वशक्तिमयी रूप को प्रकट करने का वर्णन है। सर्वप्रथम 'शिव' के ईश्वरत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'शक्ति' के सहयोग से ही वह 'शिव' कहे जाते हैं। तत्पश्चात् तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) में श्रीचक्र की भावना का विशद वर्णन है। इसके बाद देवशक्तियों के आवाहन, आसन, पाद्य आदि उपचार की भावना वर्णित है। अन्त में भावना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भी साधक इस प्रकार तीन मुहूर्त तक भावना-परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एकमात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है। वही साधक 'शिवयोगी' कहलाता है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

**श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ॥ १ ॥**

परम पूज्य 'श्री सदगुरु' ही सर्वप्रधान परम कारणभूत शक्ति हैं ॥ १ ॥

[ गुरु का शाब्दिक अर्थ है-गु=अज्ञानान्धकार, रु=नष्ट करने वाला । यह विशेषता परम शिव में ही है, वे ही सर्व-स्थिति-संहार करने में समर्थ हैं, इसीलिए उन्हें परमकारण शक्ति कहा है । ]

केन नवरन्धरूपो देहः । नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम् । वाराही पितृरूपा । कुरुकुल्ला बलिदेवता माता । पुरुषार्थः सागरा: । देहो नवरत्नद्वीपः । आधारनवकमुद्राः शक्तयः । त्वगादिसमधातुभिर-नेकैः संयुक्ताः संकल्पाः कल्पतरवः । तेजः कल्पकोद्यानम् । रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्त-कटुकघायलवणभेदाः घड्साः घड्तवः । क्रियाशक्तिः पीठम् । कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम् । इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी । ज्ञाता होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः । ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम् । नियतिसहिता: शृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः । कामक्रोधलोभमोहमद-मात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्मणाद्यष्टशक्तयः । पृथिव्यसेजोवाच्वाकाशश्रोत्रत्वक्षक्षुर्जिह्वाद्वाराणवाक्यपाणिपादपायूपस्थमनोविकाराः षोडश शक्तयः । वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षाबुद्धयो-जन्मङ्गुकसुमादिशक्तयोऽष्टौ । अलम्बुसा कुरुर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्ध्यारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः । सर्वसंक्षेपिण्यादिचतुर्दशारगा देवताः । प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया इति दश वायवः । सर्वसिद्धिप्रदा देव्यो बहिर्दशारगा देवताः । एतद्वायुदशकसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशोषकदाहक-प्लावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति । क्षारको दारकः क्षोभको मोहको जृम्भक इत्यपालनमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति । तेन मनुष्याणां मोहको दाहको भक्ष्यभोज्यलेह्योष्यपेया-त्मकं चतुर्विधमन्नं पाचयति । एता दश वह्निकलाः सर्वात्माद्यन्तर्दशारगा देवताः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः शीतोष्णासुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षुधनुः । वश्यो बाणो रागः पाशः द्वेषोऽङ्गुशः । अव्यक्तमहत्तत्त्वमहदहंकार इति कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः । पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनस्थितिः पञ्चदश नित्या श्रद्धानुरूपाधिदेवता । तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता ॥ २ ॥

किस हेतु से शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्ध होता है? नौ छिंदों से युक्त यह देह है तथा (विमल से लेकर ईशान तक) नौ शक्तियों से सम्पन्न यह श्रीचक्र है। इस देह की माता कुरुकुल्ला बलि देवी एवं पिता के रूप में वाराही हैं। देह के आश्रय रूप में धर्मादि चारों पुरुषार्थ ही इसके चार समुद्र के रूप में हैं। यह शरीर ही नवरत्न द्वीप है। इस द्वीप की आधारभूता शक्तियाँ (योनिमुद्रा आदि सर्वसंक्षोभिणी पर्यन्त) महात्रिपुरसुन्दरी आदि नौ हैं। त्वचा आदि सप्त धातुओं एवं अनेक अन्तः-बाह्य विकारों से युक्त नानाविधि संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है। (उस परमात्मा से भिन्न रमणीय नानाविधि) तेजस् स्वरूप-सा जीव ही उद्यान है। जिह्वा द्वारा आस्वादित किये जाने वाला मधुर, अम्ल, तिक्त (तीखा), कडुका, कषेला एवं नमकीन रस आदि छः ऋतुएँ हैं। क्रिया नामक जो शक्ति है, वही पीठ है। कुण्डलिनीरूपी ज्ञानशक्ति ही गृह है। इच्छाशक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी नामक आराध्या भगवती है। ज्ञाता ही होता (हवन करने वाला), ज्ञान ही अर्थ्य एवं ज्ञेय (ज्ञातव्य तत्त्व) ही हविरूप है। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय को भेदरहित मानना ही श्रीचक्र का पूजन है। अणिमादि सिद्धियों (अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राकाश्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति और सर्वकाम मुक्ति)' का सम्बन्ध नियति (प्रकृति निर्धारण) सहित शृंगार, वीर, करुण आदि नौ-रसों से है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य एवं पाप से युक्त ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पैर, मल-मूत्रेन्द्रियाँ तथा मन आदि विकार ही (मूल प्रकृति से उत्पन्न) षोडश शक्तियाँ हैं। वचन (बोलना), आदान (ग्रहण करना), गमन (गतिशील होना), विसर्ग (त्याग करना), आनन्द, हान (त्याज्य), उपेक्षा-बुद्धि एवं अनङ्ग-कुसुम आदि आठ शक्तियाँ हैं। अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इड़ा, पिङ्गला, सुषुप्ता आदि चौदह नाड़ियाँ सर्वसंक्षोभिणी आदि चतुर्दशार देवता हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय-ये दस प्राण सर्वसिद्धिप्रदा आदि देवियाँ बाह्य दशार देवता हैं। इन दस वायुओं के सम्पर्क एवं उपाधि भेद से रेचक, पूरक, शोषक, दाहक, प्लावक-ये अमृतस्वरूप प्राण मुख्यतः पाँच प्रकार के हैं। मानवों के मोहक एवं दाहक होते हुए चबाये जाने वाले, चाटे जाने वाले, चूसे जाने वाले तथा पिये जाने वाले इन चारों प्रकार के अन्नों को पचाते हैं। ये दस अग्नि की कलास्वरूप वायु ही सर्वज्ञत्व आदि अन्तः दशार देवता हैं। जाड़ा, गर्मी, सुख, दुःख, इच्छा, सत्त्व, रज, तम ही 'वशिनी' आदि आठ शक्तियाँ हैं। शन्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि पञ्च तन्मात्राएँ ही पाँच पुष्पबाण हैं तथा मन ही ईख का बना हुआ धनुष है अर्थात् मन के द्वारा ये रूपादि पञ्चबाण बाहर फेंके जाते हैं। वश में होना ही बाण है, राग (प्रेम) ही पाश (बन्धन) है और द्वेष ही अंकुश है। अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी आदि आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता हैं। पन्द्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम का अवलोकन करने वाले पन्द्रह नित्य श्रद्धानुरूप अधिदेवता हैं। उन (वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी) में आद्याप्रधान कामेश्वरी जो कि सत्, चित्, आनन्दघन स्वरूप हैं एवं परिपूर्ण (ब्रह्म) और आत्मा की ऐक्य रूपा देवता हैं ॥२॥

[यहाँ श्री यन्त्र लेखन की प्रक्रिया का उल्लेख है। बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल पद्म, षोडशदलपद्म और चतुरस्त्र आदि इसके पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके द्वारा 'श्रीयन्त्र' लिखा जाता है।]

सलिलमिति सौहित्यकारणं सत्त्वं। कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः। बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्तिव्यत्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदा-मोदानन्दासनदानमर्घ्यम्। स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्। चिच्वन्द्रमयीति सर्वाङ्गस्त्रवरणं स्नानम्। चिदग्रिस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्। प्रत्येकं सप्तविंशतिथा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञान-क्रियात्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम्। तेषामेव

सर्वदा स्वीकरणं धूपः । पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काकाशदेहो दीपः । समस्तयाताया-  
तवर्ज्य नैवेद्यम् । अवस्थात्रयाणामेकीकरणं ताम्बूलम् । मूलाधारादाब्रह्मरन्धर्पर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादा-  
मूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम् । तुर्यावस्था नमस्कारः । देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं  
बलिहरणम् । सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः । स्वयं तत्पादुका-  
निमज्जनं परिपूर्णध्यानम् ॥ ३ ॥

सलिल अर्थात् गुरु-मन्त्रात्मक देवों का एकीकरण रूप सत् तत्त्व ही कर्तव्य है और एकीकरण रूप न करना ही अकर्तव्य है । भावना योग ही इसका उपचार(पूजा)है । अस्ति (ब्रह्म है)-नास्ति(ब्रह्म नहीं है)की कर्तव्यता(निरन्तर अनुसन्धान करना)उपचार है । बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों के रूप ग्रहण की योग्यता ही आवाहन है । उसका बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों(इन्द्रियों)का एक रूप होकर विषयों का ग्रहण करना ही आसन है । रक्त एवं शुक्ल पद(सत् एवं तम गुणों)का एकीकरण पाद्य है । उज्ज्वल(निर्मल)दामोदनन्द(आनन्दमयब्रह्म) में सदैव अवस्थित रहने तथा इसी का दान(योग्य शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करना)-अर्थ्य है । स्वयं स्वच्छ एवं स्वतः सिद्ध होना ही आचमन है । चिदरूप चन्द्रमयी शक्ति से सम्पूर्ण अंगों का स्ववण (स्वेदयुक्त होना) ही स्नान है । चिद् अग्निस्वरूप परमात्मा की शक्ति का स्फुरण(प्रकाशित होना)ही वस्त्र है ।(इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि तीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से)हर एक के जो सत्ताईस भेद एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति स्वरूप ब्रह्म, (विष्णु एवं रुद्र)ग्रन्थि के मध्य स्थित सुषुमा नाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है,(क्योंकि यही नाड़ी ब्रह्म की द्योतिका है ।) अपने से पृथक् वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है । शुभ्र स्वरूप, जो ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, यही स्मरण करना 'गन्ध' है । समस्त विषयों का मन की स्थिरता द्वारा अनुसन्धान करना ही पुष्प(फूल)है तथा उसे स्वीकार करना ही धूप है । पवनयुक्त योग के समय प्राण, अपान की एकता से सुषुमा में सत्-चित्, उल्कारूप जो(प्रकाशरूप) आकाश देह है, वही 'दीप' है । अपने से अलग समस्त विषयों में मन की गति का गमनागमन स्थिर हो जाना ही नैवेद्य है । तीनों अवस्थाओं(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति)का एकीकरण ही ताम्बूल (पान)है । मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एवं ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक बार-बार आना-जाना ही प्रदक्षिणा है । चतुर्थ अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था में रहना ही 'नमस्कार' है । देह की जड़ता में ढूबना अर्थात् आत्मा को चैतन्य युक्त मानकर एवं शरीर को जड़ मानकर स्थिर रहना ही 'बलि' है । अपना आत्मतत्त्व ही स्वयं सत्य रूप है, ऐसा निश्चय करके कर्तव्य, अकर्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक आत्मा में विलास करना अर्थात् निरन्तर आत्मचिन्तन करना ही यज्ञ(हवन)है तथा स्वयमेव उस परब्रह्म-विराट् पुरुष(परमात्मा)की पादुकाओं में अनासक्त भाव से ढूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है ।(सारांश यह हुआ कि जिस प्रकार पूजन के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा एवं नमन-वन्दन आदि अपेक्षित होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त कहे गये पदार्थों का साधन कर लेना ही तद्-तद् धूप-दीप एवं नैवेद्य आदि हैं । इन्हीं मांगलिक पदार्थों को भावनापूर्वक समर्पित करने से ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है) ॥३ ॥

एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति । तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः । चिन्तितकार्याण्य-  
यत्नेन सिद्ध्यन्ति । स एव शिवयोगीति कथ्यते ॥ ४ ॥

इस तरह से जो भी मनुष्य (योगी-साधक) तीन मुहूर्त तक भावनापरायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है । वह एक मात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है तथा उसके द्वारा चाहे हुए कार्य बिना यत्न के ही पूर्ण हो जाते हैं और वही (साधक) शिवयोगी कहलाता है ॥ ४ ॥

॥ इति भावनोपनिषत्समाप्ता ॥

## ॥ महोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। महत् स्वरूप वाली यह महोपनिषद् श्री शुकदेव जी एवं महाराज जनक तथा ऋभु एवं निदाघ के प्रश्नोत्तर रूप में प्रकट हुई है। इसमें कुल छः अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम नारायण की अद्वितीयता एवं ईशत्व का विवेचन है। तदुपरान्त यज्ञीय स्तोम की उत्पत्ति, चौदह पुरुष एवं एक कन्या की उत्पत्ति, पच्चीस तत्त्वात्मक पुरुष की उत्पत्ति, रुद्र की उत्पत्ति, चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति, व्याहति, छन्द, वेद और देवताओं की उत्पत्ति, नारायण की विराट् रूपता तथा नारायण की उपलब्धि का स्थान हृदय बताया गया है। द्वितीय अध्याय में शुकदेव के स्वयं उद्भूत पारमार्थिक ज्ञान-तत्त्वज्ञान के होते हुए भी शुकदेव की अविश्वान्ति, व्यास जी के उपदेश के प्रति शुकदेव का अनादर, शुकदेव का जनक के पास जाना, जनक द्वारा शुक की परीक्षा, शुक-जनक संवाद, बन्धन-मोक्ष का विवेक, जीवन्मुक्ति स्थिति, विदेहमुक्ति स्थिति, शुकदेव के भ्रम का निवारण तथा शुकदेव को विश्वान्ति की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन है। तृतीय अध्याय का शुभारम्भ 'निदाघ' के विचार के साथ हुआ है। तदुपरान्त प्रपञ्च (जगत्) का अनित्यत्व, अहंकार, तृष्णा आदि की अनर्थकता, देह तथा उसकी अवस्था की निन्दा, संसार की दुःखमयता, स्त्री निन्दा, दिशाओं आदि की क्षणभंगुरता तथा वैराग्य से तत्त्व जिज्ञासा आदि विषय व्याख्यायित हैं। चतुर्थ अध्याय में मोक्ष के चार उपाय, शास्त्रादि द्वारा आत्मावलोकन विधि, समाधि का स्वरूप, जीवन्मुक्ति स्थिति, शम, सन्तोष, आत्मविश्वान्ति से कृतकृत्यता, दृश्य जगत् का मिथ्यात्व, आसक्ति तथा अनासक्ति से बन्धन और मोक्ष की स्थिति, संसार की मनोमयता, चैतन्य की अनुभूति ही समाधि, जगत् का मिथ्यात्व, शान्त मनःस्थिति से ब्रह्म प्राप्ति, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की महिमा, वासना के परिहार से मोक्ष की प्राप्ति, बन्ध-मोक्ष का मूल संकल्प तथा अनात्माभिमान के त्याग की विधि इत्यादि विषयों का विशद् विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्याय में अज्ञान एवं ज्ञान की भूमिका, 'स्वरूप' में स्थिति मोक्ष और 'स्वरूप' से नष्ट होना बन्धन, ज्ञान एवं अज्ञान की सात भूमिकाएँ, जीवन्मुक्त का आचरण, ज्ञान भूमिका का अधिकारी, ब्रह्म की अनुभूति ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय, मनोलय होने पर चैतन्य की अनुभूति, जगत् के भ्रामक ज्ञान को शान्त करने का उपाय, विषयों से उपरामता, तृष्णा को नष्ट करने का उपाय अहंभाव का त्याग, मन के अभ्युदय एवं नाश से बन्धन-मुक्ति, चित् (चैतन्य) विद्या का अधिकारी, माया से बचकर ही ब्रह्म प्राप्ति सम्भव, ब्रह्म की सृष्टि माया के अधीन तथा संकल्प (आकांक्षा) के नष्ट होने से संसार का मूलोच्छेदन सम्भव जैसे विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। छठे अध्याय में समाधि के अभ्यास से परमेश्वरत्व की प्राप्ति, ज्ञानियों की उपासना पद्धति, अज्ञानियों की दुःख स्थिति, मनोनाश का उपाय, वासना त्याग का उपाय, जीवन्मुक्त की महिमा, तृष्णा की त्याग विधि, चार प्रकार के निश्चय, अद्वैतनिष्ठ व्यक्ति के लिए संसार का अभाव, मुमुक्षु की ब्रह्मनिष्ठता और अन्त में इस उपनिषद् शास्त्र के पठन-पाठन का प्रतिफल वर्णित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह महोपनिषद् अपने नाम के अनुसार अनेकानेक महत्त्वपूर्ण विषयों का बड़ी कुशलता के साथ विशद् विवेचन प्रस्तुत करके अध्यात्मपथ के पथिकों का समुचित मार्गदर्शन करती है।

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणशक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्या मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमेश्वर ! मेरे समस्त अंग-अवयव बुद्धि को प्राप्त करें । वाणी, चक्षु, कर्णेन्द्रिय आदि समस्त कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, समस्त प्राण, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति ओजस्-तेजस् से परिपृष्ठ एवं विकसित हों । मैं उपनिषद् में प्रतिपादित अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप को कभी भी अस्वीकार न करूँ तथा वह ब्रह्म भी हमारा कभी परित्याग न करे । (वह) मुझे सदैव अपने सामीप्य का बोध कराता रहे । (उस ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ उस ब्रह्म का) प्रगाढ़ सम्बन्ध सतत बना रहे । उपनिषदों में वर्णित जो समस्त धर्म हैं, वे सभी उस परमात्म तत्त्व में निरत मुझमें सदैव प्रकाशित होते हुए स्थिर रहें । हे परमात्मन् ! त्रिविध ताप शान्त हों ।

## ॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥ २ ॥ स एकाकी न रमते ॥ ३ ॥

अब (ईश प्रार्थना के बाद) महोपनिषद् के व्याख्यान का शुभारम्भ किया जा रहा है । सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् नारायण ही थे । इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, आपः (जल), अग्नि एवं सौम आदि देवगण नहीं थे । ये द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी नहीं थे और न ही नक्षत्र, चन्द्रमा एवं सूर्य आदि ही थे । ऐसी स्थिति में उन (विराट् पुरुष) को एकाकी रहना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा ॥ १-३ ॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥ ४ ॥ तस्मिन् पुरुषाश्वतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशोऽहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्वतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिः भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥ ५ ॥ तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते । संवत्सरादधिजायन्ते ॥ ६ ॥

उन (विराट् पुरुष) का अन्तःकरण में स्थित ध्यान 'यज्ञस्तोम' अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ कहलाया । उनके द्वारा एक कन्या एवं चौदह पुरुष प्रादुर्भूत हुए । जिनमें से चौदह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सहित दस इन्द्रियाँ, एकादश-तेजस्वी मन, द्वादश अहंकार, तेरह और चौदह क्रमशः प्राण और आत्मा हैं तथा पन्द्रहवीं बुद्धि कन्या के नाम से कही गयी है । इनके अलावा पाँच सूक्ष्मभूत रूपी तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत आदि इन पच्चीस तत्त्वों के संयोग से एक विराट् पुरुष के शरीर का निर्माण हुआ । उस (विराट् शरीर) में ही परमात्मरूप आदिपुरुष ने प्रवेश किया । (इन पच्चीस तत्त्वों से संयुक्त पुरुष से) प्रधान संवत्सर आदि प्रकट नहीं होते । (अपितु) आदि पुरुष के कालरूप संवत्सर से ही (संवत्सर) प्रादुर्भूत हुए हैं ॥ ४-६ ॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत । तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्व्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते । बिभ्रच्छ्वियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहतय ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्ग्निरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि । तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन (विराट् पुरुष) भगवान् नारायण ने एक अन्य कामना से संकल्प युक्त हो अन्तःस्थ मन से ध्यान किया । अन्तःस्थ होकर ध्यान करने से उनके ललाट से त्रिनेत्रयुक्त, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए पुरुष की उत्पत्ति हुई । उस ऐश्वर्यशाली पुरुष के शरीर में यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, नियन्त्रित मन, श्री-सम्पन्नता एवं ओंकार सहित व्याहतियाँ, ऋग्, यजुः, साम, अर्थर्व आदि चारों वेद तथा समस्त छन्द प्रतिष्ठित थे । इसी कारण वह ईशान एवं महादेव के नाम से प्रख्यात हुए ॥ ७ ॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत । तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदो-  
जपतत् । ता इमाः प्रतता आपः । ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत ॥ ८ ॥

इसके पश्चात् पुनः उन भगवान् नारायण ने अन्य कामना से अन्तः में स्थित होकर ध्यान किया । उस अन्तःस्थ ध्यान में लीन नारायण के ललाट से पसीने की बूँदें निःसृत होने लगीं । वह पसीना ही चारों ओर फैलकर आपः (प्रकृति का मूल क्रियाशील द्रव्य) रूप में परिणत हो गया । उस आपः से ही तेजोमय हिरण्यगर्भरूप अण्ड की उत्पत्ति हुई और उसी तेज से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥ ८ ॥

**सोऽध्यायत् । पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्दं ऋग्वेदोऽग्निर्देवता । पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैषुभ्यं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता । उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता । दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुषुभ्यं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता ॥ ९ ॥**

उन पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने (चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न देवों का) ध्यान किया । पूर्व दिशा की तरफ मुख करके उन्होंने भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद तथा अग्निरेव का ध्यान किया । पश्चिमाभिमुख होकर भुवःव्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद सहित वायुरेव का ध्यान किया । उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर स्वःव्याहृति, जगती छन्द तथा सामवेद सहित सूर्य (सविता) देव का ध्यान किया और दक्षिण की तरफ अभिमुख होकर महःव्याहृति, अनुष्टुप् छन्द तथा अथर्ववेद सहित सोम देवता का ध्यान किया ॥ ९ ॥

[यहाँ पितामह के द्वारा जिन-जिनके ध्यान करने का उल्लेख है, वे सभी उसी ध्यान प्रक्रिया से प्रादुर्भूत होते चले गये ।]

**सहस्रशीर्ष देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम् । विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥ १० ॥**

जिन (विराट् पुरुष) के सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र हैं, जो सभी तरह से कल्याणकारी हैं, सर्वत्र संव्यास हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सभी रूपों में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे उन भगवान् नारायण का ब्रह्माजी ने ध्यान किया ॥ १० ॥

**विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति । पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम् ॥ ११ ॥**

ये भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप हैं, इन्हीं विराट् पुरुष पर समस्त जगत् का जीवन आश्रित है । ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण जगत् के पालक, विश्वरूप, विश्वेश्वर को तथा क्षीर सागर में योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले भगवान् श्रीनारायण का ध्यानावस्था में दर्शन प्राप्त किया ॥ ११ ॥

**पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम् । हृदयं चाप्यधोमुखं संतत्यै सीत्कराभिश्च ॥ १२ ॥**  
**तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम् । तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥ १३ ॥**  
**तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥ इति महोपनिषत् ॥ १४ ॥**

जो पद्मकोश के सदृश, आकोश (सम्यक् रूप से विकसित कोश) के आकार में लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, जिससे सतत सीत्कार शब्द निःसृत होता रहता है । उस हृदय के मध्य में एक महान् ज्वाला प्रदीप हो रही है । वही ज्वाला दीपशिखा की भाँति दसों दिशाओं में अविनाशी प्रकाश तत्त्व को वितरित करती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रही है । उसी ज्वाला के बीच में थोड़ी दूर ऊर्ध्व की ओर उठी हुई एक पतली सी वह्निशिखा स्थित है । उसी शिखा के मध्य में उस विराट् पुरुष परमात्मतत्त्व का वास-स्थल है । वे ही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु एवं ईशान हैं और वही देवराज इन्द्र हैं । वे ही अविनाशी अक्षर एवं परम स्वराट् भी हैं । यही महोपनिषद् है ॥ १२-१४ ॥

[ शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय के मध्य में एक स्थल होता है— ‘पेसमेकर’, जहाँ से हृदय को गति देने वाले लयबद्ध स्पंदन उभरते रहते हैं। हृदय की धड़कन पैदा करने वाले मूल कारण को वैज्ञानिक अभी तक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। ऋषि ने संभवतः उसी स्थल को चैतन्य ज्वाला के रूप में अनुभव किया है। ]

## ॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः । जातमात्रेण मुनिराइ यत्सत्यं तदवासवान् ॥ १ ॥  
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः । प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमासवान् ॥ २ ॥

शुक नामक महातेजस् सम्पन्न एक मुनी श्वर सतत आत्मा के आस्वादन में संलग्न रहते थे। जन्म के तुरन्त बाद ही उन्हें सत्य एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। इस कारण से उन्होंने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक चिन्तन-मनन करने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप को जानने की निश्चित धारणा बनाई ॥ १-२ ॥

अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः षष्ठेन्द्रियस्थितेः । चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः ॥ ३ ॥  
चिदणोः परमस्यान्तःकोटिब्रह्माण्डरेणवः । उत्पत्तिस्थितिमध्येत्यलीयन्ते शक्तिपर्ययात् ॥ ४ ॥  
आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः । न किंचिद्यदनिर्देशं वस्तु सत्तेति किंचन ॥ ५ ॥  
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः । स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत् ॥ ६ ॥

वचनों से परे होने के कारण, अगम्य होने के कारण तथा मन रूपी छठी इन्द्रिय में प्रतिष्ठित होने के कारण यह आत्मा अणु के आकार वाला, चिन्मात्र एवं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है। इस परम चिदरूप अणु के अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रमानुसार प्रकट एवं प्रतिष्ठित होकर विलीन होती रहती हैं। आत्मा बाह्य शून्यता के कारण आकाशरूप है और चिद्रूपता के कारण अनाकाशरूप है। इसके रूप का वर्णन न हो सकने के कारण यह वस्तुरूप नहीं है; किन्तु सत्ता होने से वस्तुरूप है। प्रकाशरूप होने के कारण वह चेतन है तथा वेदना का विषय न होने से वह शिला के सदृश (जड़) है। अपने अन्तः में स्थित आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र विभिन्न प्रकार के जगत् का उन्मेष (सृजन) करता है ॥ ३-६ ॥

तद्वामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक् । जगद्देदोऽपि तद्वानमिति भेदोऽपि तन्मयः ॥ ७ ॥  
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति । नास्त्यसावाश्रयाभावात्सद्गूपत्वादथास्ति च ॥ ८ ॥  
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेदर्दातुः परायणम् । सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ ९ ॥  
जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः । यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः ॥ १० ॥  
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः । अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः ॥ ११ ॥

यह विश्व उसी आत्मा का प्रकाशमात्र होने के कारण उस आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में दृष्टिगोचर होता है, वह भी उस आत्मा से अलग नहीं है। सभी से सम्बद्ध होने से उस आत्मा की गति यत्र-तत्र-सर्वत्र है; किन्तु उसमें गति न होने के कारण वह चलायमान नहीं है। वह आत्मा आश्रयरहित होने से नास्ति रूप है; किन्तु सत्त्वरूप होने के कारण वह अस्तिरूप है। वही धन-प्रदाता (दानी) की परमगति है। जो ब्रह्मानन्दमय है तथा चित्त द्वारा सारे संकल्पों का परित्याग ही जिसका ग्रहण है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति के अभाव को ही ज्ञानीजन जिसकी प्रतीति बताते हैं, जिसके संकोच एवं विकास से जगत् का विनाश एवं सृजन होता है। जो वेदान्त-वाक्यों की निष्ठास्वरूप तथा वाणी के लिए अकथनीय है, मैं वही सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म हूँ और अन्य दूसरा कुछ भी नहीं हूँ ॥ ७-११ ॥

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवाञ्छुकः । स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ॥ १२ ॥

इदं वस्त्वति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ । केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम् । भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥ १३ ॥

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव मुनि ने सभी कुछ जान लिया तथा स्वयं प्राप्त हुए परमात्मतत्त्व में वे अविश्वान्त सतत लगे रहने वाले मन से प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार का विश्वास उनकी आत्मा में प्राप्त हो गया कि 'यही वस्तु है', इससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार जलद के धारा प्रपात से सन्तुष्ट हुए चातक की चंचलता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शुकदेव जी का चित्त विभिन्न तरह के भोगों से प्रादुर्भूत विषय-चापल्य से विरत होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त हो गया ॥ १२-१३ ॥

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितः । पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥ १४ ॥  
संसाराडम्बरमिदं कथमध्युत्थितं मुने । कथं च प्रशमं याति किं यत्कस्य कदा वद ॥ १५ ॥

एक बार उन प्रज्ञावान् मनीषी श्री शुकदेव जी ने मेरु-पर्वत पर एकान्त में प्रतिष्ठित अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन मुनि के आश्रम में जाकर भक्तिपूर्वक अर्चना करके पूछा-हे श्रेष्ठ मुने! इस जगत् रूप प्रपञ्च का प्राकट्य किस प्रकार हुआ और इसका विनाश कैसे होता है? यह क्या है? किसका है और इसकी उत्पत्ति कब हुई? यह सभी कुछ कृपापूर्वक हमें बताने का अनुग्रह करें ॥ १४-१५ ॥

एवं पृष्ठेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे । यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥ १६ ॥  
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः । स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते ॥ १७ ॥  
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् । प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः ॥ १८ ॥  
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे । यथावद्वेत्यसौ वेद्यां तस्मात्सर्वमवाप्यसि ॥ १९ ॥  
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातलम् । विदेहनगरीं प्राप्य जनकेनाभिपालिताम् ॥ २० ॥

शुकदेव जी के इस प्रकार पूछे जाने पर आत्मज्ञानी व्यासजी ने उन्हें सभी बातें यथावत् बतला दीं, लेकिन ये सभी बातें तो दीर्घकाल से ही मालूम हैं, ऐसा जानकर शुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी की बातों को अपनी बुद्धि से वैसा विशेष सम्मान नहीं दिया। शुकदेव जी के इस भाव को व्यास जी समझकर बोले-हे पुत्र! मैं तुम्हारी इन सभी बातों को तत्त्वतः नहीं जानता हूँ। अतः यदि इस विषय की विशेष जानकारी चाहते हो, तो मिथिलापुरी में 'जनक' नाम के एक राजा राज्य करते हैं, वे तुम्हारी इन सभी बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। 'हे पुत्र! तुम उनसे सभी कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर शुकदेव जी सुमेरु-पर्वत से उतर कर समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक के द्वारा संरक्षित मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए ॥ १६-२०  
आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने । द्वारि व्याससुतो राजज्ञुकोऽत्र स्थितवानिति ॥ २१ ॥  
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवत्यवज्ञया । उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ ॥ २२ ॥  
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे । तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः ॥ २३ ॥  
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे । राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम् ॥ २४ ॥  
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भौजैर्भौगसंचयैः । जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम् ॥ २५ ॥  
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः । नाजहूर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम् ॥ २६ ॥  
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः । संपूर्णे इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः ॥ २७ ॥

तदनन्तर शुकदेव मुनि को आया हुआ देखकर द्वारपालों ने राजा जनक को यह संदेश दिया कि हे राजन्! राजद्वार पर व्यास जी के पुत्र श्रीशुकदेव जी आपसे मिलने के लिए आये हैं, उन (शुकदेव) मुनि की परीक्षा के

लिए महाराज जनक ने अवज्ञापूर्वक मात्र इतना ही कहा कि उनसे कहो कि 'वे वहाँ पर रुकें', इतना कहने के उपरान्त राजा सात दिनों तक पूरी तरह से शान्त रहे। इसके पश्चात् उन्होंने शुकदेव मुनि को अपने राज-प्राङ्गण में आमन्त्रित किया और वहाँ भी वे सात दिनों तक उसी तरह शान्त रहे। इसके अनन्तर राजा ने उन्हें अपने अन्तःपुर के आँगन में ससम्मान बुलवाया तथा वहाँ पर भी सात दिनों तक वे उनके समक्ष नहीं आये। विदेहराज जनक ने अन्तःपुर में युवती स्त्रियों, विभिन्न तरह के सुस्वादु पकवान एवं भोज्य पदार्थों सहित उन श्रेष्ठ मुनि शुकदेव जी का स्वागत-सत्कार किया। वे समस्त भोग एवं भोज्य सामग्री उन व्यासपुत्र श्रीशुकदेव जी के मन को ठीक वैसे ही नहीं डिगा सके, जैसे कि मन्द-मन्द प्रवाहित पवन दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए पर्वत को गतिशील नहीं कर सकता। वहाँ उस अन्तःपुर में ज्ञानी शुकदेव जी असङ्ग, समभाव वाले, निर्मल एवं पूर्णचन्द्र के सदृश प्रतिष्ठित बने रहे॥ २१-२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः। आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह॥ २८॥  
 निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः। किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागतमाह तम्॥ २९॥  
 संसाराङ्गमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो। कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाशु मे॥ ३०॥  
 यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना। तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया ॥ ३१॥  
 स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः। एतदेव हि पृष्ठेन पित्रा मे समुदाहृतम्॥ ३२॥  
 भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर। एष एव हि वाक्यार्थः शास्रेषु परिदृश्यते॥ ३३॥  
 मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात्। क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः॥ ३४॥  
 तत्किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम्। त्वत्तो विश्रममाप्नोति चेतसा ध्रमता जगत्॥ ३५॥

इस प्रकार जब राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के चरित्र की भली-भाँति परीक्षा ले ली, तब उन्हें अपने समीप बुलाया। उन्हें प्रसन्नचित्त देखकर राजा ने प्रणाम किया और उनका सत्कार करते हुए बोले- हे शुकदेव जी! आपने अपने सांसारिक कृत्यों को समाप्त कर दिया है तथा आपको सभी मनोरथ प्राप्त हैं, कृपया बताने का अनुग्रह करें कि अब आपकी क्या अभिलाषा है? श्रीशुकदेव जी ने जिज्ञासा भाव से कहा-हे गुरुवर! कृपया मुझे यह बताने की कृपा करें कि यह सांसारिक प्रपञ्च कैसे प्रादुर्भूत हुआ है तथा किस तरह से विलय को प्राप्त होता है? तब महान् ज्ञानी राजा जनक ने श्रीशुकदेव जी को सभी बातें तत्त्वतः बतला दी, इन्हीं बातों को उनके परम ज्ञानवान् पिता श्रीव्यास जी पहले ही बता चुके थे। इस पर श्रीशुकदेव जी ने कहा-हे गुरुश्रेष्ठ! हमने स्वयं ही इसकी विशेष रूप से जानकारी प्राप्त की थी, पूछने पर हमारे पिता श्रीव्यास जी ने भी यही बातें बतलायी थी। आपने भी यही बातें हमें बतायी हैं तथा ठीक ऐसा ही शास्त्रों का भी मत है। मन के विकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के विनष्ट हो जाने पर इस (प्रपञ्च) का भी विनाश हो जाता है। यह जगत् निन्दनीय एवं सार-रहित है, ऐसा निश्चित है, तब है महान् ज्ञानी राजन्! यह सब (जीवन आदि) क्या है? कृपा करके मुझे यथार्थ रूप से समझाने की कृपा करें। मेरा यह चित्त जगत् के विषय में दिग्भ्रान्त हो रहा है, अतः आपके सदुपदेश से ही शान्ति मिल सकती है॥ २८-३५॥

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया। श्रीशुक ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम्॥ ३६॥  
 यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ३७॥ दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।  
 संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥ ३८॥ अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः। मोक्ष  
 इत्युच्यते सद्ब्दिः स एव विमलक्रमः॥ ३९॥ ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः।

ज्ञातज्ञेयास्त उच्चन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥ ४० ॥ पदार्थभावनादार्द्यं बन्धं इत्यभिधीयते । वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्षं इत्यभिधीयते ॥ ४१ ॥

इसके पश्चात् राजा जनक ने कहा- हे शुकदेव जी ! अब मैं आपके प्रति सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहता हूँ- सुनो, यह ज्ञान समस्त ज्ञानों का सार एवं सभी रहस्यों का रहस्य है, अतः इसके जान लेने से वह पुरुष अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर लेता है । विदेहराज ने कहा कि यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा पूर्ण बोध जब हो जाता है, तब दृश्य विषय से मन की शुद्धि हो जाती है । तब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है और तभी उसे निर्वाण रूपी परम शान्ति मिल जाती है । जो वासनाओं का निःशेष परित्याग कर देता है, वही वास्तविक श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्धावस्था को ज्ञानीजनों ने मोक्ष कहा है । पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं, जो अनर्थ शून्य जीवन वाले हैं और जो ज्ञेय तत्त्व के ज्ञाता हैं, हे महान् ज्ञानी शुकदेव जी ! वे ही मनुष्य पूर्ण जीवन्मुक्त कहे जाते हैं । पदार्थों की भावनात्मक दृढ़ता को ही बन्धन और वासनाओं की क्षीणता को ही मोक्ष कहा गया है ॥३६-४१  
तपःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः । भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४२ ॥  
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः । न हृष्टति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४३ ॥  
हर्षमर्षभयक्रोधकामकार्पणदृष्टिभिः । न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४४ ॥  
अहंकारमर्यां त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः । तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४५ ॥

जिसे तप आदि साधनों के अभाव में स्वभाववश ही सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है । जो प्रतिपल प्राप्त होने वाले सुखों या दुःखों में आसक्त नहीं होता तथा जो न हर्षित होता है और न ही दुःखी होता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है । जो हर्ष, अमर्ष, भय, काम, क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है । जो अहंकार युक्त वासना को अति सहजता से त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सम्यक् रूप से त्याग भाव रखता है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४२-४५  
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु । सुषुप्तिवद्यश्वरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४६ ॥  
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः । प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति । यो जीवति गतस्त्वेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४७ ॥ संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते । यस्यासावजडा संवित्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४८ ॥ रागद्वेषो सुखं दुःखं धर्माधर्मो फलाफले । यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४९ ॥ मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः । यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५० ॥

जो सदैव अन्तर्मुखी दृष्टिवाला, पदार्थ की आकांक्षा से रहित और किसी भी वस्तु की अपेक्षा अथवा कामना से रहित सुषुप्ति के समान अवस्था में विचरण करता रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है । जो सदैव आत्मा में लीन रहता है, जिसका मन पूर्ण एवं पवित्र है, अत्यन्त श्रेष्ठ एवं शान्त स्वभाव को प्राप्त कर जो इस नश्वर संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन भाव से भ्रमण करता रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसका हृदय किसी भी पदार्थ में लिप्त नहीं होता तथा जो चेतन संवित् (सदज्ञानयुक्त) स्वरूप वाला है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है । जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा न रखता हुआ सदैव अपने कार्यों में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है । जो अहंभाव को त्याग करके, मान एवं मत्सर से रहित, उद्वेगरहित तथा संकल्पविहीन रहकर कर्म करता रहता है, उसी पुरुष को ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४६-५०

सर्वत्र विगतस्तेहो यः साक्षिवदवस्थितः । निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५१ ॥  
 येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् । सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५२ ॥  
 यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते । सा येन सुषु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५३ ॥  
 कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च । सममेव च यो भुइङ्कते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५४ ॥  
 जरामरणमापच्य राज्यं दारिद्र्यमेव च । रथ्यमित्येव यो भुइङ्कते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५५ ॥  
 धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी । धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५६ ॥

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षी भाव से जीवनयापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म-अधर्म का, सांसारिक विषय के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च जो दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका जिसने पूरी तरह से परित्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानी पुरुष खट्टे, चरपेर, कड़वे, नमकीन, स्वादयुक्त एवं अस्वाद को एक जैसा मानकर भोजन ग्रहण करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जरा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य एवं दारिद्र्य आदि में से जो समान भाव रखते हुए हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का अपने हृदय से पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५१-५६ ॥  
 उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया । न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५७ ॥  
 सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः । धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५८ ॥  
 जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च । सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५९ ॥  
 न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काइक्षति । भुइङ्कते यः प्रकृताभ्योगान्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६० ॥  
 शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः । यः सचित्तोऽपि निश्चितः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६१ ॥  
 यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः । परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६२ ॥

जो मनुष्य उद्वेग एवं आनन्द से रहित है तथा शोक और हर्षोल्लास में समान भाव एवं परिष्कृत बुद्धि से सम्पन्न है। सभी तरह की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं, कामनाओं तथा सारे निश्चयों को जिसने मन से पूर्णतः त्याग दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की अवस्था में तथा प्रगति और अवनति में जिस पुरुष का मन समान रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव नहीं रखता है, जो न किसी की इच्छा-आकांक्षा करता है। जो केवल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने सांसारिक विषयों की प्राप्ति की कामना को त्याग दिया है, जो चित्त में रहते हुए भी चित्तरहित हो गया है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष जगत् के सम्पूर्ण अर्थ जाल के बीच में प्रतिष्ठित होकर भी उससे पराये धन से अलग रहने वाले धर्मात्मा के सदृश अनासक्त रहता है, निश्चय ही वह आत्मा में ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति करने वाला महान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५७-६२ ॥  
 जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसाकृते । विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥६३ ॥  
 विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति । न सत्रासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥६४ ॥

वह पुरुष अपने शरीर के काल-कवलित हो जाने के पश्चात् जीवन्मुक्त स्थिति का परित्याग करके गतिहीन पवन के सदृश विदेहमुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की न तो उन्नति होती है और न ही अवनति तथा उसका विनाश भी नहीं होता। उसकी वह अवस्था सत्-असत् से परे होती है और वह किसी के दूरस्थ-समीपस्थ भी नहीं होता ॥६३-६४ ॥

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् । अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥ ६५ ॥  
न शून्यं नापि चाकारि न दृश्यं नापि दर्शनम् । न च भूतपदार्थौ यसदनन्ततया स्थितम् ॥ ६६ ॥  
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः । न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च ॥ ६७ ॥  
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् । अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ ६८ ॥

विदेहमुक्ति गम्भीर एवं स्तब्ध अवस्था को कहते हैं। उस अवस्था में न सर्वत्र प्रकाश व्याप्त होता है और न ही अन्धकार। उसमें नामविहीन एवं अभिव्यक्त न होने वाला एक तरह का सत् तत्त्व अवशिष्ट रहता है। वह शून्य एवं साकार भी नहीं होता है। दृश्य एवं दर्शन रूप भी नहीं होता है। उसमें ये भूत एवं पदार्थ- समूह भी नहीं होते हैं। केवल वह सत् अन्तरहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह ऐसा आश्चर्ययुक्त तत्त्व होता है कि जिसके रूप का निर्देशन नहीं किया जा सकता है। उसकी आकृति एवं प्रकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है और न असत् तथा सत्-असत् दोनों भी नहीं होता। वह भाव एवं भावना से परे होता है। वह मात्र चैतन्य ही होता है; किन्तु चित्तविहीन एवं अनन्त भी होता है। वह जरारहित, शिवस्वरूप एवं आत्मकल्याण- प्रद होता है। उसका आदि, मध्य एवं अन्त भी नहीं होता। वह अनादि एवं दोषरहित होता है ॥ ६५-६८ ॥

द्रष्टुदर्शनदृश्यानां मध्ये यदर्शनं स्मृतम् । नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ॥ ६९ ॥  
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् । स्वसंकल्पवशाद्वद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते ॥ ७० ॥  
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः । भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥ ७१ ॥  
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा । स्वरूपे तपसि ब्रह्ममुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥ ७२ ॥  
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः । शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी संपूर्णकेवलः ॥ ७३ ॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटी के मध्य में मात्र वह दर्शन स्वरूप ही कहा गया है। हे श्रीशुकदेव जी! इस सन्दर्भ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। आपने इस तत्त्वज्ञान को स्वयमेव समझ लिया है और अपने पिता श्रीव्यास जी से भी श्रवण कर लिया है कि जीव अपनी संकल्प शक्ति से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः आपने स्वयं ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जिसे जानने के पश्चात् इस नश्वर जगत् में साधुजनों को सभी दृश्यों से अथवा भोगों से विरक्ति पैदा हो जाती है। आपने पूर्ण चैतन्यावस्था में पहुँच कर सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को भी प्राप्त कर लिया है। आप तपःस्वरूप में स्थित हैं। हे ब्रह्मन्! आप मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अतः भ्रान्ति का परित्याग कर दें। हे शुकदेव जी! बाह्य एवं अति बाह्य, अन्तः में एवं उसके भी अन्तरंग को देखते हुए भी आप नहीं देखते हैं। आप सर्वदा पूर्ण कैवल्यावस्था में साक्षी भाव से विद्यमान हैं ॥ ६९-७३ ॥

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि । वीतशोकभयायासो निरीहशिष्ठन्नसंशयः ॥ ७४ ॥  
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम् ॥ ७५ ॥ तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।  
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥ ७६ ॥ व्यपगतकलनाकलङ्घशुद्धः स्वयममलात्मनि  
पावने पदेऽसौ । सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम ॥ ७७ ॥

विदेहराज जनक के इस तत्त्वदर्शन को सुनने के पश्चात् श्रीशुकदेव शोक, भय एवं श्रमविहीन होकर, संशयरहित और कामनारहित होकर परमतत्त्वरूप आत्मा में स्थित होकर शान्त भाव से विश्राम को प्राप्त हुए। अखण्ड समाधि हेतु वे सुमेरु पर्वत की चोटी की ओर वापस चले गये। वहाँ सहस्रों वर्षों तक स्नेहरहित दीपक के सदृश उन शुकदेव मुनि ने अन्तर्मुखी होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा परमशान्ति लाभ प्राप्त किया। संकल्प रूपी दोषों से मुक्त, शुद्ध स्वरूप, पवित्र, निर्मल एवं वासना रहित होकर वे महान् ज्ञानी शुकदेव जी अपने आत्मपद में वैसे ही एकाकार हुए, जैसे कि जलकण महासागर में विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं ॥ ७४-७७ ॥

## ॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः । विहृतस्तीर्थ्यात्रार्थं पित्रानुज्ञातवान्स्वयम् ॥ १ ॥  
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः । स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥ २ ॥  
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः । प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥ ३ ॥

अपने पिता (ऋभु) से अनुमति लेकर निदाघ नामक श्रेष्ठ मुनिपुत्र एकाकी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े । साढ़े तीन करोड़ तीर्थ-स्थलों में स्नान आदि सम्पन्न कर लेने के पश्चात् वे श्रेष्ठ मुनि अपने घर वापस लौट आए । उन महान् यशस्वी मुनि ने घर आकर अपने पिता ऋभुमुनि से अपनी समस्त यात्रा का वृत्तान्त कह सुनाया । उन्होंने कहा- हे पिताजी ! साढ़े तीन करोड़ तीर्थस्थलों में स्नान करने के पश्चात् जो पुण्य-फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिफल स्वरूप हमारे अन्तःकरण में इस तरह के श्रेष्ठ विचार प्रादुर्भूत हो रहे हैं ॥ १-३ ॥  
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च । अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥ ४ ॥ सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः । अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः । शिलष्वन्ते केवला भावा मनःकल्पनयानया ॥ ५ ॥ भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव । शास्त्रीतीदं कथं दुःख-मिति तसोऽस्मि चेतसा ॥ ६ ॥ चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे । संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामित्र ॥ ७ ॥ इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा । श्रीमुने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा ॥ ८ ॥ आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गरम् । उन्मत्त इव संत्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम् ॥ ९ ॥ विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् । अप्रौढात्मविवेकानामायुरायास-कारणम् ॥ १० ॥

यह जगत् उत्पन्न होता है मरने (विनष्ट होने) के लिए, पुनः मरता है जन्मने के लिए । समस्त चराचर प्राणियों की चेष्टा के साथ यह सारा प्रपञ्च (जगत्) अस्थिर एवं क्षणिक है । ऐश्वर्य की भूमि में प्रकट होने वाले ये समस्त पदार्थ आपत्तियों के मूलभूत कारण हैं । ये सभी पदार्थ लौह शलाका के सदृश परस्पर पृथक् रहते हुए मानसिक कल्पना रूपी चुम्बक द्वारा एकत्रित होते रहते हैं । जिस तरह मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति मरुस्थल में चलते-चलते (कष्ट के कारण) विरक्त हो जाता है, उसी तरह मैं भी इन सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ; क्योंकि ये सांसारिक भोग-पदार्थ मुझे दुःखदायी प्रतीत होने लगे हैं । अब इन समस्त दुःखों का शमन किस प्रकार होगा, ऐसा सोचकर मेरा हृदय अत्यधिक संतप्त हो रहा है । ये ऐश्वर्य रूपी धन-जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह चक्र की भाँति घूमते रहते हैं, मुझे आनन्दप्रद नहीं लग रहे हैं । स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजन सम्बन्धी मानो उग्र आपदाओं के घर हैं । हे मुनीश्वर ! इस जगत् में उदारता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी ये श्रीलक्ष्मी जी भी उपरम मोह को उत्पन्न करने वाली हैं । निश्चय ही इनके द्वारा जीव को आनन्द नहीं मिल सकता । जिस प्रकार पल्लव के अग्रभाग में जल कणिका बूँदरूप में लटकती है, वह क्षणिक है । उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी जल की बूँद के सदृश क्षणभंगर है । इस नाशवान् शरीर को असमय ही छोड़कर उन्मत्त की भाँति मुझे प्रस्थान करना ही पड़ेगा । जिनका चित्त विषय-वासना रूपी सर्प के सङ्ग से जर्जर हो गया है तथा जिन्हें प्रौढ़ आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, उनका जीवन कष्ट का ही हेतु बना है ॥ ४-१० ॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् । ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषियुज्यते ॥ ११ ॥  
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते । पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥ १२ ॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः । स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥ १३ ॥  
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः । ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १४ ॥  
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः । अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥१५

वायु का लपेटना, आकाश को खण्ड-खण्ड करना एवं जल की लहरों का गुन्थन भले ही सम्भव हो जाए, किन्तु जीवन में आस्था एवं विश्वास रखना सम्भव नहीं हो पाता । जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु को (सम्यक् रूप से) प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो जाए, वही तो वास्तविक जीवन कहलाता है । यों तो वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी जीवन धारण किये रहते हैं; किन्तु यथार्थ में वही जीवित है, जिसका मन निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहता है । इस नश्वर जगत् में उत्पन्न हुए उन्हीं प्राणियों का जीवन उत्कृष्ट है, जिन्हें पुनः आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता है । इससे भिन्न तो जरावस्था को प्राप्त गधे के सदृश हैं, जो कि अशक्त होते हुए भी भार ढोने के लिए विवश हैं । ज्ञानवान् मनुष्य के लिए शास्त्र, भार ढोने के सदृश है । राग-द्वेष में लिप्स मनुष्य के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त मनुष्य का मन तो स्वयं में ही भारस्वरूप होता है तथा जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह शरीर भी बोझा ढोने के सदृश ही है ॥ ११-१५ ॥

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः । अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परो रिपुः ॥ १६ ॥  
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम् । तत्तत्सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥ १७ ॥  
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति । मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥ १८ ॥  
क्रूरेण जडतां याता तृष्णाभार्यानुगामिना । वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन्मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥ १९ ॥  
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरूमूलनादपि । अपि वह्यशनाद्वह्यन्विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २० ॥  
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्वयम् । तस्मिन्श्चीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥ २१ ॥

अहंकार ही समस्त विपत्तियों के आगमन का हेतु है । इसी से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और तरह-तरह की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव होता है । इस कारण मनुष्य का अहंकार से बढ़कर और कोई भी शत्रु नहीं है । अहंकार के वशीभूत होकर मैंने चराचर रूप जिन-जिन भोगों का उपभोग किया है, वे सभी मिथ्या, भ्रमरूप थे । अहंकार का शून्य होना ही जीवन की यथार्थता है । वस्तु तो मात्र अहंकार शून्यता ही है । यह मन व्यर्थ ही परेशान होकर यत्र-तत्र दौड़ता रहता है । व्यर्थ ही दूर-दूर तक भ्रमण करता रहता है । इसका स्वभाव गाँव में इधर-उधर घूमने वाले कुत्ते की तरह है । मैं भी तृष्णारूपी कुतिया के पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति भटकता हुआ इस प्रकार क्रूर मन के वशीभूत होकर जड़वत् हो गया था । हे ब्रह्मन् ! अब मैं उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त हो गया हूँ । हे ब्रह्मन् ! चित्त को नियंत्रित करना, समुद्र को पूरी तरह पीने से भी कठिन है, सुमेरु पर्वत को उखाड़ केंकने से भी कठिन है और अग्नि के भक्षण से भी कठिन है । यह चित्त बाह्य एवं अन्तःकरण में विषय भोगों को ग्रहण करने वाला है, उसके आधार पर ही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं से युक्त संसार की स्थिति निर्भर है । चित्त के नष्ट होने पर यह जगत् नष्ट हो जाता है । अतः प्रयासपूर्वक चित्त की ही चिकित्सा करनी चाहिए ॥ १६-२१ ॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठं संश्रयामि गुणश्रियम् । तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥ २२ ॥  
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ता विफलमीहते । चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ २३ ॥  
क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् । क्षणं भ्रमति दिक्षुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥ २४ ॥

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णौका दीर्घदुःखदा । अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ २५ ॥  
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज । स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम् ॥ २६ ॥

हे श्रेष्ठ मुने ! मैं जिन श्रेष्ठ सदगुणों का आश्रय प्राप्त करता हूँ, मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूर्खिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है । यह तृष्णा चञ्चल बँदरिया के समान है, जो न लाँधने योग्य स्थान पर भी अपना पैर टिकाना चाहती है । वह तृष्णा होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती रहती है । एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती । क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है, क्षण मात्र में ही दिशारूपी कुञ्जों में भ्रमण करने लगती है । यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करने वाली भ्रमरी के समान है । यह तृष्णा ही इस नश्वर जगत् के समस्त दुःखों में दीर्घ काल तक दुःख देने वाली है, जो अन्तःपुर में निवास करने वालों को भी महान् संकट में डाल देती है । यह तृष्णा एक महामारी-हैजा है । इसे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण नष्ट कर सकता है, जिसने चिन्ता का पूरी तरह से परित्याग कर दिया है । यदि चिन्ता का थोड़ा भी परित्याग कर दिया जाए, तो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है । यदि थोड़ी-सी भी चिन्ता मन में शेष रही, तो उससे असीम दुःख की प्राप्ति होती है ॥ २२-२६ ॥

नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः ॥ २७ ॥ कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम् ।  
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम ॥ २८ ॥ पदित्कबद्धेन्द्रियपशुं वलात्तृष्णागृहाङ्गणम् ।  
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टुं देहगृहं मम ॥ २९ ॥ जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।  
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टुं देहगृहं मम ॥ ३० ॥

देह के सदृश तुच्छ, गुणरहित तथा शोक करने योग्य अन्य दूसरा कोई नहीं । इस शरीर रूपी विशाल गृह में अहंकाररूपी गृहस्थ निवास करता है । यह शरीर चाहे दीर्घकाल तक रहे अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाए, उसकी मुझे किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं है । जिस शरीर रूपी घर में इन्द्रियरूपी पशु पंक्तिवत् खड़े हैं तथा जिसके प्रांगण में तृष्णा रूपी बँदरी विचरण करती रहती है, जिसमें चित्त-वृत्तिरूप भूत्यों का समावेश है । ऐसा शरीर रूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है । जिह्वा रूपी बँदरी से पीड़ित हुआ यह मुख रूपी द्वार इतना भयभीत हो गया है कि आरम्भ में ही दन्तरूपी हड्डियाँ दिखाई पड़ रही हैं । ऐसा यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं लगता है ॥ २७-३०  
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने । नाशेकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥ ३१ ॥  
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च । स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥ ३२ ॥  
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा । जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥ ३३ ॥  
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा । बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥ ३४ ॥  
दासाः पुत्राः स्त्रियश्वेव बान्धवाः सुहृदस्तथा । हसन्त्युभ्यतकमिव नरं वार्धककमितम् ॥ ३५ ॥  
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा । सर्वापदामेकसखी हृदि दोहप्रदायिनी ॥ ३६ ॥

हे मुनीश्वर ! यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त एवं मांसादि से संब्यास है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आई ? यदि किसी ने शरक्तालीन बादलों की विद्युत् में एवं गन्धर्व की नगरी में स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है । बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, लोगों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है, अतः यह बाल्यावस्था भय का ही घर है । युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले, भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है । वृद्धावस्था के प्राप्त होने

पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं। वृद्धावस्था में शरीर असमर्थ हो जाने पर इच्छा-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली सारी आपत्तियों की प्रिय सहेली है ॥ ३१-३६ ॥

**क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना । आयुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृत्तति ॥३७ ॥**  
**तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम् । आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः । कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्रयम् ॥ ३८ ॥**

इस नक्षर जगत् में रहने वाले सांसारिक प्राणी जिस सुख की भावना करते हैं, आखिर वह कहाँ है ? काल आयु को तृण के सदृश काटता ही जा रहा है। वह काल छोटे से तृण एवं रजःकण को महेन्द्र एवं स्वर्णमय सुमेरु जैसे विशाल पर्वतों को भी सरसों के समान बना देने में समर्थ है। यह सभी का संहार करने में सक्षम तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए सभी को आत्मसात् करने को उद्यत है। इस काल के द्वारा तीनों लोक आक्रान्त हैं ॥ मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्चे । स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥ त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्त्वा विलोचने । समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुहासि ॥ ४० ॥ मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा । दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥ ४१ ॥ श्मशानेषु दिग्नेषु स एव ललनास्तनः । श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ ४२ ॥ केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः । दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ ४३ ॥

यंत्रवत् चञ्चल अङ्गरूपी पिंजड़े में मांस की पुतली की भाँति, स्त्रायु एवं हड्डियों की ग्रन्थि से बनी हुई इस स्त्रीदेह में ऐसी कौन सी-वस्तु है, जो शोभनीय कही जा सकती है ? आँखों में स्थित त्वचा, मांस, रक्त एवं अश्रु आदि इन सबको अलग-अलग करके अवलोकन करो; इनमें कौन सी वस्तु आकर्षक प्रतीत होती है ? यदि कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं, तो फिर व्यर्थ में मोह करने से क्या लाभ है ? हे मुने ! जो नारी सुमेरु पर्वत की चोटियों से उल्लिखित होने वाली भगवती माँ गंगा की चञ्चल गति की भाँति है; जो मुक्ताहार से पूर्णरूपेण सुरोभित देखी गई है; कालचक्र के समीप आने पर उसी नारी के मांस पिण्डरूप स्तन को श्मशान में कुते भक्षण करते हैं। जो नारियाँ केश एवं काजल धारण करने वाली तथा देखने में प्रिय लगने वाली होने पर भी न जिनका स्पर्श दुःख देने वाला होता है, वे ही विधाता की दुष्कृति रूप अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध कर देने वाली नारियाँ पुरुष को तिनके की भाँति जला डालती हैं ॥ ३९-४३ ॥

**ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः । स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ ४४ ॥**  
**कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः । नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ ४५ ॥**  
**जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् । पुंसां दुर्वासनारजुनारी बडिशपिण्डका ॥ ४६ ॥**  
**सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्दिक्यानया । दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ ४७ ॥**  
**यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्र भोगभूः । स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ ४८ ॥**

ये दूरस्थ प्रज्वलित नरकाग्नियों की तरह अशोभनीय एवं दुःखदायी ईंधनस्वरूप हैं। ये रसयुक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुतः रसहीन हैं। काम नामक किरात ने पुरुष रूपी मृगों को आबद्ध कर लेने के लिए स्त्री रूपी पाश को विस्तृत कर रखा है। ये पुरुष जीवनरूपी तलैया के मत्स्य हैं, जो चित्तरूपी कीचड़ में सतत विचरते

रहते हैं। इन मत्स्यरूपी पुरुषों को अपने बाहुपाश में फँसाने के लिए नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधी पिण्डका अर्थात् चारे की भाँति है। यह नारी समस्त दोषरूपी रत्नों को प्रकट करने वाले सागर की भाँति है। यह दुःखों की जंजीर सदैव हमसे दूर रहे। जिस पुरुष के पास नारी है, उसे भोग की इच्छा प्रादुर्भूत होती है और जिसके पास नारी नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण ही नहीं है। जिसने स्त्री का परित्याग कर दिया, उसका संसार छूट गया और वास्तव में इस नश्वर जगत् का परित्याग करके ही मनुष्य सुख को प्राप्त कर सकता है, वही सचमुच सुखी हो सकता है॥ ४४-४८॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत्। शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥४९॥  
शुष्ठुन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोप्यध्रुवजीवनः। सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्तो दानवादयः ॥५०॥  
परमेष्ठयपि निष्ठावान्हीयते हरिप्यजः। भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः ॥५१॥  
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः। नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥५२॥  
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः। क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत् ॥५३॥  
अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम्। विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ॥५४॥  
जन्मान्तरद्वा विषया एकजन्महरं विषम्। इति मे दोषदावाग्निदग्धे संप्रति चेतसि ॥५५॥

(यह जगत् नश्वर है, जब यह अव्यक्त स्थिति में चला जाता है, तब) दिशाएँ भी अदृश्य हो जाती हैं, देश भी दूसरों के लिए उपदेश-प्रद बन जाते हैं अर्थात् काल के गाल में विलीन हो जाते हैं, पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं तथा तारागण भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, ध्रुव-नक्षत्रादि का जीवन भी अस्थिर हो जाता है। सिद्धयोगी जन भी विनष्ट हो जाते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त शक्तिरहित होकर नष्ट हो जाते हैं। दीर्घकाल तक स्थायीरूप से निवास करने वाले पितामह ब्रह्मा जी एवं जन्मरहित भगवान् विष्णु भी अन्तर्धान हो जाते हैं, समस्त भाव अभाव में परिणत हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जरा-जीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवगण एवं समस्त प्राणिसमूह वैसे ही विनाश की ओर दौड़ते चले जाते हैं, जिस प्रकार सागरों का जल बड़वानल की ओर दौड़ता चला जा रहा है। आपत्तियाँ क्षणभर में विपत्तिग्रस्त बना देती हैं, तो क्षणभर में समस्त वैभव-सम्पदाएँ समीप में एकत्रित हो जाती हैं। क्षणभर में मृत्यु एवं क्षणभर में जन्म हो जाता है। ये सभी प्रपञ्च नश्वर हैं। इस जगत् में कायर पुरुषों के द्वारा शूरवीरों का संहार होता है, कभी-कभी एक के द्वारा सैकड़ों-हजारों का विनाश हो जाता है। विषय-भोगों के द्वारा चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विषरूप है। प्रत्यक्ष विष इतना भीषण विष नहीं कहा जाता; क्योंकि वह विष तो मात्र एक ही जन्म को नष्ट करता है और विषय-भोग तो जन्म-जन्मान्तर को ही विनष्ट कर देते हैं। अतः इस समय दोषरूपी दावानल से जला मेरा चित्त ऐसा ही प्रतीत हो रहा है॥ ४९-५५॥

स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि। अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो ॥५६॥  
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः। भावयन्मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः ॥५७॥  
इति महोपनिषद्॥

मृगमरीचिका (तृष्णा) के सरोवर में खड़े होने के बाद भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अतः हे पिता, हे गुरु! आप मुझे तत्त्वज्ञानात्मक बोध शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करने की कृपा करें। अन्यथा मैं मान एवं मत्सर का परित्याग कर अपने चित्त में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए चित्रलिखित की तरह से मौनव्रत स्वीकार कर लूँगा॥ ५६-५७॥ यही महोपनिषद् है।

## ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ञेयं ज्ञानवतां वर । प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया । चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥ १ ॥ मोक्षद्वारे द्वारपालाश्वत्वारः परिकीर्तिताः । शमो विचारः संतोषश्वतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत् । एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥ ३ ॥

अपने पुत्र निदाघ मुनि की सभी बातें सुनकर ऋषिवर ऋभु ने कहा-हे प्रभु! तुम ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो । अब तुम्हारे लिए कुछ भी जानकारी के योग्य शेष नहीं रह गया है । तुम ईश्वर की महती कृपा से अपनी ही प्रज्ञा-बुद्धि के द्वारा सभी कुछ समझ गये हो । फिर भी हे मुने! तुम्हारे चित्त में मलिनता के द्वारा जो भी भ्रम प्रादुर्भूत हुआ है, उसका मैं निवारण करूँगा । शम (मनोनिग्रह), विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्षद्वार के चार द्वारपाल के रूप में कहे गये हैं । यदि इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाये, तो शेष तीनों द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं ॥ १-३ ॥

**शास्त्रैः सज्जनसंपर्कपूर्वकेशं तपोदमैः । आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत् ॥ ४ ॥**  
**स्वानुभूतेशं शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता । यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥ ५ ॥**

सर्वप्रथम इस नक्षर जगत् से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप, दम (इन्द्रिय निग्रह), शास्त्र एवं सत्संग के द्वारा अपने सद्ज्ञान को बढ़ाया जाना चाहिए । अपनी आत्मा के अनुभव, शास्त्रों एवं गुरु के वचनों के उपदेश से सतत अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए ॥ ४-५ ॥

संकल्पाशानुसंधानवर्जनं चेत्रतिक्षणम् । करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम् ॥ ६ ॥  
 चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम् । तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ ७ ॥  
 चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम् । यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः ॥ ८ ॥  
 सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्यमाभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम् । सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टिर्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥ ९ ॥ सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम् ।  
 चित्रिष्णन्दंशमात्रं तत्रान्यदस्तीति भावय ॥ १० ॥ नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन्वापि जगल्क्रियाम् ।  
 आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ ११ ॥

यदि तुमने सदैव के लिए संकल्प एवं आशा के अनुसन्धान का परित्याग कर दिया है, तो तुम्हें वह कैवल्य की प्राप्ति हो ही गयी होगी । जो चित्त का अकर्तृत्व है, वही चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् समाधि कही गयी है । यही कैवल्यावस्था एवं परम कल्याणस्वरूपा परम शान्ति कहलाती है । इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में आत्म भावना का सम्यक् रूप से त्याग करके संसार में गूँगे, अंधे एवं बधिरों के समान तुम्हारे रहने से ही यह संभव है । सभी कुछ प्रशान्त है, एक है, जन्मरहित है, केवल अनुभवगम्य है, चित्तरहित है आदि जो शब्दरूप दृष्टि है, वह व्यर्थ ही है । आत्मबोध में बाधास्वरूप है । जो कुछ भी प्रपञ्च में दृष्टिगोचर होता है-तत्त्वतः वही प्रणवरूप है । यहाँ पर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है- वही दृश्य चिद-जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं, वह चित् के निष्पन्द का एक अंशरूप ही है । अतः चित् से (चैतन्य से) अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तुम ऐसी ही भावना करो । सांसारिक कार्यों को सतत करते हुए भी नित्य प्रबुद्धचित्त होकर आत्मा के एकत्व को जानकर प्रशान्त रहने वाले महासागर के सदृश निश्चल एवं स्थिरचित्त बने रहो । ऐसे ही कार्य करने में कल्याण की सम्भावनायें हैं ॥ ६-११ ॥

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः । प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥ १२ ॥  
 निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते । सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्ग्रन्थः ॥ १३ ॥  
 अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने । निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः ॥ १४ ॥  
 ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने । यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥ १५ ॥  
 तस्मान्नित्यमकर्ता हमिति भावनयेद्द्वया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ १६ ॥

यह आत्मज्ञान वासनारूपी तृण को दग्ध कर देने वाले अग्नि के सदृश हैं। इसे ही समाधि कहते हैं। केवल मौन रहकर बैठे रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न के इच्छारहित होकर पड़े रहने पर भी मनुष्य उसकी तरफ आकृष्ट होते ही हैं, वैसे ही मात्र सत्तारूप में विद्यमान परमात्म तत्त्व की ओर भी सम्पूर्ण विश्व आकृष्ट होता है। अतः हे पुत्र! इस आत्मा में ही कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों ही स्थित हैं। कामनाविहीन रहने पर ही आत्मा अकर्ता है और सन्निधि मात्र से वह कर्ता बन जाता है। हे मुने! कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का ही निवास अविनाशी परमात्मा में है। तुम्हें यह चमत्कार जिसमें भी परिलक्षित हो, उसी में प्रतिष्ठित हो जाओ। 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ', ऐसी भावना करने पर केवल परमामृत नामक सत्ता ही शेष रह जाती है ॥ १२-१६ ॥

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः । ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्द्रवः ॥ १७ ॥  
 नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा । नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्ठवर्त्मनि ॥ १८ ॥  
 आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः । समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः ॥ १९ ॥  
 अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः । नियतिं न विमुच्छन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ २० ॥

अतः हे निदाघ! जो प्राणी सत्त्व में स्थित होकर इस लोक में प्रकट हुए हैं, वे ही महान् गुणवान् हैं। वे ही सदा उत्त्रितशील होते हुए आकाश में स्थित चन्द्रमा के समान हर्षित होते रहते हैं। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्णिम कमल की भाँति रात्रिकालरूप आपत्तियों में कुम्हलाते नहीं हैं। वे प्राप्त भोगों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की इच्छा नहीं करते, वरन् शास्त्रोक्त मार्ग में ही भ्रमण करते रहते हैं। वे स्वतः अपने मन के अनुकूल रहकर ही मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा आदि गुणों से विभूषित होते रहते हैं। हे सौम्य! वे समान भाव में रहते हुए सतत साधु वृत्ति में एकरस बने रहते हैं। मर्यादा से परे होकर भी वे समुद्र के समान विशाल हृदय वाले हो जाते हैं। वे भगवान् भास्कर की भाँति अपने नियत-पथ पर हमेशा गमन करते रहते हैं ॥ १७-२० ॥

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम् । प्रविचार्य प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना ॥ २१ ॥  
 नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत् । द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया ॥ २२ ॥  
 शरीरमस्थि मांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम् । भूतमुक्तावलीतनुं चिन्मात्रमवलोकयेत् ॥ २३ ॥  
 उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम् । यदेतन्मनसो रूपं तद्वाह्यं विद्धि नेतरत् ॥ २४ ॥  
 गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने । ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः ॥ २५ ॥

प्राज्ञों, संतजनों के साथ प्रयत्नपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?' यह विराट् विश्व-प्रपञ्च किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ? कभी निरर्थक कार्यों में न लगा रहे तथा अनार्य पुरुष के संग से सदैव अपने को बचाता रहे। सभी की संघारक, मृत्यु के प्रति उपेक्षा भाव से न देखे। यदि उपेक्षा करनी ही है, तो शरीर, अस्थि, मांस एवं रक्त आदि को घृणास्पद जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, उसी प्रकार प्राणियों में पिरोये हुए परमपिता परमात्मा पर ही दृष्टि रखे। उपयोगी वस्तु की ओर भागना एवं अनुपयोगी वस्तु का सदैव के लिए त्याग कर देना ही मन का स्वभाव है। वह बाह्य है, आन्तरिक

नहीं, इसे जानना चाहिए। परमात्मतत्त्व के विषय में गुरु एवं शास्त्र के अनुसार बताये हुए मार्ग से तथा स्वानुभूति से 'मैं ही ब्रह्म हूँ', ऐसा जानकर शोक-रहित हो जाए ॥ २१-२५ ॥

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोद्व्यमग्निदाहो हिमसेचनमिवाङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव  
निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव  
मूकीकरणमाननमुद्रेव बाधिर्य महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यमेवं दृढ़वैराग्याद्वोधो  
भवति । गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया । यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥ २६ ॥

ऐसी अवस्था में खड़ग जैसा कठोर आघात, कमल के कोमल आघात के सदृश तथा अग्नि द्वारा दग्ध किये जाने का प्रभाव, शीतल जल में स्नान करने की भाँति सहन करने योग्य हो जाता है। आग के दहकते अंगारों पर लेटना, चन्दन के लेप के समान शीतल प्रतीत होता है। शरीर पर सतत बाणों के समूह का आघात, गर्भ को शान्त करने वाले फव्वारे के जलकणों की वर्षा के सदृश बन जाता है। सिर का काटा जाना, सुखप्रदायिनी निद्रा के समान; (जिह्वा आदि काटकर) गँगा हो जाना, मौनावलम्बन के समान बधिर हो जाना, उन्नति के समान सुख प्रदायी होता है; लेकिन यह अवस्था उपेक्षा करने से नहीं मिलती। इसकी प्राप्ति दृढ़निश्चयी होकर वैराग्यजनित आत्मज्ञान से ही सम्भव है। गुरु एवं शास्त्र वचनों के अनुसार तथा अन्तः अनुभूति के माध्यम आदि से जो अन्तः की शुद्धि होती है, उसी के सतत अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ २६ ॥

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् । तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय ॥ २७ ॥  
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः । न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः । केवलं  
तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम् ॥ २८ ॥

जैसे दिशा-भ्रम नष्ट हो जाने से पूर्व की भाँति ही दिशाबोध होने लगता है, वैसे ही विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर जगत् की स्थिति नहीं रहती, ऐसी भावना करनी चाहिए। मनुष्य का उपकार न धन से, न मित्रों से, न बान्धवों से; न शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से और न ही तीर्थ-स्थल में निवास करने से ही मनुष्य लाभान्वित होता है; वह तो चिन्मात्र में विलीन होकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है ॥ २७-२८ ॥  
यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः । शान्तचेतः सुतत्सर्वं तमोऽकेष्विव नश्यति ॥ २९ ॥  
मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च । विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥ ३० ॥  
न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च । न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः ॥ ३१ ॥  
श्रुत्वा स्पृष्टवा च भुक्त्वा च दृष्टवा ज्ञात्वा शुभाशुभम् । न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति  
कथ्यते ॥ ३२ ॥ तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम् । मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति  
कथ्यते ॥ ३३ ॥ तपस्विषु बहुजेषु याजकेषु नृपेषु च । वनवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥ ३४ ॥

स्थिर शान्तचित्त वाले व्यक्तियों के जितने भी दुःख, तृष्णायें एवं दुःसह दुश्चिन्तायें हैं, वे और समस्त विकार ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इस नश्वर जगत् में शम (मनोनिग्रह) से युक्त मनुष्य का कठोर एवं मृदु स्वभाव के समस्त प्राणी-जन वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसा माता पर उसके पुत्र विश्वास करते हैं। अमृत-पान एवं लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैग्या सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख व्यक्ति अपने मन की शान्ति से प्राप्त करता है। शुभ एवं अशुभ के श्रवण से, भोजन से, स्पर्श से, दर्शन से एवं जानने से, जिस मनुष्य को न तो प्रसन्नता होती है और न ही दुःख होता है, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। चन्द्रमा के मण्डल की भाँति जिसका मन सदा स्वच्छ रहता है एवं मरण-काल, मांगलिक उत्सव तथा युद्ध

में जिसका मन व्यग्र नहीं होता, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। वह (शम प्रधान) पुरुष तपस्वी जनों में, बहुश्रुतों में, याज्ञिकों में, राजाओं में, वन में वास करने वालों में एवं गुणज्ञों में भी शोभायमान होता है ॥ २९-३४ ॥  
**संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृसिमागताः । आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥ ३५ ॥**  
 अप्राप्तं हि परित्यज्य संप्राप्ते समतां गतः । अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्ट इति कथ्यते ॥ ३६ ॥  
 नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुद्भेदो यथेष्पितम् । यः स सौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते ॥ ३७ ॥  
 रमते धीर्घथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे । सा जीवन्मुक्तोदेति स्वरूपानन्ददायिनी ॥ ३८ ॥

जो सन्तोषरूपी अमृत को पीकर शान्त एवं सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे ही ज्ञानीजन आत्मा में रमण करते हुए महापद (परमात्मपद) को प्राप्त करते हैं। जो प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति चिन्तित नहीं होता और प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति समान (र्हष रहित) रहता है, जिसने सुख एवं दुःख का अवलोकन नहीं किया, वास्तव में वही सन्तुष्ट कहा जाता है। जो अप्राप्त वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता तथा उपलब्ध वस्तु का आवश्यकतानुसार ही उपभोग करता है, वही सौम्य एवं समभाव से श्रेष्ठ आचरण करने वाला व्यक्ति सन्तुष्ट कहा जाता है। अन्तःपुर के प्राङ्गण में जिस तरह साध्वी पती प्रसन्न रहती है, वैसे ही सहज क्रम में प्राप्त वस्तु में जब बुद्धि रमण करने लगती है, तभी वह स्वरूपानन्द प्रदायी जीवन्मुक्त स्थिति कहलाती है ॥ ३५-३८ ॥

**यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम् । यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम् ।**  
 तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि ॥ ३९ ॥ तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात् ।  
 जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः ॥ ४० ॥ नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।  
 निर्मन्दर इवाभ्योधिः स तिष्ठति यथास्थितः ॥ ४१ ॥

समय एवं देश के अनुसार शास्त्रानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्षपथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिन्तन करते रहें, जब तक कि उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाये। सदगृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी व्यक्ति तुरीयावस्था की विश्रान्ति से सम्पन्न है एवं इस संसार सागर से निवृत्त हो गया है, वह चाहे सांसारिक जीवन में व्यस्त रहे अथवा न रहे, उसे कोई भी कार्य करने या न करने से कोई मतलब नहीं है। उसे श्रुति-स्मृति के भ्रमजाल में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो मन्दराचल से विहीन (शान्त) सागर की भाँति आत्म-स्थित रहते हुए सभी कुछ प्राप्त कर लेता है ॥ ३९-४१ ॥  
**सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम् । भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम् ॥ ४२ ॥**  
 एवमात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः । तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते ॥ ४३ ॥

जब सभी के प्रति शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की तदात्मक (एकत्व) वृत्ति का उदय हो जाता है, तब दिशा एवं काल में विस्तीर्ण हुआ सम्पूर्ण बाह्य जगत्, चिद्रूपात्मक ही प्रतीत होता है। इस तरह आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ शीघ्र ही उसी रूप में वह अवस्थित हो जाता है एवं तदनुरूप ही विराजमान हो जाता है ॥ ४२-४३ ॥

**यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । तत्सुषुमाविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ ४४ ॥**  
 ऋत्तमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः । कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः ॥ ४५ ॥  
 यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्छनात् । न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा ॥ ४६ ॥

जो भी कुछ स्थावर एवं जंगम दृश्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् परिलक्षित होता है, वह प्रलय के समय में ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यह आत्मा ऋत (आदिकारण)

रूप है, परब्रह्म परमेश्वर है। वह सत्यरूप है। ये समस्त संज्ञायें विद्वज्जन एवं महान् आत्माओं ने व्यवहार के लिए कल्पित की हैं। जैसे कङ्कण (हाथ का आभूषण) शब्द एवं उसका अर्थ स्वर्ण से अलग अस्तित्व नहीं रखता और कङ्कण से प्रतिष्ठित स्वर्ण कङ्कण से अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता, ठीक वैसे ही 'जगत्' शब्द का तात्पर्य भी परब्रह्म ही होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं॥ ४४-४६॥

**तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते । द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते ॥ ४७ ॥**  
**द्रष्टा दृश्यवशाद्वद्धो दृश्याभावे विमुच्यते । जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते ॥ ४८ ॥**  
**मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते । यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ ४९ ॥**

उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर ने जगत् के रूप में यह इन्द्रजाल विस्तीर्ण किया है। द्रष्टा का दृश्य श्री सत्ता से अन्तः सम्बद्ध होना 'बन्ध' कहा जाता है। दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के अभाव में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह जगत्, 'मेरा-तेरा' रूप भाव वाली सृष्टि, दृश्य कहलाती है। इस संसार में प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मन के द्वारा ही प्रबुद्ध होता है। जब तक मन की यह कल्पना समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता नहीं दिखलाई पड़ता॥ ४७-४९॥

**ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा । मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ॥ ५० ॥**  
**न बाह्ये नापि हृदये सद्गूपं विद्यते मनः । यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥ ५१ ॥**  
**संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पस्तत्र विद्यते । यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम् ॥ ५२ ॥**  
**संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित् । संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते ॥ ५३ ॥**

यह संसार स्वयंभू ब्रह्मा जी की मानसिक सृष्टि है, अतः दृष्टिगोचर होने वाले इस विश्व को मनोमय ही समझना चाहिए। बाह्य अथवा अन्तःकरण में कहीं पर भी यह मन सदरूप में अवस्थित नहीं है। विषय वस्तुओं का बोध ही मन कहलाता है। संकल्प-विकल्प होना ही मन का स्वभाव है; क्योंकि वह संकल्प में ही रमण कर रहा है। अतः जो संकल्प है, वही मन है, ऐसा जानना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् नहीं कर सका। समस्त संकल्पों के विनष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है॥ ५०-५३॥

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे । स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते ॥ ५४ ॥  
 महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते । अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते ॥ ५५ ॥  
 अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः । सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ ५६ ॥  
 यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते । यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पितान् स्वभावतः ॥ ५७ ॥

'मेरा-तेरा' एवं इस जगत् आदि दृश्य प्रपञ्च (इन्द्रजाल) के शान्त हो जाने पर दृश्य जब सत्ता को अर्थात् परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब तदनुरूप ही वह कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। महाप्रलय की स्थिति आने पर जब सम्पूर्ण दृश्य जगत् अस्तित्व रहित हो जाता है, तब उस समय सृष्टि के पूर्वकाल में केवल प्रशान्त आत्मा मात्र ही शेष रहता है। जो आत्मरूपी सूर्य (सविता) कभी अस्ताचल की ओर गमन नहीं करता, जो अजन्मा एवं सर्वदोषरहित देव है, सदैव सर्वकर्त्ता तथा सर्वरूप है; जहाँ वाक्‌शक्ति जाकर वापस आ जाती है; जिसे मुक्त पुरुष ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पना मात्र हैं, स्वाभाविक नहीं हैं; (वे ही अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर कहे जाते हैं)॥ ५४-५७॥

**चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् । द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥ ५८ ॥**  
**देशादेशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् । निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ ५९ ॥**

तस्मिन्निरस्तनिः शेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत् । सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥ ६० ॥  
उदितौ दार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी । आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥ ६१ ॥  
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे । रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते ॥ ६२ ॥  
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम् । तदेव केवलीभावं ततोऽन्यतस्कलं मृषा ॥ ६३ ॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश—ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है। हे मुनिश्रेष्ठ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है— ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे। चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्तःकरण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरूप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रूप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है ॥ ५८-६३ ॥

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे । मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरेणुकोटरे ॥ ६४ ॥  
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निर्गीर्णो भृङ्गसूनुना । निदाघ विद्धि तादृक्तव्यं जगदेतद्भ्रमात्मकम् ॥ ६५ ॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त ऐश्वरत हाथी का सरसों के एक किनारे के छिद्र में बाँधा जाना असंभव है, एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना शक्य नहीं है और कमल की पंखुड़ी में प्रतिष्ठित सुमेरुरपर्वत को भ्रमर के बच्चे द्वारा निगले जाने की कथा मिथ्या है। उसी प्रकार यह विश्व भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। अतः हे निदाघ! तुम्हें इसकी सत्ता को भ्रमात्मक ही जानना चाहिए ॥ ६४-६५ ॥

चित्तमेव हि संसारे रागादिकलेशदूषितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ ६६ ॥  
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः । देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते ॥ ६७ ॥  
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम् । मनोविलाससंसार इति मे निश्चिता मतिः ॥ ६८ ॥  
नाविरतो दुश्शरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमनसो वापि प्रजानेनैनमाप्यात् ॥ ६९ ॥

राग-द्वेष आदि के विकारों से दूषित चित्त ही जगत् है। वही चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है, तभी इसे जगत् का अन्त यानी मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन के द्वारा शरीर की भावना किये जाने पर ही आत्मा देहात्मक बनती है। जब वह शारीरिक वासनाओं से मुक्त होती है, तभी वह (मन) शरीर के धर्मों में लिप्त नहीं होती। यह मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण में कल्पत्व भर देता है। अतः मेरी समझ में यह जगत् केवल मनोविलास अर्थात् मन का खेल मात्र ही है। जो मनुष्य दुश्शरित्रा से विलग नहीं हुआ है, एकाग्रचित्त नहीं है और जिसका चित्त अभी शान्त नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। तद्व्यानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्धनम् । विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥ ७० ॥  
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्रतं शिवम् । कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् । द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च । ममेति बध्यते जन्मुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥ ७२ ॥

उस आनन्द स्वरूप, द्वन्द्वों से परे, गुणरहित (गुणों से परे), सत् स्वरूप, चिदधन परब्रह्म को अपना-निज स्वरूप जान लेने के पश्चात् मनुष्य को किञ्चित् भी भय नहीं होता। जो महान् से महानतम् एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम्, तेजःस्वरूप, शाश्वत, कल्याण-प्रद, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर तथा सभी देवगणों के द्वारा सम्पूजित एवं उपास्य है, वह अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ—ऐसा निश्चय महात्माओं के लिए मुक्ति का माध्यम होता है। बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं, जिनमें प्रथम है—ममता एवं द्वितीय ममतारहित होना। ममता के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है और ममता से रहित हो जाने के पश्चात् वह (जीव) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ७०-७२॥

जीवेश्वरादिस्तुपेण चेतनाचेतनात्मकम् । ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।  
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥ ७३ ॥ त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः ।  
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः ॥ ७४ ॥ तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।  
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥ ७५ ॥

जीव रूप एवं ईश्वररूप से ईक्षण अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रारम्भ होकर तथा ब्रह्म में प्रवेश के अन्त वाले इस सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर के द्वारा ही की गई है। जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीव के द्वारा ही कल्पित है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेताग्नि से लेकर श्वेताश्वतर का योगपर्यन्त ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्ति के आश्रित है। चार्वाक मत से लेकर कपिल के सांख्यसिद्धान्त तक का दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित ज्ञान) जीव भ्रान्ति का आधार है। अतः जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद-विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए॥ ७३-७५॥

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात् । स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिविधिः ॥ ७६ ॥  
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् । दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरुरोः करुणां विना ॥ ७७ ॥  
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः । योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ॥ ७८ ॥  
यदा ह्यैवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः । विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ॥ ७९ ॥  
सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते । अज्ञानचक्षुर्नैक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥ ८० ॥  
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यं प्रज्ञानलक्षणम् । एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मत्येऽमृतो भवेत् ॥ ८१ ॥  
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८२ ॥

ज्ञानवान् पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को निर्विशेष चित् रूप मानता हो। वही (कल्याणकारी) शिव है, वही ब्रह्मा एवं विष्णु भी वही है। विषय वासनाओं का त्याग अत्यन्त दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है और सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यधिक दुःसाध्य है। जिसने अपनी बोधात्मिका शक्ति को जाग्रत् कर लिया है और अपने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी स्वयमेव सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है; जब तक व्यक्ति को इसमें थोड़ा भी अन्तर मालूम पड़ता है, तब तक उसके लिए भय है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। सर्वरूप-परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञान के नेत्रों से देखा जा सकता है, जिसके पास ज्ञान के नेत्रों का अभाव है, वह अविनाशी ब्रह्म को ठीक वैसे ही नहीं देख सकता, जिस प्रकार अंधे व्यक्ति को प्रकाशमान सूर्य (सवितादेवता) के दर्शन नहीं होते। वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। सत्य ही प्रज्ञान का लक्षण है। अतः ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। उस कार्य-कारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं॥ ८६-८२॥

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ । एकनिष्ठतयान्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव ॥ ८३ ॥  
 मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत् । जगत्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥ ८४ ॥  
 लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्पना । शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥ ८५ ॥  
 अधिष्ठानमनौपम्यामवाइमनसगोचरम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥ ८६ ॥  
 सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत् । संयमासंयमाभ्यां च संसारः शान्तिमन्वगात् ॥ ८७ ॥

- हे पुत्र निदाघ ! अनात्म भाव को त्यागकर, सांसारिक स्थिति में विकाररहित होकर अनन्य निष्ठापूर्वक अन्तः में प्रतिष्ठित होकर आत्म-चैतन्य में ही रमण करते रहो । जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से दिखाई देने वाला जल मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मविचार से ही चिन्मय जानना चाहिए । जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य बुद्धि का परित्याग करके केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी एवं स्वयं साक्षात् शिवरूप है । इस जगत् का अधिष्ठान अद्वितीय है, वाणी एवं मन की पहुँच से परे है । नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अव्यय स्वरूप से युक्त है । यह विश्व सर्वशक्तिमान् भगवान् महाशिव का मनोविलास मात्र ही है । संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) एवं असंयम (सहज ज्ञान) के द्वारा ये संभी सांसारिक प्रपञ्च शान्ति को प्राप्त होते हैं ॥ ८३-८७ ॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते । यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्यजन्मोक्षमश्रुते ॥ ८८ ॥  
 स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेष्टितत्यागवेदनम् । यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम् ॥ ८९ ॥  
 स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेष्टितत्यागरूपिणा । मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥ ९० ॥  
 असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा । सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ९१ ॥  
 भव भावनया मुक्तो मुक्तः परमया धिया । धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम् ॥ ९२ ॥

हे निदाघ मुने ! मैं तुम्हरे मन में प्रादुर्भूत होते हुए विकारों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाता हूँ । जिन-जिन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन पदार्थों का त्याग ही मानव के मोक्ष-प्राप्ति का साधन है । जिसके लिए अभिलिष्ट सांसारिक पदार्थों के त्याग की भावना, एकान्त प्रिय होना एवं आत्मा की अधीनता दुष्कर हो जाती है, ऐसे उस मनुष्य रूपी कीट (कीड़े) को धिक्कार है । अपनी इच्छित वस्तुओं एवं पदार्थों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना ही वास्तविक मन की शान्ति का श्रेष्ठ मार्ग है । इसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी गति नहीं है । सङ्कल्पशून्यता रूपी शस्त्रास्त्रों से जब इस चित्त का कर्तन कर दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी, शान्तरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है । इसलिए प्रपञ्च की भावना से रहित होकर प्रज्ञासम्पन्न होकर तथा चित्त को नियन्त्रित करके चिन्मात्र में प्रतिष्ठित हो जाओ ॥ ८८-९२ ॥

परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम् । ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया । मनो  
 मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नि नारयः ॥ ९३ ॥ अयं सोऽहमिदं तत्म एतावन्मात्रकं मनः ।  
 तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते ॥ ९४ ॥ छिन्नाभ्यमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते । वातेन  
 कल्पकेनैव तथान्तर्धूयते मनः ॥ ९५ ॥ कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः । तपन्तु  
 द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥ ९६ ॥ असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे ।  
 असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टव्यतपदः ॥ ९७ ॥

श्रेष्ठ पौरुष रूप अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके तथा चित्त को अचित्तावस्था में ले जाकर आकाश रूपी हृदय में चिन्तन करते हुए बराबर चैतन्य तत्त्व में लगे हुए चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन

का दमन कर देना चाहिए; ऐसा करते ही तुम्हारी सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी तथा कामादि रूप शत्रु, बन्धन में न बाँध सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे समस्त पदार्थ मेरे हैं, यह भावना ही मन है। इन्हीं भावनाओं के त्याग से मन को (काटने के उपकरण द्वारा काटने की तरह) विनष्ट किया जा सकता है। जैसे शरत्-काल के आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादलों के समूह वायु की ठोकरों से विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सद्विचारों के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयंकारी उनचासों पवन एक साथ प्रवाहित हों अथवा सभी सागर एक साथ सम्मिलित होकर एकार्णवरूप हो जायें। चाहे द्वादश आदित्य भी एक साथ मिलकर क्यों न तपने लगें; किन्तु फिर भी मन से विहीन मनुष्य को किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती। केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है। अतः तत्पद का आश्रय ग्रहण करके संकल्पहीनता के विस्तृत साप्राज्य में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ९३-९७॥

न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दूश्यते । चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥ ९८ ॥  
 एषाहि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता । तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाङ्गबरात्मिकाम् ॥  
 यतु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते । तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते ॥ १०० ॥  
 तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका । वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥ १०१ ॥

अचञ्चल मन कहीं पर नहीं दीखता, चञ्चलता मन का सहज धर्म है, जैसे अग्नि का सहज धर्म गर्भी प्रदान करना है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का स्वाभाविक धर्म है। इसी मानसिक शक्ति को सांसारिक प्रपञ्च का सहजस्वरूप जानना चाहिए। जो मन अचञ्चल हो जाता है, वही अमृतस्वरूप कहा जाता है, वही तप है। उसे ही शास्त्रीय-सिद्धान्त की दृष्टि से मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है और वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपी वासना को सद्विचारों के द्वारा काट देना चाहिए॥ ९८-१०१॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः । योज्यते तत्पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ ॥ १०२ ॥  
 अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा । विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥ १०३ ॥  
 मन एव समर्थ हि मनसो दृढनिग्रहे । अराजा कः समर्थः स्याद्राजो निग्रहकर्मणि ॥ १०४ ॥  
 तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम् । आवर्तेऽरुद्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः ॥ १०५ ॥  
 मनसैव मनश्छत्त्वा पाशं परमबन्धनम् । भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते ॥ १०६ ॥

हे निष्पाप मुने! मन को पुरुषार्थ के द्वारा जिस उद्देश्य में स्थिर करो, उसे प्राप्त करके निर्विकल्प समाधि को अर्जित करो। अतएव प्रयासपूर्वक चित्त को चित्त से वशीभूत करके शोकरहित अवस्था के आश्रय से, आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो। विषय विकारों से रहित मन ही मन का पूर्णरूपेण निरोध करने में समर्थ हो सकता है। किसी राजा को पराजित करने में कोई राजा ही समर्थ होता है। जो तृष्णारूपी ग्राह के द्वारा ग्रसित किये जा चुके हैं, जो संसार-सागर में गिरकर भँवरों के जाल में फँसकर अपने लक्ष्य से दूर भटक गये हैं, उन्हें बचाने के लिए विषय-विकारों से रहित मन ही समर्थ है, वही नौका का रूप धारण करके पार लगा सकता है। हे मुने! इस प्रकार के विकार-रहित मन के द्वारा इस विशाल बन्धनरूपी जाल को विनष्ट कर दो। स्वयमेव संसार-सागर से पार हो जाओ। अन्य और किसी के द्वारा यह संसार रूप सागर नहीं पार किया जा सकता॥  
 या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा । तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥ १०७ ॥  
 भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम् । भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥ १०८ ॥ एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च । यत्तसंवेद्यते किंचित्तत्रास्थापरिवर्जनम् ।

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥ १०९ ॥ अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते ।  
नामैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥ ११० ॥

जब-जब अन्तःकरण को आच्छादित करने वाली मनरूपी वासना का प्राकट्य हो, तब-तब उसका परित्याग करना ज्ञानी मनुष्य का परम कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने से अविद्या का विनाश हो जाता है। सर्वप्रथम भोगरूपी वासना का त्याग करो, फिर भेदरूपी वासना का त्याग करो, उसके पश्चात् भाव-भाव दोनों का ही त्याग करके निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखी हो जाओ। मन का विनाश ही अविद्या का विनाश कहा गया है। मन द्वारा जो कुछ भी अनुभूति में आता हो, उस-उसमें आस्था कदापि न होने दो। आस्था का परित्याग करना ही निर्वाण है और आस्था के आश्रित रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञा से रहित है, उन्हीं में अविद्या प्रतिष्ठित रहती है। सम्यक् प्रज्ञासम्पन्न मनुष्य नाम मात्र के लिए भी कहीं अविद्या को स्वीकार नहीं करते ॥ १०७-११० ॥

तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम् । आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु ॥ १११ ॥  
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी । स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी ॥ ११२ ॥  
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते । दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं होषा विलीयते ॥ ११३ ॥  
इच्छा मात्रमविद्येयं तत्राशो मोक्ष उच्यते । स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने ॥ ११४ ॥  
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये । कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥ ११५ ॥

इस दुःखरूपी कंटक से ओत-प्रोत संसार रूपी भ्रमजाल में तभी तक अविद्या अपने साथ देहधारी को निरन्तर भ्रमाती है, जब तक इसको विनष्ट करने वाली मोहनाशीनी आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती। यह अविद्या जब परमात्मतत्त्व की ओर देखती है, तब इसका स्वयं ही नाश हो जाता है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही लुप्त हो जाती है। केवल इच्छा मात्र ही अविद्या का स्वरूप है और इच्छा का पूरी तरह से नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। हे मुने! किन्तु इच्छा तभी समाप्त होती है, जब संकल्प का पूर्णरूपेण विनाश हो जाये, अन्यथा इच्छा का नाश असम्भव है। चित् रूपी सूर्य के प्रकाश से कलिरूपी अन्धकार क्षीण हो जाता है ॥ १११-११५ ॥

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् । यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ ११६ ॥  
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्गुणमक्षतम् । कल्पनान्या मनोनाम्नि विद्यते नहि काचन ॥ ११७ ॥  
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्रये । न च भावविकाराणां सत्ता क्रचन विद्यते ॥ ११८ ॥  
केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् । चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ ११९ ॥  
तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे । शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि ॥ १२० ॥  
यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति । चिच्छैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते ॥ १२१ ॥

जब चित्त विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सर्वत्र गमन करने वाला बन जाता है, तब उसकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा एवं परमात्मा के नाम से अभिहित होती है। अवश्य ही यह सभी कुछ ब्रह्म है। वह नित्य एवं चिद्गुणस्वरूप है। वही अव्यय है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र भ्रम ही है। इन तीनों लोकों में न तो किसी का जन्म होता है और न ही मृत्यु। ये जो भी भाव-विकार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी अस्तित्वहीन हैं। एकमात्र केवलाभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय तथा चित्त के विषयों का अनुगमन न करने वाले केवल चिन्मात्र की ही सत्ता यहाँ विद्यमान है। उस नित्य, सर्वत्रव्यापी, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रव-रहित, शान्तस्वरूप एवं शमरूप में स्थित विकाररहित चिदात्मा में स्वयंचित्त ही स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक गमन करता है, चित्त की वही संकल्परूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुए भी मनन करने के कारण मन कही जाती है ॥ ११६-१२१ ॥

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति । नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्वध्यते मनः । सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः ॥ १२२ ॥ कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम् । इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥ १२३ ॥ नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः । इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥ १२४ ॥ नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् । इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ॥ १२५ ॥

इस कारण संकल्प के द्वारा सिद्ध मन संकल्प द्वारा ही विनष्ट हो जाता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा सुदृढ़ संकल्प हो जाने से मन बन्धन-ग्रस्त नहीं होता और 'यह सभी कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा दृढ़ निश्चयी संकल्प हो जाने पर मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं क्षीणकाय हूँ, दुःखों से ग्रस्त हूँ, मैं हाथ पैर से युक्त हूँ, इस प्रकार के भावानुकूल व्यवहार से प्राणी बन्धनग्रस्त हो जाता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित मुझमें बन्धन कहाँ?' इस प्रकार के व्यावहारिक जीवन से ओत-प्रोत मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं मांस नहीं हूँ', अस्थि नहीं हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर जिसके अन्तस् से अविद्या नष्ट हो गयी है, वही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ १२२-१२५ ॥

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात् । परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया । भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥ १२६ ॥ मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम । इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्याति ॥ १२७ ॥ मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम् । अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ज इव रोदिषि ॥ १२८ ॥ कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः । यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥ १२९ ॥ अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् । तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना ॥ १३० ॥ अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तनुभिरद्रयः । अविद्यमाना या विद्या तथा विश्वं खिलीकृतम् । इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम् ॥ १३१ ॥

आत्म-रहित पदार्थों में आत्मभावना होना ही अविद्या जनित कल्पना है। अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके बुद्धिमत्तापूर्वक यत्र से भोग की आकांक्षा को दूर से ही छोड़कर, निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करो। यह 'मेरा पुत्र' 'मेरा धन' 'मैं यह हूँ' 'मैं वह हूँ', 'यह मेरा है' आदि समस्त वासनायें ही प्रपञ्च फैलाकर भिन्न-भिन्न क्रीड़ा कर रही हैं। तुम अज्ञानी मत बनो, ज्ञानवान् बनो, समस्त सांसारिक भावनाओं को विनष्ट कर दो। अनात्म विषयों में आत्मभावना से युक्त होकर मूर्खों की तरह क्यों रो रहे हो? यह मांस का पिण्ड, अशुद्ध, मूक, जड़ शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिए बलपूर्वक दुःख-सुख से अभिभूत हो रहे हो? अरे! कितना महान् आश्रय है कि जो अविनाशी ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्य ने विस्मृत कर दिया है। तुम अपने कर्तव्य-कर्मों में सदा लगे रहो। मन को अविद्यादि कर्मों में लिप्त न होने दो। अरे! कितने आश्रय की बात है कि कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत आबद्ध कर दिये गये हैं। जो अविद्या अस्तित्व रहित है, उसी के द्वारा यह विविध रूपात्मक जगत् अभिभूत हो रहा है। उस अविद्या के प्रभाव से तृणवत् तुच्छ, जाग्रत्, सुपुसावस्था आदि तीनों जगत् वज्र के समान दृढ़ परिलक्षित हो रहे हैं ॥ १२६-१३१ ॥

## ॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथायथम् । अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥ १ ॥ पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः । स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तदभ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ॥ २ ॥ शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये । रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः ॥ ३ ॥ यः स्वरूपपरिभ्रंशश्वेत्यार्थं चितिमज्जनम् । एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥ ४ ॥

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः । सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥५ ॥  
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः । जाग्रत्तिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥६ ॥  
अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता । अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥७ ॥

पुनः महर्षि ऋभु ने कहा—हे पुत्र! मेरे द्वारा कहे वचनों को भली प्रकार सुनो। अज्ञान और ज्ञान इन दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं। इनके बीच में अनेक दूसरी भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। अहंभाव ही मूल स्वरूप से पृथक् करने वाला है। स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है। शुद्ध सत्तारूप बोध ही आत्मा का रूप है, जो उस बोध की अवस्था से हटते नहीं, ऐसे साधकों को अज्ञान से पैदा हुए राग-द्वेषादि दूषित विकार प्रभावित नहीं कर पाते। आत्मस्वरूप से हटकर वासनात्मक स्वरूप में जो चित् का ढूबना है, इससे अधिक मोहग्रस्त होना दूसरा नहीं कहा जाएगा और न हो सकता है। एक विषय से दूसरे विषय में प्रवेश करते हुए जो मध्य में मन की अवस्था होती है, उसे 'ध्वस्तमन' के स्वरूप वाली स्थिति समझा जाता है, लेकिन सभी संकल्पों के पत्थर की शिला के समान भली प्रकार शान्त हो जाने पर निश्चेष्ट अवस्था जिसमें जाग्रत् और स्वप्नावस्था भी प्रायः चेष्टारहित होती है, वही परास्वरूप स्थिति कहलाती है। अहंभाव के क्षीण हो जाने पर शान्त, चेतन तथा भेदभाव से रहित चित्त की स्थिति ही स्वरूप अवस्था कहलाती है ॥ १-७ ॥

**बीजजाग्रत्तथा जाग्रत्स्महाजाग्रत्तथैव च । जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिकम् ॥ ८ ॥**  
**इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम् । श्रीष्टो भवत्यनेकाग्रयं शृणु लक्षणमस्य तु ॥ ९ ॥**

मोह के सात प्रकार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं—१. बीज जाग्रत् अवस्था, २. जाग्रत् अवस्था, ३. महाजाग्रत् अवस्था ४. जाग्रत्स्वप्नावस्था ५. स्वप्नावस्था ६. स्वप्न जाग्रत् अवस्था, ७. सुपुष्पावस्था। तत्पश्चात् यही परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण कर लेते हैं। अब इन सबके अलग-अलग लक्षण सुनें ॥ ८-९ ॥  
**प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः । भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥ १० ॥**  
**बीजस्तपस्थितं जाग्रद्वीजजाग्रत्तदुच्यते । एषा ज्ञर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु ॥ ११ ॥**

प्रथम 'बीज जाग्रत् अवस्था' वह है, जो नामरहित शुद्धचेतन की भविष्यत् में घटित होने वाली, चित्त-जीव आदि नाम के शब्दार्थरूप सम्बोधन से युक्त अवस्था है। वह बीजरूप में स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज जाग्रत् नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञाता की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् अवस्था की यथार्थ स्थिति सुनें ॥ १०-११ ॥  
**नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम । इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥ १२ ॥**  
**अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः । पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥ १३ ॥**  
**अरुद्धमथवा रुदं सर्वथा तन्मयात्मकम् । यज्जाग्रतो मनोराज्यं यज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥ १४ ॥**  
**द्विचन्द्रशुक्तिकारुप्यमृगतृष्णादिभेदतः । अभ्यासं प्राप्य जाग्रत्स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥ १५ ॥**

नवजात जीव के अन्तरंग में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' अर्थात् मैं और मेरेपन के भावों की स्थिति ही मोह की दूसरी 'जाग्रत् अवस्था' कही जाती है; क्योंकि उससे पूर्व यह भावना नहीं थी। 'महाजाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें 'यह वह व्यक्ति है, यह मैं हूँ, वह मेरी चीज है' आदि भावनाएँ पूर्वजन्मों के संस्कार सहित विदित होती हैं। अप्रचलित (अरुद्ध) अथवा प्रचलित (रुदः) एवं तन्मय होकर जो मन की काल्पनिक रचना जाग्रत् अवस्था में होती है, वह 'जाग्रत्-स्वप्न' कही गयी है। एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमाओं का, सीप में चाँदी का तथा मृग-मरीचिका में (बालू में) जल का आभास होना इत्यादि (जाग्रत् अवस्था में) अभ्यास को प्राप्त हुए जाग्रत्-स्वप्न के विभिन्न प्रकार हैं ॥ १२-१५ ॥

अल्पकालं मया दृष्टमेतत्रोदेति यत्र हि । परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते ॥ १६ ॥  
चिरं संदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः । चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः ॥ १७ ॥  
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत् । घडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः ॥ १८ ॥  
भविष्यददुःखबोधाद्य सौषुप्तिः सोच्यते गतिः । जगत्स्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते ॥ १९ ॥

'स्वप्रावस्था' वह कहलाती है, जिसमें कुछ समय पूर्व देखा गया दृश्य पुनः दृष्टिगोचर न हो और जागने पर उस दृश्य की मनुष्य को स्मृति मात्र शेष रहे। इसके पश्चात् 'स्वप्न जाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें पूरे विकास को न प्राप्त हुआ स्वप्न जो अनेक क्रिया-कलाओं द्वारा देर तक टिके तथा जो जाग्रत् की तरह ही उत्पन्न हो अथवा जागते हुए भी स्वप्न दिखाई दे। इन छः अवस्थाओं को पारकर जब जीव की जड़ात्मक स्थिति में प्रतिष्ठापना होती है, उस बीते हुए दुःखबोध से युक्त अवस्था को ही 'सुषुप्ति' कहा गया है। उस स्थिति में यह संसार आन्तरिक अंधकार में विलीन हो जाता है ॥ १६-१९ ॥

सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मया ज्ञानस्य वै द्विज । एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी ॥ २० ॥  
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ । नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्क्ते निमज्जति ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन्! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञानजनित मोह की सात भूमिकाओं को बतलाया। इसमें से प्रत्येक भूमिका विभिन्न ऐश्वर्ययुक्त, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में विविध रूप धारण करने वाली है। हे निष्पाप पुत्र! अब मैं तुम्हें ज्ञान की जो सात भूमिकायें हैं, उन्हें सुनाता हूँ, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मोहपङ्क्ति में नहीं फँसता ॥ २०-२१ ॥  
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः । मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥ २२ ॥  
अवबोधं विदुर्जानं तदिदं साप्तभूमिकम् । मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिकासमकात्परम् ॥ २३ ॥

ज्ञानीजनों ने योग भूमिकाओं के बहुविध भेद बतलाये हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही विशेष लाभप्रद मानता हूँ। इस प्रकार इन सात भूमिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला अवबोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। इन सात भूमिकाओं के अन्तर्गत होने वाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है ॥ २२-२३ ॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥ २४ ॥  
सत्त्वापत्तिश्वतुर्थी स्यात्तोऽसंसक्तिनामिका । पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ २५ ॥  
आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति । एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥ २६ ॥

पहली ज्ञान भूमिका को 'शुभेच्छा' नाम दिया गया है। दूसरी 'विचारणा', तीसरी 'तनुमानसी', चौथी 'सत्त्वापत्ति', पाँचवीं 'असंसक्ति', छठवीं 'पदार्थभावना' तथा सातवीं 'तुर्यगा' है। इन भूमिकाओं में पुनः शोकाकुल न होने देने वाली मुक्ति निहित है। अब तुम इन भूमिकाओं का विस्तार सुनो ॥ २४-२६ ॥  
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसञ्जनैः । वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ २७ ॥

शास्त्रसञ्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् । सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ २८ ॥

मैं भ्रमितमति क्यों हूँ? शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों से मैं इस सम्बन्ध में चर्चा करूँगा-इस प्रकार से वैराग्य धारण करने से पूर्व जो अभिलाषा जागती है, उसे ज्ञानियों ने 'शुभेच्छा' नाम दिया है। इसके बाद शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों के सान्निध्य लाभ से अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास एवं वैराग्य भावना से सदाचार की प्रवृत्तियों का प्राकट्य होता है, उसे ही 'विचारणा' नाम दिया है ॥ २७-२८ ॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता । यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥ २९ ॥  
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात् । सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ३० ॥

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति जब क्षीण हो जाती है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा गया है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा वैराग्य भाव के प्राबल्य से जब चित्त निर्मल सत्त्वरूप में स्थित होता है, इसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं ॥ २९-३० ॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या । रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥ ३१ ॥

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् । आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ ३२ ॥

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम् । पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥ ३३ ॥

इन सभी भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर चमकने वाली संसर्गहीन कला सत्त्वरूढ़ होती है, वही 'असंसक्ति' कहलाती है। इन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास के फलस्वरूप अपनी चेतना में ही रमते रहने तथा बाह्याभ्यन्तर पदार्थों की भावना के नष्ट होने पर 'पदार्थ भावना' नामक छठी भूमिका में पदार्पण होता है ॥ ३१-३३ भूमिषट्कचिराभ्यासाद्वेदस्यानुपलभ्नात् । यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यग्या गतिः ॥ ३४ ॥

एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते । विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम् ॥ ३५ ॥

इन छः भूमियों के परिपक्ष हो जाने पर भेद-बुद्धि का क्षय हो जाता है और आत्म-भाव में ही साधक की दृढ़निष्ठा हो जाती है, यही 'तुर्यग्या' अवस्था कही गयी है। इस तुर्यावस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही उपलब्ध कर पाते हैं। इसके बाद तुर्यातीत अवस्था है, जो विदेह मुक्ति का विषय है ॥ ३४-३५ ॥

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः । आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥ ३६ ॥

जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते । प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित्कुर्वन्ति वानवा ॥ ३७ ॥

हे निष्पाप! जो अति भाग्यवान् पुरुष सप्तमी तुर्यगावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा में रमणशील महात्मा महत्पद (परमपद) को ग्रहण कर चुके हैं। ऐसी जीवन्मुक्त आत्मायें सुख-दुःख के अनुभवों से सर्वथा निर्लिपि रहती हैं। वे कर्तव्य कर्मों में संलग्न रहकर भी उनसे लिपि नहीं होतीं ॥ ३६-३७ ॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् । आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥ ३८ ॥

भूमिकासप्तकं चैतद्वीमतामेव गोचरम् । प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये ॥ ३९ ॥

सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः । ज्ञसिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति विमुक्तता ॥ ४० ॥

अपने निकटस्थ परिजनों के सचेत किये जाने पर जैसे मनुष्य सोते से जाग पड़ता है, वैसे ही वे ज्ञानीजन सत्कर्मों में संलग्न रहकर सनातन आचरण की परम्परा निभाते हैं। इन सात भूमिकाओं को यदि पशु और म्लेच्छ आदि भी जान लें, तो वे भी देह रहते या देहत्याग के पश्चात् मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं, इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। हृदय-ग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मुक्ति सुनिश्चित है ॥ ३८-४० मृगतृष्णाम्बुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ । ये तु मोहार्णवात्तीर्णस्तैः प्राप्तं परमं पदम् ॥ ४१ ॥

ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः । मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते ॥ ४२ ॥

जैसे मृग-तृष्णा में जल की भ्रान्ति होती है, इसे ही अविद्या कहा गया है, अविद्या का नाश ही मुक्ति है। परमपद के अधिकारी वही हैं, जो मोहरूपी सागर से पार हो चुके हैं। अत्मसाक्षात्कार के प्रयत्नों में संलग्न पुरुष ही इन भूमिकाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। मन की पूर्णतया शान्ति के साधन को योग कहा गया है ॥ ४१-४२ ॥ सप्तभूमिः सविज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः । एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम् ॥ ४३ ॥ त्वत्ताऽहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन । न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा ॥ ४४ ॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम् । अनामयमनाभासमनामकमकारणम् ॥ ४५ ॥  
न सन्नासन्न मध्यं तं न सर्वं सर्वमेव च । मनोवचोभिरग्राहं पूर्णात्पूर्णं सुखात्सुखम् ॥ ४६ ॥  
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् । सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥ ४७ ॥

योग की इन सात भूमिकाओं को ज्ञानभूमि के अन्तर्गत ऊपर बतलाया जा चुका है। इन भूमिकाओं का लक्ष्य है—ब्रह्मपद की प्राप्ति। जहाँ तेरा-मेरा और अपने-परायेपन का संकीर्ण भाव मिट जाता है, उस समय न तो भावात्मक बुद्धि अवशेष रहती है और न ही भाव-अभाव का चिन्तन हो पाता है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं की सत्ता आत्मसंवेदन मात्र है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वथा शान्त, आलम्बन रहित, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान रहित, अनिर्वचनीय, कारणरहित, न सत्, न असत्, न मध्य, सम्पूर्णतारहित और सम्पूर्ण भी, मन-वाणी से अग्राह्य, पूर्ण से पूर्ण, सुख से सुखतरस्वरूप, संवेदन की पहुँच से परे, पूर्ण शान्त, आत्मानुभूतरूप तथा व्यापकता यह ब्रह्म का स्वरूप है। सभी पदार्थों की सत्ता के अतिरिक्त यह चैतन्य भिन्न नहीं है और इसकी प्राप्ति का आधार एक मात्र सम्यक् अनुभूति है ॥ ४३-४७ ॥

संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः । द्रष्टुर्दर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम् ॥ ४८ ॥  
देशादेशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः । अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥ ४९ ॥  
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम् । अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५० ॥  
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत् । अमनस्कस्वरूपं यत्तन्मयो भव सर्वदा । चित्तं दूरे  
परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥ ५१ ॥ पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्तेनाततं जगदिदं  
सविकल्पजालम् । शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम् ॥ ५२ ॥

द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध हो जाने पर मध्य में दृष्टि का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से भिन्न साक्षात्काररूप स्थिति ही है। चित्त के एक देश से दूसरे में प्रवेश करने के मध्य जो अवस्था होती है, उस जड़तारहित चेतनरूप चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहना चाहिए। जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़-चेतन विहीन जो सनातनरूप है, उसी में हमेशा स्थित रहो। जड़ता ही हृदय की पाषाणवत् स्थिति है, उसका परित्याग करने पर जो अमनस्क अवस्था है, उसी में सदैव लीन रहो। चित्त को दूर से ही त्यागकर जिस अवस्था में हो, उसी में स्थिर रहो। परमात्म तत्त्व से सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति हुई, पश्चात् उसी मन से विकल्पजालरूप यह संसार उत्पन्न हुआ। हे विप्र! शून्य से भी शून्य की उत्पत्ति होती है, जैसे- आकाश शून्य है, परन्तु इसी से मनोहर दिखलाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है ॥ ४८-५२ ॥

**संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते संसारमोहपिहिका गलिता भवन्ति ।**

**स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ॥ ५३ ॥**

संकल्प के विनष्ट हो जाने पर चित्तवृत्तियाँ गल जाती हैं और इसी के साथ संसार का मोहरूपी कुहरा भी छूट जाता है। ऐसे में शरदऋतु के आगमन पर स्वच्छ आसमान की तरह वह अजन्मा, आद्य, अनन्त, एक, चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सुशोभित होता है ॥ ५३ ॥

**अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् । अद्रष्टकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥ ५४ ॥**

**साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि । निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥ ५५ ॥**

बिना कर्त्ता और रङ्ग के आकाश चित्रित सा प्रतीत होता है। बिना द्रष्टा के स्वयं अनुभूत निद्राहीन स्वप्न दिखलाई देता है। यह चिदात्मा साक्षिरूप, सम (सबके प्रति समान रहने वाला), स्वच्छ, निर्विकल्प तथा दर्पणवत् है, उसमें बिना किसी आकांक्षा के तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ॥ ५४-५५ ॥

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डतम् । इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥ ५६ ॥  
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला । तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम् ॥ ५७ ॥

सर्वस्वरूप, चिदाकाशरूप और अखण्डत ब्रह्म एक है, चित की चपलता शान्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन उसी प्रकार करने चाहिए, जैसे एक मोटी पत्थरशिला पर रेखायें-उपरेखाएँ खिची होती हैं ॥ ५६-५७ ॥

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत् । ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ॥ ५८ ॥  
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन । पश्य विश्रान्तसंदेहं विगताशेषकौतुकम् ॥ ५९ ॥

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य कारण के न होने पर इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई (खरगोश के सांग की तरह यह त्रिकालबाधित है)। इस प्रकार मैंने (ऋभु का आत्मकथन) जो ज्ञातव्य था, उसे जान लिया, जो विलक्षणता देखनी थी, उसे देख लिया और चिरकाल से थका मैं अब विश्रान्ति को प्राप्त हो चुका हूँ। (हे निदाघ!) इस सम्पूर्ण जागतिक माया से विमुक्त होकर तथा संशयविहीन होकर तुम चिन्मात्र के दर्शन करो। चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ ही नहीं, ऐसा समझो ॥ ५८-५९ ॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम् । त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः ॥ ६० ॥  
महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् । जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ॥ ६१ ॥  
मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणां मनः । दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ॥ ६२ ॥  
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः । विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ॥ ६३ ॥  
सुसस्य घनसंभोहमये संसारवर्त्मनि । अत्यन्तपक्वैराग्यादरसेषु रसेष्वपि ॥ ६४ ॥  
संसारवासनाजाले खगजाल इवाधुना । त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लूथे वैराग्यरंहसा ॥ ६५ ॥  
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति । तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति ॥ ६६ ॥

जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है, जो चित्तत्वरहित महान् पद पा चुके हैं, ऐसे ही साधक निष्पाप होकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। मन को वश में करके जो विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधा की परिचायिका है। वेदान्त के विषय में चिन्तनशील मनुष्य, जिनकी चित्तवृत्तियों का क्षय हो चुका है और मानसिक संकल्पों के त्याग में अभ्यस्त होने से जिनका मन सुस्थिर हो चुका है। जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों तरह के दृश्यों का परित्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मज्ञान के साक्षात्कार में संलग्न तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्च को न देखने वाले हैं, जो ज्ञातव्य परमतत्व में विशेषरूप से जागरूक रहकर जीवन-यापन करते हैं, जो रसयुक्त तथा रसहीन इन सभी पदार्थों के प्रति अति सुस्थिर वैराग्य भाव से सघन मोहात्मक संसार पथ में सोये हुए हैं। वैराग्य की प्रबल भावना से चूहे द्वारा काटे गये पक्षी के पाश की तरह जिनकी सांसारिक वासना-तृष्णा का पाश कट चुका है और हृदय की ग्रथियाँ ढीली पड़ गई हैं, ऐसे साधकों का स्वभाव विशिष्ट ज्ञान से उसी प्रकार परिष्कृत-निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फल से जल निर्मल हो जाता है ॥ ६०-६६ ॥

नीरागं निरुपासङ्घं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् । विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पञ्चरादिव ॥ ६७ ॥  
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम् । परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥ ६८ ॥

मन के रागरहित, अनासक्त, द्वन्द्व से रहित तथा निरालम्ब हो जाने पर पिंजड़े से मुक्त हुए पक्षी की तरह ही मोह-बन्धन से मन की मुक्ति हो जाती है। संशयरूप दुरात्मभावना जिनकी शान्त हो चुकी है, जो प्रपञ्च कौतुक से विमुक्त हैं, उनका चित्त पूर्णमासी के चन्द्र के समान विशेष शोभा पाता है ॥ ६७-६८ ॥

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम् । इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति ॥ ६९ ॥  
अयत्नोपनतेष्वक्षिद्गदृश्येषु यथा मनः । नीरागमेव पतति तद्वक्तार्येषु धीरधीः ॥ ७० ॥  
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्ट्ये । विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥ ७१ ॥

न मैं स्वयं और न अन्य कुछ ही यहाँ है, मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म हूँ, जिसकी दृष्टि सत्-असत् के मध्य इस प्रकार की है, वही वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला है। जिस प्रकार दर्शनीय दृश्यों की तरफ मन स्वाभाविक रूप से बिना आसक्ति के ही खिंच जाता है, उसी प्रकार धीरमति पुरुष कर्तव्य कर्मों के निर्वाह में संलग्न रहते हैं। भली प्रकार सोच-समझकर भोगा गया भोग उसी तरह संतुष्टि का निमित्त बनता है, जिस तरह जान-बूझकर सेवा में संलग्न चोर चौरीकार्य को छोड़कर मित्रता ही निभाता है ॥ ६९-७१ ॥

अशङ्कितापि संप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः । प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते ॥ ७२ ॥  
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः । तमेवालब्धविस्तारं किलष्टत्वाद्घु मन्यते ॥ ७३ ॥  
बद्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्ट्यति । पैररबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥ ७४ ॥

जिस ग्राम में जाने का मन में कभी विचार भी नहीं था, ऐसे ग्राम में अचानक आ जाने पर यात्री जिस आश्चर्य भरी दृष्टि से उसे देखता है, उसी दृष्टि से ज्ञानीपुरुष भोग-ऐश्वर्यों पर दृष्टिपात करता है। बिना श्रम से उपलब्ध हुई स्वल्पमात्र भोग सामग्री को नियन्त्रित मन वाला साधक बहुत अधिक समझते हुए कष्टदायी मानकर त्याग देता है। शत्रु के बन्धन से मुक्त होने पर जो राजा-भोजन के एक ग्रास से सन्तुष्ट हो जाता है, वही राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त और आबद्ध न किये जाने पर राज्य के विशाल वैभव को भी तुच्छ ही मानता है ॥ ७२-७४ ॥  
हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च । अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥ ७५ ॥  
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे । महानरकसाम्राज्ये मन्तदुष्कृतवारणाः । आशाशरशला-काढ्या दुर्जया हीन्द्रियारथः ॥ ७६ ॥

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर अर्थात् स्वकीय सम्पूर्ण पराक्रम और साहस द्वारा मन को जीतने का प्रयास करे। इस संसार सागर में मन पर विजय पाने से बढ़कर अन्य उपाय नहीं है। इस भयंकर नरक रूपी साम्राज्य में दुष्कृत रूपी मतवाले हाथी भ्रमण करते हैं। आशारूपी बाणों और कटारों से सुसज्जित इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतना अत्यन्त मुश्किल है ॥ ७५-७६ ॥  
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः । पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥ ७७ ॥  
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः । एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥ ७८ ॥  
भृत्योऽभिमतकर्तृत्वाम्नन्त्री सर्वार्थकारणात् । सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः ॥ ७९ ॥

जो इन्द्रियरूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर चुके हैं तथा जिन्होंने चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है, उनकी भोग लिप्साएँ उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल का पौधा सूख जाता है। एकत्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब तक मन को नियन्त्रित नहीं कर लिया जाता, तब तक ही रात्रि में बेताल की तरह हृदय में वासना टिकी हुई रहती है। विवेकशील व्यक्ति अपने मन को अभीष्ट सिद्धि के लिए सेवक के समान सभी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मन्त्रीरूप तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वनियन्त्रित करने के लिए सामन्तरूप बना लेते हैं, ऐसा मेरा विचार है ॥ ७७-७९ ॥

लालनात्सिनग्धललना पालनात्पालकः पिता । सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः ॥ ८० ॥  
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावतः । प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता ॥  
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः । स्वगुणोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ॥ ८२ ॥

एनं मनोमणिं ब्रह्मन्बहुपद्मकलङ्कितम् । विवेकवारिणा सिद्धयै प्रक्षाल्यातोकवान्धव ॥ ८३ ॥

मेरे विचार से मनीषी का मन लालन करने के फलस्वरूप स्नेहमयी ललना-स्वरूप और पालन करने से पितृतुल्य है। शास्त्रानुकूल आचरण से, स्वयं के एकत्रित अनुभवजन्य ज्ञान प्रकाश से तथा विवेक बुद्धि से मनरूपी पिता परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अति हष्ट-पुष्ट, सुदृढ़, निर्मल, स्ववशीभूत, भली प्रकार चैतन्य तथा आत्मिक सदगुणों से प्रखर-तेजस्विता युक्त सुन्दर मनरूपी मणि हृदय में विराजमान है। हे ब्रह्मन्! बहुविध वासना-तृष्णा के कीचड़ से सने इस मनरूपी मणि को विवेक रूपी जल से निर्मल करके साधन-सिद्धि के लिए चमकदार (परिष्कृत) बनायें ॥ ८०-८३ ॥

**विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च । इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ॥ ८४ ॥**

सद्विवेक का अवलम्बन लेकर, बुद्धि से यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करके इन्द्रियरूपी वैरियों को तुम छिन्न-भिन्न कर पाओगे, इसी से संसार रूपी भवसागर से तुम पार उतरने में सक्षम हो सकोगे ॥ ८४ ॥

**आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः । अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः ॥ ८५ ॥**

वासनातनुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते । सा प्रसिद्धतिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥ ८६ ॥

धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि । तृष्णाया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥ ८७ ॥

**परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम् । यथाशास्त्रमनुद्गेगमाचरन्को न सिद्धिभाक् ॥ ८८ ॥**

संसार में मात्र आस्था (आशा) ही अनेक कष्टों की उत्पत्ति का कारण है और अनास्था (आशा-अपेक्षारहित जीवन) ही सुख का घर समझना चाहिए। वासनाओं के सूत्र से बँधा हुआ यह संसार पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। वह प्रख्यात वासना अति कष्टदायिनी बनकर समस्त सुखों का पूरी तरह से उच्छेदन करने के लिए आती है। जंजीर से सिंह के बाँधने के समान वासना के मोहपाश में धीर, कुलीन, अति बहुश्रुत तथा महान् व्यक्ति भी बँध जाते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ, परम पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर और श्रेष्ठ उद्यम करते हुए कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं करता? ॥ ८५-८८ ॥

**अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः । नान्यदस्तीति संवित्त्या परमा सा ह्यहंकृतिः ॥ ८९ ॥**

**सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः । इति या संविदो ब्रह्मन्दितीयाहंकृतिः शुभा ॥ ९० ॥**

**मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ ९१ ॥**

मैं समस्त विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं-इस तरह के बोधात्मक अहंभाव को उत्तम माना गया है। 'मैं सभी प्रपञ्च से भिन्न हूँ' मैं बाल के अग्रभाग से कहीं अधिक सूक्ष्म हूँ-इस प्रकार का दूसरा अहं भाव मोक्ष को देने वाला है, बन्धन में फँसाने वाला नहीं। जीवन्मुक्त आत्मायें ही ऐसे अहंभाव से युक्त होती हैं ॥ ९१-९१ ॥

**पाणिपादादिमात्रोऽयमहित्येष निश्चयः । अहंकारसृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ॥ ९२ ॥**

**जीव एव दुरात्मासौ कन्दः संसारदुस्तरोः । अनेनाभिहतो जन्तुरथोऽधः परिधावति ॥ ९३ ॥**

**अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तयाचिरम् । शिष्टाहंकारवाञ्छनुः शमवान्याति मुक्तताम् ॥ ९४ ॥**

मैं हाथ-पैर वाला मात्र स्थूल शरीरधारी हूँ- इस प्रकार की मान्यता जो तीसरे लौकिक अहंकार में होती है, उसे अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है। अहंकार से युक्त दुरात्मा प्राणी ही कष्टमय संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण है। इससे प्रताङ्गित प्राणी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता है। इस तृतीय दुःखमय अहंभाव का परित्याग करके लम्बे समय से शुभ अहंभाव में संलग्न प्राणी शान्तचिंत होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥ ९२-९४ ॥

प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ । तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥१५॥  
अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः । स तिष्ठति तथात्युच्चैः परमेवाधिरोहति ॥ १६ ॥

प्रारम्भिक दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे दुःखप्रद लौकिक अहंकार को त्याग दे। साधन शक्ति की वृद्धि पर इन सब प्रकार के अहंकारों को त्यागकर निरहंकारिता ग्रहण करे, उसी से उत्तमपद की प्राप्ति सम्भव है ॥ १५-१६ ॥

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्यागो मोक्ष उच्यते । मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः । ज्ञमनो नाशमध्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ॥ १७ ॥ नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम् । न सन्नासन्न चेतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः ॥ १८ ॥ यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते । तथा निरंशश्चिद्दावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥ १९ ॥

भोगेच्छा ही बन्धन कही गयी है और उसका परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। मन की प्रगति का कारण उसका नष्ट होना है। मन का नाश सौभाग्यवान् पुरुषों की पहचान है। ज्ञानी पुरुषों के मन का नाश हो जाता है। अज्ञानी के लिए मन बन्धन का कारण है। ज्ञानी पुरुषों के लिए मन न तो आनन्द रूप है और न ही आनन्दरहित है। उनके लिए वह चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् भी नहीं है अथवा इसके मध्य की स्थिति वाला भी नहीं है। अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापक होते हुए भी उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होती, जिस प्रकार चित्त में आलोकित होने वाला आकाश सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता ॥ १७-१९ ॥

सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता । सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ॥ १०० ॥  
आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी । सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी ॥ १०१ ॥  
नास्तमेति न चोदेति नोन्निष्ठति न तिष्ठति । न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित् ॥ १०२ ॥

सभी संज्ञाओं से रहित और संकल्पों से रहित यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामों से जाना जाता है। वह समस्त निर्मल संसार के रूप में एकमात्र स्वयं को ही दर्शाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह आकाश से भी सौ गुना स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप है। वह चेतनसत्ता न तो कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है, वह गमन-आगमन से रहित, न उठती और न स्थिर बैठी ही रहती है। वह न तो यहाँ और न ही वहाँ ही है ॥ १००-१०२ ॥

सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा ॥ १०३ ॥ आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् ।  
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥ १०४ ॥ अज्ञस्यार्थप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मोति यो  
वदेत् । महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥ १०५ ॥

वह चिदात्मा आश्रयहीन, विकल्परहित और शुद्धस्वरूप है। प्रारम्भ में शम-दम आदि गुणों द्वारा शिष्य के अन्तः का परिष्कार करना गुरु के लिए आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे बोधस्वरूप यह ब्रह्मज्ञान प्रदान करे-यह सभी कुछ ब्रह्मरूप है और तुम निर्मल ब्रह्मरूप हो। अपरिपक्व बुद्धिवाले और अज्ञानी के समक्ष सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसा कहना उसे मानो घोर नरक में धकेलने की तरह है ॥ १०३-१०५ ॥

[ऋषि कहते हैं कि प्रारम्भ में शिष्य-साधक को अभेद का उपदेश नहीं करना चाहिए। इसे पहले वाञ्छित-अवाञ्छित का भेद बताकर शम-दम आदि द्वारा चित्त शुद्ध करानी चाहिए। जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक अभेद समझाने के प्रयास में वह अवाञ्छित का त्याग नहीं कर पाता। आज के उपदेशक ऐसी भूल करके साधक को कुपश्य दे बैठते हैं।]

प्रबुद्धबुद्धः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः । नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेदगुरुः ॥ १०६ ॥  
सति दीप इवालोकः सत्यकं इव वासरः । सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा ॥ १०७ ॥

जिसकी भोग कामनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, आकांक्षाएँ समाप्तप्राय हैं तथा बुद्धि जागरूक है, उसी को वेदान्त का उपदेश प्राज्ञ गुरु प्रदान करे। अविद्यारूपी विकार का कोई अस्तित्व नहीं। जैसे सूर्योदय होने पर दिवस, दीपक से प्रकाश तथा पुष्प से सुगन्धि की स्थिति का होना निश्चित है, वैसे ही चैतन्य पर संसार विद्यमान है ॥ १०६-१०७ ॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः । ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधविततोदये ॥ १०८ ॥  
यथावज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम् । अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया ॥ १०९ ॥  
विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन्सर्वदोषापहारिणी । शास्त्र्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम् ॥ ११० ॥  
शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः । इदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ॥ १११ ॥

वास्तव में यह संसार अस्तित्व रहित है, यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि आवरण शून्य हो जायेगी और ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, ऐसे में तुम स्वयमेव अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तभी तुम्हें मेरे उपदेश की सत्यता का भली प्रकार बोध होगा। हे ब्रह्मन्! सब दोषों को दूर करने वाली विद्या की प्राप्ति स्वार्थभावना को विनष्ट करने के लिए प्रयत्नशील अविद्या द्वारा ही सम्भव होती है। अस्त्र द्वारा अस्त्र को निस्तेज किया जाता है और मल द्वारा मल धुलता है। विष द्वारा विष का शमन तथा शत्रु द्वारा शत्रु का हनन होता है। यह भूतमाया भी इसी प्रकार की है, जो अपने क्षय पर स्वयं हर्षित होती है ॥ १०८-१११ ॥  
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति । नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्द्वया ॥ ११२ ॥  
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा । भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत् ॥ ११३ ॥

आसानी से इसका स्वरूप देखने में नहीं आता, परन्तु दिखाई देते ही यह नाश को प्राप्त होती है। भेद दृष्टि का होना ही अविद्या है, इसका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणप्रद है। वस्तुतः माया का अस्तित्व है ही नहीं- सब कुछ ब्रह्मय है, ऐसी दृढ़ निश्चय से की गई आन्तरिक भावना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है ॥ ११२-११३ ॥  
मुने नासाद्यते तद्विद्धि पदमक्षयमुच्यते । कुतो जातेयमिति ते द्विज मास्तु विचारणा ॥ ११४ ॥  
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा । अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत्पदम् ॥ ११५ ॥  
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम् । तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने ॥ ११६ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! माया द्वारा जो नहीं पाया जाता, वह अक्षय पद के नाम से जाना जाता है। हे द्विज! इस माया की उत्पत्ति किससे हुई, इसके बारे में तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए; अपितु विचार यही रहे कि किस प्रकार इसे नष्ट करूँ? इसके क्षीण होकर विनष्ट हो जाने पर तुम क्षयरहित पद को पा सकोगे। इसके प्रकट होने का लक्षण इसका स्वरूप और इसके नष्ट करने के उपाय पर विचार करते हुए इस रोग के मूलकारण के निदान का प्रयास करना चाहिए ॥ ११४-११६ ॥

यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति । स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः ॥ ११७ ॥  
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम् । किंचित्क्षुभितस्तुपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे ॥ ११८ ॥  
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे । आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः ॥ ११९ ॥  
तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् । क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तिया तथा ॥ १२० ॥

जिससे यह तुम्हें आवागमन के जन्मचक्र में बारम्बार न डाले और चित् रूपी समुद्र निर्मल आत्म - स्पन्दन से विभासित हो सके। यह चिदात्मा अविभाजित रूप वाली है, अपने भीतर इस प्रकार का दृढ़निश्चय करना चाहिए। यह चिदात्मा चिन्मय सागर में कुछ क्षोभयुक्त हो रही है। सागर में लहरों की तरह निर्मल चिन्मय लहरें उठ रही हैं। आकाश सरोवर में जिस प्रकार वायु स्वयमेव लहराती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा में आत्मबल से आत्मा तरंगित होती है। सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा इस प्रकार की दैवी स्फुरणा क्षण मात्र के लिए होती है॥ ११७-१२०॥

**देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः संप्रकर्षणे । स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता ॥ १२१ ॥**

जिस चेतनशक्ति को देश, काल और क्रियाशक्ति चलायमान करने में अक्षम है, वही चेतनशक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानकर उच्च अनन्त पद पर प्रतिष्ठित है॥ १२१॥

**रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता । यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया ॥ १२२ ॥**

**तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः । विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम् ॥ १२३ ॥**

यह चेतन शक्ति अज्ञान स्थिति में सीमित सी होकर रूप भावना वाली होती है। उस विलक्षण परमसत्ता में जब रूप की भावना समाविष्ट होती है। उस समय उसके साथ नाम और संख्या आदि उपाधियाँ जुड़ जाती हैं॥ १२२-१२३॥

**चितो रूपमिदं ब्रह्मक्षेत्रज्ञ इति कथ्यते । वासनाः कल्पयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः ॥ १२४ ॥**

**अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते । बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम् ॥ १२५ ॥**

हे ब्रह्मन्! चेतनशक्ति का वह रूप जो देश, काल और क्रिया का आश्रयरूप है तथा विकल्परूप को ग्रहण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वही वासनात्मक चिन्तन से अहंकाररूप कहा जाता है। जब अहंकार भी निश्चयात्मक और दोषपूर्ण हो जाता है, तो बुद्धि कहलता है। बुद्धि भी जब संकल्परूप में परिणत हो जाती है, तो मननशील मन का रूप धारण करती है॥ १२४-१२५॥

**मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः । पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ॥ १२६ ॥**

मन के गहरे विकल्प में ढूबने पर धीरे-धीरे इन्द्रियस्वरूप की झलक मिलती है। मेधावी पुरुष हस्तपाद युक्त स्थूल शरीर को ही इन्द्रिय मानते हैं॥ १२६॥

**एवं जीवो हि संकल्पवासनारञ्जुवेष्टिः । दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम् ॥ १२७ ॥**

**इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम् । कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥ १२८ ॥**

संकल्प और वासना की रस्सी से बँधा हुआ जीव दुःख-जाल में फँसकर निरन्तर दुर्गति की ओर बढ़ता है। रेशम बनाने वाले कीड़े की तरह शक्तिमय चित् घनीभूत अहंभाव को प्राप्त करके स्वेच्छा से बन्धन में बँधता है॥ १२७-१२८॥

**स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च । परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत् ॥ १२९ ॥**

चित्शक्ति अपने ही द्वारा संकल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में जकड़कर जंजीर से बँधे हुए सिंह के समान अत्यन्त लाचार हो जाती है॥ १२९॥

**क्रचिन्मनः क्रचिद्बुद्धिः क्रचिज्ञानं क्रचिक्रिया । क्रचिदेतदहंकारः क्रचिच्छित्तमिति स्मृतम् ॥**

**क्रचित्प्रकृतिरित्युक्तं क्रचिन्मायेति कल्पितम् । क्रचिन्मलमिति प्रोक्तं क्रचित्कर्मेति संस्मृतम् ॥**

**क्रचिद्वन्ध इति ख्यातं क्रचित्पुर्यष्टकं स्मृतम् । प्रोक्तं क्रचिदविद्येति क्रचिदिच्छेति संस्मृतम् ॥**

इसी आत्मा को कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहंकार और कहीं चित्तरूप में जाना जाता है। यही कहीं प्रकृति और कहीं माया कहलाती है। कहीं बन्धन तो कहीं पुर्यष्टक (सूक्ष्मशरीर) कहा जाता है। इसे कहीं अविद्या और कहीं इच्छा नाम से जाना जाता है। १३०-१३२ ॥

**इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् । दधदन्तःफलैर्हीनं वटथाना वटं यथा ॥ १३३ ॥**

यह आशा रूपी जाल का रचयिता सम्पूर्ण विश्व को वैसे ही धारण करता है, जैसे फलरहित वट का बीज वटवृक्ष को धारण करता है। १३३ ॥

**चिन्तानलशिखादग्रथं कोपाजगरचर्वितम् । कामाब्धिकल्पोलरतं विस्मृतात्मपितामहम् ॥ १३४ ॥**

यह मन चिन्तारूपी अग्निज्वाला से दर्थ हुआ, क्रोधरूपी अजगर द्वारा काटा गया और कामरूपी सागर के भॅवर में फँसा हुआ है, यह अपने पितामह आत्मा को विस्मृत कर चुका है। १३४ ॥

**समुद्धर मनो ब्रह्मन्मातङ्गमिव कर्दमात् । एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाहिताः ॥ १३५ ॥**

**ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षणोऽप्यथ कोटिशः । संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः ॥**

**उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात् । केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ॥ १३७ ॥**

**केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः । केचित्क्लिन्नरग्भर्वविद्याधरमहोरगाः ॥ १३८ ॥**

हे ब्रह्मन्! कीचड़ (दल-दल) में फँसे हाथी के समान ही इस मन का उद्धार करो। जीव के आश्रित भाव ब्रह्म द्वारा लाखों; करोड़ों तथा असंख्य रूपों में कल्पित होकर पहले भी पैदा हो चुके हैं और आज भी पैदा हो रहे हैं तथा निर्झर से जलबिन्दुओं की उत्पत्ति के समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ प्रथम बार, कुछ सौ से अधिक बार, कुछ असंख्य बार जन्म धारण कर चुके हैं और किन्हीं के तो दो-तीन ही जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूप में उत्पन्न हैं। १३५-१३८ ॥

**केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः । केचिद्वाह्यणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥ १३९ ॥**

**केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः । केचित्कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः ॥ १४० ॥**

**केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः । केचित्क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः ॥ १४१ ॥**

कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्मरूप धारण किये हुए हैं। कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप में स्थित हैं। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पते के रूप में हैं। तो कोई जम्बीर (नीबू), कदम्ब, आम, ताड़ तथा तमाल पेड़ के रूप में हैं। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं। कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गत्रे के रस तथा जलराशि के रूप में स्थित हैं। १३९-१४१ ॥

**केचिद्विशालाः ककुभः केचित्त्रियो महारयाः । विहरन्त्युच्यकैः केचित्त्रिपतन्त्युत्पत्तिं च ॥ १४२ ॥**

**कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽर्घिरतं हताः । भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे ॥ १४३ ॥**

**पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्यापि विवेकताम् । दिक्षलाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तिः ॥ १४४ ॥**

**लीलयैव यदादत्ते दिक्षालकलितं वपुः । तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम् ॥ १४५ ॥**

**मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम् । कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात् ॥ १४६ ॥**

**आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम् । ततस्तद्यनतां यातं घनस्पन्दकमान्मनः ॥ १४७ ॥**

**भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम् । ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशान्ततः ॥ १४८ ॥**

कोई द्रुतवेग वाली नदियों के रूप में प्रवाहित हैं, तो कोई विस्तृत दिशाओं का रूप धारण किये हुए हैं।